धर्म प्रेमी बन्धुओ। यदि आप सरल उपायोंसे आध्यात्मिक ज्ञान, विज्ञान व शान्ति चाहते हैं तो अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी सहजानन्द जी महाराजके रचित ग्रन्थ व प्रवचन ग्रन्थका स्वाध्याय अवश्य कीजिये।

इन समस्त ग्रन्थोंका नाम वर्णी सेट है, जो अध्यात्म ग्रन्थ सेट, अध्यात्म प्रवचन सेट, विज्ञान सेट व ट्रैक्टसेट, इन चार सेटों में विभक्त हैं। ये ग्रन्थ जिसके पास न हों तो स्वाध्याय के अर्थ अवश्य मंगावें।

वर्णी सेट (समस्त ग्रन्थ अर्थात् चारों सेट) मँगाने पर २०) प्रतिशत कमीशन होगा। विभक्त सेटोंमें से एक दो या तीन सेट मँगाने पर १५) प्रतिशत कमीशन होगा।

अध्यात्म ग्रन्थ सेट :—

	रु०न०पै०
आत्मसम्बोधन सपरिशिष्ट	१-५०
सहजानन्द गीता	१-००
सहजानन्द गीता सतात्पर्य	२-००
तत्व रहस्य प्रथम भाग	१-००
अध्यात्म चर्चा	०-७५
अध्यात्म सहस्त्री	१-००
समयसार भाष्य पीठिका	०-३१
समयसार भाष्य पीठिका सार्थ	०-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५६	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५७	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५८	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५९	०-५०
सहजानंद डायरी सन् १९६०	०-५०
भागवत धर्म	२-००
समयसार दृष्टान्त मर्म	०-३७
अध्यात्म वृत्तावलि	०-२५
मनोहर पद्यावलि	०-३७
दृष्टि	०-२५
सुबोधपत्रावलि	०-६२
स्तोत्र पाठपुञ्ज	०-३७
अध्यात्मरत्नत्रयीसमूल	०-७५
Samayasar exposition (Purvarang)	०-३१
Samayasar exposition (Kartri karmadhikar)	०-३१
द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका	३-००
समाधिशतक सभावार्थ	०-३७

अध्यात्म प्रवचन सेट :—

	रु०न०पै०
धर्म प्रवचन	०-७५
सुख कहाँ	०-५०
अध्यात्म सूत्र प्रवचन उत्तरार्ध	२-५०
प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग	२-२५
,, ,, ,, द्वितीय भाग	२-७५
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-२५
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	२-००
,, ,, ,, पञ्चम भाग	१-७५
,, ,, ,, षष्ठ भाग	१-७५
,, ,, ,, सप्तम भाग	१-५०
,, ,, ,, अष्टम भाग	१-५०
,, ,, ,, नवम भाग	१-५०
,, ,, ,, दशम भाग	१-२५

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन अष्टम भाग

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

प्रबन्ध सम्पादक—
बाबूलाल जैन पाटनी केशियर स्टेट बैंक
प्रतिनिधि आगरा शाखा सहजानन्द शास्त्रमाला
प्रधान आत्मकीर्तन प्रचार मंडल,
तार गली मोती कटरा, आगरा।

प्रकाशक—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी सदर मेरठ (उ० प्र०)

१९६२

न्योछावर
१ रुपया ५० नये पैसे

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके

संरक्षक महानुभाव

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसादजी जैन बेङ्कर्स सदर मेरठ

अध्यक्ष, प्रधान ट्रस्टी एवं संरक्षक

(२) श्री सौ० फूलमालादेवी धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसादजी जैन बेङ्कर्स

सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक सदस्य महानुभावोंकी नामावलि :—

(१) श्री सेठ भँवरीलालजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द्रजी जैन रईस देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवतीदेवी जैन गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंहजी जैन मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाशजी जैन प्रेमपुरी मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्दजी जैन मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्दजी जैन रईस देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्दजी जैन मंसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलालजी जैन ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैनजी जैन जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडूसाहजी जैन सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनरायजी जैन नईमन्डी मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्दजी जैन देहरादून
(१५) ,, ला० जयकुमार वीरसेनजी जैन सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री दिगम्बर जैन समाज खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन तिस्सा

(१८) ,, बा० विशालचन्दजी जैन आं० मजिस्ट्रेट सहारनपुर
(१६) ,, बा० हरीचन्द ज्योतिप्रसादजी जैन ओवरसियर इटावा
(२०) ,, सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन संघी जयपुर
(२१) ,, श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालालजी जैन जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज गया
(२३) ,, सेठ सागरमलजी जैन पाण्ड्या गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलालजी जैन गिरिडीह
(२५) ,, बा० राबेलाल कालूरामजी मोदी गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथजी जैन नईमंडी मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्दजी जैन सर्राफ बड़ौत
(२८) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्दजी जैन गया
(२६) ,, सेठ जीतमल इन्द्रकुमारजी जैन छावड़ा झूमरीतिलैया
(३०) ,, सेठ गोकुलचन्द्र हरकचन्द्रजी जैन गोधा लालगोला
(३१) ,, बा० इन्द्रजीतजी जैन वकील स्वरूपनगर कानपुर
(३२) ,, बा० दीपचन्दजी जैन एग्जूक्यूटिव इन्जिनियर कानपुर
(३३) ,, सकल दिगम्बर जैन समाज नाईकी मन्डी आगरा
(३४) ,, मंत्री दिगम्बर जैनसमाज तारकी गली मोती कटरा आगरा
(३५) ,, संचालिका दिगम्बर जैन महिलामंडल नमककी मंडी आगरा
(३६) ,, मंत्री दिगम्बर जैन जैसवाल समाज छीपीटोला आगरा
* (३७) ,, सेठ शीतलप्रसादजी जैन सदर मेरठ
* (३८) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्दजी जैन बड़जात्या जयपुर
* (३६) ,, बा० दयारामजी जैन R. S. D. O. सदर मेरठ
* (४०) ,, ला० मुन्नालाल यादवरायजी जैन सदर मेरठ
* (४१) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमारजी जैन सहारनपुर
* (४२) ,, सेठ छदामीलालजी जैन रईस फिरोजाबाद
* (४३) ,, ला० नेमिचन्दजी जैन रुड़की प्रेस रुड़की
ऽ (४४) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपालजी जैन शिमला
ऽ (४५) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलालजी जैन शिमला

नोट—जिन नामोंके पहिले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आगये हैं शेष आने हैं तथा जिनके पहिले ऽ ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आमुख

भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका एक स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र स्वतन्त्र विचार-धारा है और प्रत्यक्ष एवं परोक्षात्मक विश्व-प्रपंचके निरूपणकी उत्पत्ति स्वतन्त्र प्रणाली है। जैन शब्द जिन शब्दसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है अपने आत्म-स्वातन्त्र्य लाभके लिए जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाला। और जयति कर्मशत्रून् इति जिनः इस व्युत्पत्तिके आधारपर जो कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करता है, वह 'जिन' कहलाता है। इस प्रकार जैनदर्शनका अर्थ होता है, आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तथोक्त जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाले व्यक्तिकी विश्व प्रपंचके सम्बन्धमें सुचिन्तक दृष्टि।

जैनदर्शनकी मान्यता है कि यह दृश्यमान एवं परोक्षसत्तात्मक विश्व, चेतन और जड़-दो प्रकारके तत्वोंका पिण्ड है व अनादि है, अनन्त है। दूसरे शब्दोंमे यह लोक-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंका पिण्ड है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्तिसम्पन्न है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायोंका स्वामी है और प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनका अर्थ है उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना। प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय छोड़कर उत्तरवर्ती पर्याय स्वीकार करता है, फिर भी वह अपनी स्वाभाविक धाराओंको नहीं छोड़ता है। द्रव्यका यही प्रतिक्षणवर्ती उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व है। इनमे से धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इन द्रव्योंमें सदैव सदृश परिणमन ही होता है। इसका अर्थ है कि इनमें प्रति समय परिवर्तन होनेपर भी ये द्रव्य स्वरूपसे सदैव एकसे ही बने रहते है, उनके स्वरूपमें तनिक भी विकृति नही आने पाती है। परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्योंका यह हाल नही है। उनमें सदृश और विसदृश-अथवा शुद्ध और अशुद्ध दोनो प्रकारके परिणमन होते हैं।

जिस समय रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुणात्मक पुद्गल-परमाणु अपनी विशुद्ध परमाणुदशामें परिणमन करते हैं, तब यह इनका सदृश अर्थात् शुद्ध परिणमन कहा जाता है और जब दो या दो से अधिक परमाणु स्कन्ध-दशामें परिणत होते हैं तब यह इनका विसदृश अर्थात् अशुद्ध परिणमन कहा जाता है।

ठीक ऐसी ही परिणमन-प्रक्रिया जीव द्रव्यकी है। इसका कारण यह है कि जीव और पुद्गल द्रव्यमें विभाव परिणमन करनेकी शक्ति है। सो इस वैभाविक शक्तिके कारण।

जीव जब तक संसारमें है और कर्म-बन्धनसे आबद्ध है, तब तक यह भी वैभाविक अर्थात् अशुद्ध परिणमन करता है, परपदार्थोंको अपनाता है और उनमें इष्टानिष्ट कल्पना करता है, अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूपको छोड़कर स्वयंको अन्य अनात्मीय भावोंका कर्ता मानता है और आत्मज्ञानसे इतर अनात्मीय भावोंमें ही तन्मय रहता है। परन्तु ज्यों ही इसे आत्मस्वरूपका बोध होता है, वह परवस्तुओंसे अपनी ममत्वपरिणति दूर कर लेता है और कर्म बन्धनसे निर्मुक्त होकर विशुद्ध आत्म-चैतन्यमें रमण करने लगता है। जीवकी संसारदशाका प्रथम परिणमन वैभाविक एवं अशुद्ध परिणमन है और मुक्तदशाका द्वितीय परिणमन पूर्णतया आत्माश्रित होनेके कारण स्वाभाविक एवं शुद्ध परिणमन है।

अतः जैन दर्शन, जिनदर्शन अर्थात् आत्मदर्शनका ही रूपान्तर है, अतः उसमें आत्माकी दशाओंका, उनकी बद्ध और अशुद्ध स्थिति या और उसके कारणोंका बहुत विशद एवं विधिवत् विश्लेषण हुआ है। जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार कर स्वावलम्बिनी वृत्तिको प्रश्रय देता है।

जैनदर्शनमें आत्माको ही उसकी स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिणतिका कर्ता माना गया है और अपनी विशुद्ध स्वाभाविक दशामें यह आत्मा ही स्वयं परमात्मा हो जाता है। संक्षेपमें जैनदर्शनके अध्यात्मवादका यही रहस्य है।

जैन अध्यात्म-साधनाका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, अनादि है, तथापि युगके अनुसार भगवान ऋषभदेवने अपने व्यक्तिजीवनमें इसके आदर्शोंकी अवतारणा की और पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न-आत्मस्वातन्त्र्यका लाभ किया। तीर्थंकर अजितनाथसे लेकर महा-वीर पर्यन्त शेष तीर्थंकरोंने भी इसी अध्यात्म-साधनाको स्वयं अपनी जीवन-सिद्धिका लक्ष्य बनाया और आत्मलाभकी दृष्टिसे अन्य प्राणियोंको भी मार्ग-दर्शन किया। इसी समयमें श्री भरतजी, बाहुबलिजी, रामचन्द्रजी, हनुमानजी आदि अनेकों पूज्य पुराण पुरुषोंने इसी ज्ञानात्मक उपायसे ब्रह्मलाभ किया और अनेकों भव्यात्माओंको मार्ग दर्शन दिया।

भगवान् महावीरके बाद भी यह जैन अध्यात्म-धारा प्रवाहित होती रही और आज भी हम उसके लघुरूपके दर्शन उसके कतिपय साधनोंमें एवं विशालरूपके दर्शन उस परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें कर सकते हैं।

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें आचार्यश्री कुन्दकुन्दका स्थान सर्वोपरि है। जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मके यह असामान्य विद्वान् थे। यद्यपि इनकादीक्षकालीन नाम पद्मनन्दि था, तथापि कौण्डकुन्दपुरके अधिवासी होनेके कारण ये कौण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ही अधिक विख्यात रहे और इसी नामपर इनकी वंश-परम्परा कुन्दकुन्दान्वयके रूपमें स्थापित हुई। शास्त्रवाचन आरम्भ करनेके पूर्व प्रत्येक पाठक मङ्गलाचरणके रूपमें पढ़ता है :—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

अर्थात् भगवान् महावीर मङ्गलमय है। गौतम गणधर मङ्गलमय है, आर कुन्दकुदाचार्य मङ्गलमय है और जैनधर्म मङ्गलमय है।

इससे सहज ही मालूम हो जाता है कि जैन वाङ्मय और उसके उपासकोंमें आचार्य कुन्द-कुन्दका कितना गौरवपूर्ण स्थान है।

जैनपरम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुडग्रन्थोंके कर्ताके रूपमें सुप्रसिद्ध हैं; परन्तु इनके उपलब्ध २२,२३ ग्रन्थ ही इनके अगाध पाण्डित्य और तलस्पर्शी तत्त्व ज्ञानके परिचायक है इसमें भी प्रवचनसार, समयसार नियमसार तथा पंचास्तिकाय इन चार ग्रन्थोका मुख्य स्थान है। इस ग्रन्थचतुष्टयामें जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मका बहुत सूक्ष्म, स्पष्ट और वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्दका प्रवचनसार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, ज्ञेय और चरित्ररूप द्वारा सम्बद्ध विषयोंका अत्यन्त सारगभित विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थपर अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध है। अनेक विद्वानोंने उनका हिन्दी सार देकर प्रवचनसारके महत्त्वपूर्ण संस्करण भी प्रकाशित किये हैं।

परन्तु श्रद्धेय श्री १०५ क्षु० श्री सहजानन्द जी महाराज (श्री मनोहर जी वर्णी सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ) ने समय समयपर ग्रन्थराज प्रवचनसारपर दिये गये जिन प्रवचनों द्वारा तन्मयताके साथ अन्य श्रोताओंको दुर्लभ अध्यात्मरसका पान

कराया, उन प्रवचनोंका और उन्हींको लेकर गुम्फित किये गये इस ग्रन्थरत्नका आध्यात्मिक वाङ्मयमें निःसन्देह बहुत बड़ा महत्त्व है और जब तक यह ग्रन्थरत्न विद्यमान रहेगा। इसका यह महत्त्व बराबर अक्षुण्ण रहेगा।

श्रद्धेय क्षुल्लक वर्णी जी महाराजने आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र जी की अध्यात्मदेशनाको आत्मसात् करके जिस सरलता और सादगीके साथ जैन अध्यात्म जैसे गंभीर एवं दार्शनिक विषयोंको इन प्रवचनोंमें उड़ेला है उनका यह पुण्य-कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनुपम है।

आशा है, अध्यात्म प्रेमी समाज इस ग्रन्थका रुचिपूर्वक स्वाध्याय करेगा और अपनी दृष्टिको विशुद्ध और सम्यक् बनाकर पूर्ण आत्मस्वातन्त्र्यके पथका अनुगामी बनेगा।

राजकुमार जैन
एम. ए. पी. एच. डी
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
आगरा कालेज

आगरा

२१-१०-१९६३

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री वर्णीजी महाराज द्वारा रचित

आत्म-कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्धसमान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ।।५।।

[धर्म प्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नाकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियोमें भारतमें अनेकों स्थानोंपर पाठ किया जाता है आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे १ घन्टा पहिले परिवारमें एकत्र एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी विपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्ध छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

प्रवचनसारप्रवचन अष्टम भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

गत नौ गाथाओं का संक्षिप्तसार—मैं देह नहीं हूँ क्योंकि देह पुद्गल पिंडकी समुदायात्मक चीज है। तब ये देह बन कैसे जाते हैं इनको नौ गाथाओंमें सब विधिवत् दर्शाया है कि मूलमें तो सब एक एक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र परमाणु हैं, उन परमाणुओंमें सूक्ष्मता और स्निग्धता जब बन्धनकी योग्य डिग्रियोंमें होती हैं तब उनका परस्पर बंधन होता है और बन्धन होते हुए आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, तैजस वर्गणा, और कार्माण वर्गणा आदि अनेक प्रकारके रूप हो जाते हैं। इन विभिन्न वर्गणाओंको जीव ५ वर्गणाओं रूपसे ग्रहण करता है। ऐसा व्यावहारिक सम्बन्ध बने तब आहार वर्गणाओंके स्कन्ध जीवोंके सन्निधानसे विचित्र संस्थानोंको लेकर पृथ्वी, जल और तेज अग्नि रूपमें स्वयं अपने परिणामों से उत्पन्न हो जाते हैं। दर्शनशास्त्रकी पद्धतिसे वनस्पति काय और त्रस काय पृथ्वीकायमें शामिल किये गये हैं। वैसे आगममें ६ काय, पृथ्वी काय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय हैं। जो पिंडरूप पदार्थ हैं वे सब पदार्थ व त्रसकाय व वनस्पतिकाय, ये तो पृथ्वी हुए और जलकाय अग्निकाय व वायुकाय ये अलग हैं ही। इसी आधारपर भूतचतुष्टय कहा जाता है। तो ये सब परिणमन अपने ही परिणामोंसे हो जाते हैं। तब फिर बतलाओ कि इनका कर्त्ता जीव अथवा अन्य कैसे हुआ ? जीवसे सम्बन्धित शरीर और कर्म इन वर्गणाओं को यह जीव कहीं बाहरसे खींच कर नहीं लाता किन्तु जहाँ यह जीव है उस जीवके ही साथ विश्रसोपचय रूपमें अनेक परमाणु तो आहार वर्गणाओंके और अनेक परमाणुस्कंध कार्माण वर्गणाओंके विद्यमान हैं। इनको कहीं बाहरसे

नहीं लाना पड़ता है। हो क्या जाता? कि विभावोंका निमित्त पाकर ये कार्माणस्कन्ध स्वयं कर्मरूप हो जाते हैं। तथा तैजस और कार्माण शरीरके स्कंध योग्य संयोग पाकर स्थूल शरीर के हेतु बन जाते है।

जीव का स्वलक्षण—भैया! ये सब बने हुए दृश्यमान ढाँचे भिन्न हैं, पौद्‌गलिक हैं, इनसे मेरा वास्ता नहीं है। फंदमें तो पड़ गया हूँ पर उससे मेरा सरोकार नहीं है। इन सब बातोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि शरीर जीव नहीं है। जब शरीर भी जीव नहीं, मन भी जीव नहीं, वचन भी जीव नहीं, तब फिर जीव क्या है? और जीवका वह असाधारण स्वलक्षण क्या है जो कि जीव ही में तो पाया जाय और शरीर आदिक समस्त पर द्रव्योंमें न पाया जाय। ऐसे एकत्वविभक्तस्वरूप जीवके स्वलक्षणका परम तपस्वी आध्यात्मिक संत श्री अमृतचंद्राचार्य अनुपम शैलीसे आवेदन करते हैं।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१७२॥

जीवको इस प्रकारसे जानो कि यह जीव रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, शब्दरहित है किन्तु चेतनागुणमय है। उसका संस्थान कोई निर्धारित नहीं किया जा सकता, और किन्हीं भी लोगोंके द्वारा यह ग्रहणमें नहीं आ सकता। यह आत्मा तो स्वसंवेदनसे ही गम्य है। इस गाथामें इस स्पष्ट अर्थका कितने ही प्रकारसे पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरीने विवेचना की है।

विकारमें द्रव्य स्वभावके विनाशकी अशक्ति—आत्माका रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणोंके अभावका स्वभाव है। आत्माका स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श तो होते ही नहीं है। स्वभावके विपरीत बातें यदि आ जाय तो वस्तु मिट जायगी, क्योंकि वस्तु तो स्वभाव मात्र होती है। स्वभावमात्र वस्तुमें कभी विकार भी है तो भी विकार स्वभावको नष्ट करके अट्ट-सट्ट प्रकारसे व्याप्त नहीं हो सकता। जीव और पुद्‌गलमें विकार होते हैं इसका अर्थ यह न हो जायगा कि जीव विकारके कारण किसी रूप आदिकमें परिणम जाय। और पुद्‌गल कभी राग द्वेष, सुख दुःख रूप परिणम जाय, ऐसा स्वभावोंका लंघन नहीं होता है कारण आत्मामें रूप, रस, गंध, स्पर्शके अभावका स्वभाव ही है और स्पर्शादि गुणोंके व्यक्तियोंके अभावका भी स्वभाव है। अर्थात् उसमें स्पर्श गुण भी

नहीं होता और शब्द पर्यायके अभावका भी स्वभाव है। यहाँ स्पर्श गुणके अभावको सीधा स्पर्शरहित नहीं कहा, किन्तु अव्यक्त शब्दसे कहा और अव्यक्तका अर्थ करते हुए सूरीजीने स्पर्श गुणकी व्यक्तिके अभावका स्वभाव कहा है। अर्थात् इसका सीधा अर्थ तो यह है कि स्पर्श भी नहीं है। इस आत्माका स्पर्श यदि हो सकता है तो ज्ञानोपयोगके द्वारा, स्वयं का उपयोगात्मक रूपसे उपयोगात्मक स्पर्श होता है, किन्तु पुद्गलमें जैसे स्पर्श गुण अलग है व उसकी व्यक्तियाँ रूक्ष स्निग्ध रूपसे होती हैं, यह कुछ भी आत्मामें नहीं होता है आत्मामें शब्द पर्यायका भी अभाव है। शब्द नामक कोई गुण नहीं है किन्तु भाषावर्गणा जातिके जो पुद्गल स्कंध हैं उनका अभाव यहाँ बताया है।

आत्माकी अलिङ्गग्रहणता—आत्मा मूलसे अलिङ्गग्राह्य है अर्थात् किन्हीं चिन्हींके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता। इस आत्माको कोई ग्रहण नहीं कर रहा, कोई दूसरा नहीं जान रहा क्योंकि जाननेवाले लोग इन्द्रियोंके द्वारा जानते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा उन्हें जो ज्ञात होता है वह पुद्गलात्मक पदार्थ ज्ञात होता है। सो वह यह मैं आत्मा हूँ नहीं। तब जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं व निन्दा करते हैं वे वास्तममें मेरी प्रशंसा व निन्दा नहीं करते हैं। मैं तो अपने असाधारण ज्ञानस्वभावमात्र आत्मतत्त्व को जान लूँ, उसको ही अपनालूँ तो ये व्यर्थके भ्रमपर टिकनेवाले सारे संकट मेरे समाप्त हो जायें। हम अपने परमार्थभूत स्वरूपको ज्ञानोपयोगसे नहीं स्पर्शते हैं और इस कारण मेरी करतूत से, मेरी ही कलासे मेरे में संकट छा जाते हैं। तो जो संकट मेरी करतूतसे होते हैं उन संकटोंको मेरी करतूत ही समाप्त कर सकती है। मैं अलिङ्गग्राह्य हूँ और मुझमें सर्व प्रकारके संस्थानोंके अभावका स्वभाव है। इन सब बातोंका विवरण आगे ही इस टीकामें किया जायगा इस कारण इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ नहीं कहना है।

चैतन्य आत्माका असाधारण गुण—इन सब विशेषताओंके बावजूद भी इस आत्मामें एक ऐसा असाधारण गुण है, जो पुद्गल द्रव्यसे विभाग करा देनेमें साधनभूत है। रसरहितपना, रूपरहितपना, गंधरहितपना, अव्यक्तपना, शब्दरहितपना, अलिङ्गग्राह्यता और संस्थानरहिता, इतनी बातें आत्माके अन्दर व्याप्त होते भी इन सब बातों से अभी यह विभाग नहीं होता कि यह जीव है और सबसे न्यारा है तो समस्त पुद्गलोंसे और धर्मादिक द्रव्योंसे जीवोंको अलग छांटना है। जिसके द्वारा छांट सकते हैं,

वह गुण है चेतना। सो आत्मामें चैतन्य गुण भी है। यही चेतना गुण चूंकि यह निज जीव द्रव्यके आश्रयसे रहता है सो अपने लक्षणपनेको धारण करता है व शेष समस्त परद्रव्योंके विभागको सिद्ध करता है। यह इस गाथा का अर्थ हुआ। इन सब विशेषणोंमें आत्माका अलिङ्गग्रहणपना सूरीजी ने बड़े ही अनोखे ढंगसे वर्णित किया है। अलिङ्गग्रहणके कितने अर्थ हैं ? और उन अर्थोंसे आत्माको किस-किस रूपसे देखा गया है ? ये बातें सब पृथक्-पृथक् स्पष्ट प्रतिपादित होंगी।

अलिंगग्रहण का पहिला अर्थः—(१) इसका पहिला अर्थ है कि लिङ्गोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्राहकताको प्राप्त होजाय, उसका ग्रहण हो जाय, ऐसा स्वरूप आत्माका नहीं है। याने वह इन्द्रियोंके द्वारा ग्राहक नहीं हो सकता है। इस युक्तिसे यह सिद्ध हुआ कि यह जीव अतीन्द्रियज्ञानमय है। अतीन्द्रियज्ञानमय होनेके कारण यह बात सिद्ध है कि किसी भी इन्द्रियके द्वारा यह जीव ग्राहक नहीं ? अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा जाननेवाला नहीं है ? यानी अतीन्द्रियज्ञानमय है ऐसा सिद्ध किया है। पहिले अर्थ में यह बताया है कि जीव, इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान करने वाला नहीं है।

अलिङ्गग्रहण का दूसरा अर्थ :—(२) दूसरा अर्थ है कि इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्यताको प्राप्त होते हुएका ग्रहण जिसके नहीं है ऐसा यह अन्तस्तत्त्वमय जीव है अर्थात् यह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। पहिले अर्थमें यह बताया है कि यह जीव इन्द्रियोंके द्वारा ग्राहक नहीं है। अब यह बतलाते हैं कि इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है अर्थात् इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय नहीं है। यह आत्मतत्त्व अनुपम विलक्षण स्वरूप है, अमूर्त है, वह जो जाना करता है सो अपने ही ज्ञान साधन से जाना करता, इन्द्रियोंके द्वारा कुछ नहीं जानता। यह जीव प्रकाश-आदिक अनेकों कारणोंके होनेपर जानता है पर प्रकाश आदिके द्वारा नहीं जानता है। इसी प्रकार इन्द्रियोंके प्रवर्तन होनेपर यह जीव जानता है पर इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जानता है। अपने ज्ञान परिणमनके द्वारा ही जानता है। बाह्य साधनों में और इन इन्द्रियोंमें अन्तर तो है मगर जैसे बाह्य साधन, साधनमात्र है, इसी प्रकार यह अन्तरंग साधन ज्ञानके अंतरंग साधन मात्र है, ज्ञानोत्पादक नहीं है। यह जीव इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जानता है किन्तु अपने ज्ञानके द्वारा जानता है। और न यह जीव इन्द्रियों द्वारा ग्रहणमें आता है किन्तु अपने ज्ञानके द्वारा ही ग्रहणमें आता है। इस प्रकरणमें अलिङ्गग्रहण शब्दके अनेक प्रकारके शाब्दिक अर्थ किए हैं। यहां सूरीजी महाराज समन्तभद्राचार्य

की पद्धति जैसी पद्धतिमें आकर शब्दछटामें आगये हैं और उन छटाओंके साथ-साथ कितने ही प्रकारका अर्थ द्योतित कर रहे हैं।

अलिङ्गग्रहण का तीसरा अर्थ—धन्य है उनकी ज्ञानकी प्रखरता। वे तीसरे अर्थमें कहते हैं कि इन्द्रियगम्य साधनसे जिसका ग्रहण नहीं है ऐसा यह अन्तस्तत्त्व जीव है। जैसे पर्वतमें धुवां देखकर लोग न देखी हुई अग्नि का अनुमान कर लेते हैं कि इस पर्वतमें अग्नि धुवेंके होने से होना चाहिए, तो धूवेंका तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा विषय हो गया और उस इन्द्रियगम्य साधनके द्वारा, जो इन्द्रियगम्य नहीं है ऐसी अग्निके ज्ञानका अनुमान भी किया जा सका किन्तु ऐसा इस आत्माके बारेमें श्रम नहीं हो सकता कि विश्वमें कोई इन्द्रियगम्य ऐसी वस्तु मिल जाय जिसके चिन्ह द्वारा इन्द्रियगम्यतासे रहित इन्द्रिय-अगम्यको ग्रहण कर लिया जाय। सो इन्द्रिय-गम्य लिङ्गसे जिसका ग्रहण नहीं होता है ऐसा यह आत्मतत्त्व है। इससे यह सिद्ध है कि यह जीव इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है। हां, ऐसे चिन्होंके द्वारा जो ज्ञान गम्य नहीं हो सकते, आत्मा का अनुमान किया जाता है। ऐसा नहीं है कि आत्मा अनुमानका विषय न हो किन्तु इन्द्रिय प्रत्यक्षके विषयभूत चिन्हके द्वारा आत्माका अनुमान नहीं हो सकता। इस प्रकार यहां तक तीन अर्थ हुए।

अलिङ्गग्रहण का चौथा अर्थ:—चौथा अर्थ करते हैं कि लिंगसे ही दूसरों के द्वारा जिसका ग्रहण नहीं है। ऐसा यह अन्तस्तत्त्व जीव है। अर्थात् ज्ञानगम्य चिन्होंके द्वारा आत्माका अनुमान तो होता है पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह केवल अनुमेय मात्र ही है। अथवा इसका अन्य प्रमाण के द्वारा ग्रहण नहीं हैं ऐसी बात नहीं है केवल अनुमेयमात्र नहीं है किन्तु अन्य प्रमाणों द्वारा भी गम्य है। भैया, इतनी बातें केवल तीन शब्दों के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में ध्वनित हो रही हैं। केवल हेतुके द्वारा ही यह ग्राह्य हो सो नहीं है, किन्तु यह आत्मतत्त्व अनेक प्रमाणोंका विषयभूत है।

अनुभव द्वारा ही आत्माका यथार्थ परिचय:—अथवा इसकी दूसरी ध्वनि निकलती है कि भैया! ज्ञानगम्य साहजिक चिन्होंके द्वारा भी भगवान आत्माका साक्षात् ग्रहण नहीं होता। क्योंकि जब तक ज्ञानगम्य चिन्हसे भी अर्थात् चेतना या ज्ञान दर्शन आदि गुणके द्वारा भी आत्माका ज्ञान करेंगे तब तक भेद पद्धति ही रहेगी और भेद पद्धतिमें ज्ञानका अथवा आत्माका अनुभव नहीं हुआ करता। उस समय भी आत्माको हम जिस किसी प्रकारसे

ज्ञान जो रहे हैं वह अनुभवगम्य सहज स्वरूप आत्मतत्त्व नहीं है। जैसे मिश्रीका स्वाद कितनी ही युक्तियोंसे बातोंसे अनुभूत नहीं हो सकता इसी प्रकार आत्माके ज्ञानका आनन्द किन्हीं युक्तियोंसे, चिन्होंसे, साधनोंसे, अनुभवमें नहीं आता इसलिए वह अनुमेय मात्र नहीं है। आत्मा तो जब यथार्थ ज्ञात होता है, स्वसम्वेदन ज्ञान ही करि ज्ञात होता है। स्वसम्वेदन हुऐ विना जो कुछ ज्ञात होता है वह सही रूपमें ज्ञात नहीं होता है।

अनुभवकी विशदताका एक दृष्टान्त :—जैसे जिन लोगोंने श्रीभगवान बाहुबलि स्वामीकी श्रवणबेलगोलमें विराजमान मूर्तिका जो कि संसारमें आजकी परिचित दुनियांमें सारी दुनियां का आठवां आश्चर्य है, जिसने दर्शन नहीं किया वह भी मूर्तिके बारेमें बहुत कुछ जानता है। चित्रोंसे जानता है और उनके ही सदृश बहुत सी मूर्तियां जो दर्शनको प्राप्त हैं उनसे जानता है। यों बहुत सी जानकारी हमें मिल गयी फिर भी श्रवणबेलगोल पहुँचकर साक्षात् दर्शन करनेपर जो उन भगवानका ज्ञान होता है क्या उस तरहका ज्ञान यहां हो पाता है ? यह एक व्यावहारिक उदाहरण दिया है।

स्वानुभवसे ही स्वका दर्शन :—इस प्रकरणमें यह बात समझनेकी है कि इस सहज स्वतः सिद्ध ज्ञानस्वभावमय आत्मत्वका ज्ञान किसी चिन्हके द्वारा वास्तवमें नहीं होता किन्तु एक स्वानुभवसे ही यह जाना जाता है कि वास्तव में वह आत्मतत्त्व क्या है। स्वानुभव विना यह आत्मतत्त्व पहिचाना नहीं जा सकता है। कोई यहाँ यह कहे कि पहिचाने बिना स्वानुभव नहीं होता और स्वानुभव विना पहिचाना नहीं जा सकता तो बात कैसे निपटे ? यह तो इतरेतराश्रय दोषसे दूषित हो गया। जैसे किसी बाक्सका ऐसा ताला हो जो बिना चावीके लगता हो, चावीको बाक्समें ही छोड़ कर पीछे लगा दिया ताला, तो भाई ताला खुले तब तो चावी निकले और जब चावी निकले तब ताला खुले। तो जैसी असमंजसता वहाँ हो जाती है, ऐसीही असमंजसता आत्मानुभवकी हो जाती है कि जब आत्माको पहिचान लिया जाय तब तो आत्माका अनुभव होगा। और जब आत्माका अनुभव हो ले तब आत्माकी पहिचान होगी। सो भाई ऐसी असमंजसता इस आत्माके अनुभवमें नहीं है। किसीने ऐसी अनुभूति, आत्माका परिचय अब तक नहीं किया हो, ठीक है लेकिन थोड़ी बहुत भेदविज्ञानकी बात तो है। सब पदार्थों से मैं भिन्न हूँ, किसी पदार्थसे मेरेमें कोई परिणमन नहीं आता व, मेरे लिए सर्व अहित हैं, यों व इसी प्रकारसे किसीको कुछ छुटपुट भेदविज्ञान हो जाय और उस

आधारपर वह ऐसा दृढ़ संकल्प बना कर काम करने लगे कि जब पर पदार्थों से मेरा कुछ वास्ता नहीं है तो मैं किसी भी पर पदार्थको क्यों अपने उपयोग में लू ? ऐसा वह असहयोग करदे, पर पदार्थों का असहयोग करदे, किसी सहज दर्शनके प्रयोजनके लिए अथवा सत्य मैं क्या हूँ, यथार्थ मैं क्या हूँ, इसके अनुभवके लिए सत्याग्रह कर दे तो जिसको अभी आत्मानुभूति नहीं हुई है ऐसे पुरुषको भी इसी पद्धतिके द्वारा आत्मानुभवकी बाते मिल सकती है अर्थात् आत्मानुभव हो सकता है।

आत्मानुभवसे ही सत्य प्रकाश—भैया, आत्मानुभव होनेपर ही इस जीवका का पूरा नेत्र खुलता है कि इस जगतमें मेरे को करने योग्य काम क्या हैं ? मुझे क्या करना चाहिए ? क्या मेरा सन्मार्ग है ? उसे यह स्पष्ट हो जाता है। संसारमें सब चीजें सुलभ हैं। धन मिले, कंचन मिले, प्रतिष्ठा मिले, सब कुछ जीवको साधन मिले पर एक आत्मानुभव पाये बिना यह जीव भिखारी ही बना रहा। जैसे भिखारी लोग धनिकोंसे कुछ पानेकी इच्छा रखते हैं तो वे भिखारी कहलाते हैं, इसी प्रकार जो जीव किसी भी बाह्य पदार्थसे अपने हितकी, अपने तरक्कीकी आशा रखता है तो वह प्राणी किसी भिखारीसे कम नहीं है। फर्क इतना रहेगा कि ये भिखारी चेतन पदार्थोंसे ही आशा करते हैं किन्तु ये मोही भिखारी चेतन और अचेतन सभी पदार्थों से हितकी उन्नतिकी आशा लगाये हुए भीख मांगते हैं।

मिथ्यादृष्टिका अविवेक—भैया, एक कहावत है जिसकी अन्तिम पंक्ति है, कामी गिनै न जाति कुजाति। मतलब यह है कि यह मोही प्राणी इतना भिखारी है कि यह न चेतन गिनता न अचेतन, जैसे कि कामी पुरुष न जाति गिनता न कुजाति गिनता, सब पदार्थों से अपने आनन्दकी आशा बनाए हुए है यह। अहो आत्मानुभूति, जयवन्त हो जिसके प्रतापसे अनन्तकालसे लगे हुए सारे संकट टल सकते हैं। वह सत्संग जयवंत होओ जिसमें रहकर आत्मानुभूति में प्रेरणा मिलती है। जिसमें रहकर सत्मार्गमें चलनेका उत्साह जागता है, वह सत्संग जयवंत हो। वह देवभक्ति जयवंत हो, जिस देवभक्तिके मार्गसे गुजर कर हम आत्मकल्याणका उत्साह बना सकते हैं और यथाशक्ति आत्मानुभूतिके मार्गमें लग सकते हैं। आत्मानुभूति ही सर्वश्रेष्ठ हमारे कल्याण का साधन है। इसके अर्थ ज्ञानके स्वरूपका मनन करना चाहिये।

अलिङ्गग्रहणके पूर्वोक्त चार अर्थोंका संक्षेप—यहां प्रकरण चल रहा है कि आत्मा अलिङ्गग्रहण है। इस अलिङ्गग्रहणके बीस अर्थ हैं। इसके चार अर्थ

तो पहले बताये जा चुके हैं। अलिङ्गग्रहणमें तीन शब्द हैं—अ-लिङ्ग और ग्रहण। इन्द्रियोंके द्वारा आत्मा ग्राहक नहीं है अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा आत्मा, पदार्थका ज्ञान करनेवाला नहीं है। इससे वह अतीन्द्रिय ज्ञानमय है। दूसरा अर्थ है कि इन्द्रियोंके द्वारा यह आत्मा ग्रहणमें नहीं आता, समझमें नहीं आता। इसी कारण यह इन्द्रिय प्रत्यक्षका विषय नहीं है। तीसरा अर्थ है कि किसी भी हेतुके द्वारा गम्य चिह्नसे आत्माकी पहिचान नहीं होती। इसलिए आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है। चौथे अर्थमें कहा है कि लिङ्गके द्वारा ही दूसरोंके द्वारा इसका ग्रहण नहीं है इसलिए यह आत्मा अनुमेय मात्र नहीं है, स्पष्ट जाननेमें आ सकता है।

अलिङ्गग्रहण का पांचवा अर्थ :—(५) आज ५वां अर्थ चल रहा है कि लिङ्ग से ही दूसरोंका ग्रहण जिसके नहीं है ऐसा यह अन्तस्तत्त्व जीव है। अर्थात् साधनोंके द्वारा ही वह आत्मा दूसरी आत्माओंको जाने, इतना ही नहीं है, युक्तिसे भी जानता, कुछ अपनी समानताकी बात सोचकर भी जानता इसलिए यह अनुमेय मात्र नहीं है। ऐसा अनुमान भी दूसरोंके जीवत्वका जानन करने वाला है और अपनी सदृशताके भावको पहिचानने वाला है। सो यह जीव सादृश्य प्रत्यभिज्ञान द्वारा भी दूसरोंको जानता है अन्य प्रमाणों द्वारा भी जानता है इसलिए केवल अनुमाता मात्र नहीं।

अलिङ्गग्रहण का छटवां अर्थ :—छटवां अर्थ है जो एक बड़ी विकट समस्या रखने वाला भी हो सकता है। लिखा है कि लिङ्गसे अर्थात् स्वभावके द्वारा जिसका ग्रहण नहीं है। इसलिए यह आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। स्वभावके द्वारा जिसका ग्रहण नहीं है उस कारण यह आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। कितनी अटपटी बातें सुननेमें लग रही हैं कि स्वभावसे आत्माका ग्रहण नहीं है सो आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता बन बैठा। भैया, अटपटी बात न समझो इसमें यह झलक आ रही है कि स्वभाव ही ग्रहण करने लगे अपने आपको तो ग्रहण करनेकी वृत्ति वृद्धि हानिके बिना नहीं होती, उत्पादव्ययके बिना नहीं होती, परिणमनके बिना नहीं होती; सो स्वभाव ही ग्रहण करने लगे तो बस काम खतम हो चुका; अब व्यावहारिकता नहीं आ पायगी, उत्पाद व्यय न आ सकेगा, परिणमन न आ सकेगा। इसलिए आत्माका ग्रहण स्वभावके द्वारा नहीं होता। स्वभाव तो स्वभावमात्र है वह ध्रुव है, वह ग्रहण करनेका काम नहीं करता। इसमें जो ग्रहण की तरंग होती है वह उत्पाद व्यय ही है और उस ग्रहण स्वभावमें जो उसका ग्रहणरूप

परिणमन है उसे ज्ञातृत्व कहते हैं, स्वभाव नहीं कहते हैं। ज्ञान होता है उत्पाद व्ययकी अपेक्षा और स्वभाव होता है ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा इस व्याख्यासे कूटस्थ नित्य अपरिणामी आत्मतत्त्वका निषेध किया है। यह कूटस्थ नित्य नहीं है, इससे वृत्ति चलती है। देखो अलिङ्गग्रहण शब्दका कितने प्रकारसे पूज्यपाद अमृत चन्द्र सूरी महाराजने तत्त्व निकाला है। उनकी अनुपम प्रतिभाकी ही यह आभा समझिये।

इस छठवें अर्थमें यह ध्वनित हुआ कि आत्मा ज्ञान स्वभावमय है। उस ज्ञान स्वभावका परिणमन, तरंग चलती है। उस परिणमनके कारण यह आत्म ज्ञाता है। यहां ज्ञातृत्वमें तो आता है उत्पाद व्ययका सम्बन्ध और ज्ञायक स्वभावसे समझमें आता है ध्रौव्य। यदि आत्मा स्वभावसे ही अपने आपके ग्रहणमें आये तो इससे यह अर्थ निकलेगा कि ज्ञाता नहीं रह सकता। जैसे कि स्वभावैकान्तवादमें कहा है कि चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है, ज्ञान नहीं है। जब उस पुरुषमें ज्ञानका समवाय होता है। तब वह जानता है और जब वहाँ ज्ञानका वियोग हो जाता है तो वहाँसे ज्ञान हट जाता है, खतम हो जाता है, केवल चैतन्य स्वरूप रह जाता है, इसीका नाम मोक्ष है तो केवल चैतन्य स्वरूप रह जाता है,मुक्तिमें ऐसा तो नहीं है। मुक्तिमें तो वह तीन लोक तीन कालकी पर्यायोंको सब पदार्थोंको एक साथ जानता रहता है। यह स्पष्ट जानते रहना ही प्रत्यक्ष ज्ञातृत्व कहलाता है। ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व नहीं हो तो चैतन्यका स्वरूप ही क्या ? तो प्रत्यक्ष ज्ञातृपना आत्माके अन्दर है। यह छठवें अलिङ्गग्रहणके अर्थमें है।

अलिङ्गग्रहणका सातवां अर्थ :—अब सातवां अर्थ कहेंगे—देखो, भैया ! लिङ्ग के द्वारा जिसका ग्रहण नहीं है। यह सामान्य अर्थ तो बीसों अर्थोंमें लिखा गया, थोड़ी विभक्ति बदल बदल कर; यहाँ कहते हैं कि उपयोग रूप चिन्हके द्वारा ज्ञेयार्थोंका आलम्बन जिसके नहीं है ऐसा यह आत्मतत्त्व है। अर्थात् बाह्य अर्थोंका यह ज्ञान आलम्बन नहीं करता। यह आत्मा बाह्य अर्थों को बिना छुए, बाह्य अर्थोंका कुछ भी प्रतिबिम्ब लिए बिना, बाह्य अर्थका इन पदार्थोंमें कुछ भी सम्बन्ध किए बिना यह ज्ञान अपने स्वभावसे स्वभाव के कारण इस रूपमें जाननरूप परिणमता है कि जैसे कि ये सत् है, अर्थ हैं वैसा ही जानता है यह आत्मा ही अपने आप; मगर किन्हीं पदार्थोंका आलम्बन नहीं करता।

भैया ! यह चित् राजा स्वयं ऐश्वर्यशाली अपने आपके द्रव्यत्वनामक

साधारण गुणके कारण और चैतन्य नामक असाधारण गुणके कारण जानन रूप परिणमता रहता है। ज्ञेयके कारण जाननकी पर्याय नहीं चल रही है पर उसके ज्ञाताकी ज्ञानरूप परिणति रहनेमें यह उस प्रकार जानन होता है जैसे कि यह ज्ञेय पदार्थ अवस्थित है। यह ज्ञेय विषय बनता है पर ज्ञेयके कारण ज्ञान नहीं चलता। और, ज्ञानके कारण ज्ञेय भी नहीं चलता। भगवानने ऐसा जान लिया इसलिए इसे ऐसा करना पड़ा, यह नहीं है। और चूंकि हम ऐसा करते हैं इसलिए भगवानको भी ऐसा जानना पड़ेगा, ऐसी भी पराधीनता नहीं है। इसमें भी भैया! ज्ञानका विषय ज्ञेय है इस कारण ज्ञानका विषयभूत कारण तो ज्ञेय हुआ। परन्तु, ज्ञेयके परिणमनमें ज्ञान किसी भी प्रकारका कारण नहीं हुआ। परमार्थसे तो ज्ञानके लिए न ज्ञेय कारण है और न ज्ञेयके लिए ज्ञान कारण है मगर विषयकी अपेक्षा ज्ञान में विषयभूत ज्ञेय कारण है, पर ज्ञेयके परिणमनमें ज्ञान किसी भी प्रकार कारण नहीं है और परमार्थसे तो किसीका कोई कारण है ही नहीं। तो इस ७वें अर्थमें यह बताया कि यह उपयोग ज्ञेय पदार्थका आलम्बन नहीं करता, किन्तु अपने स्वभावसे जानता रहता है।

अलिङ्गग्रहणका आठवां अर्थ :—आठवें अर्थमें यह बात बतला रहे हैं कि लिङ्गका, उपयोगका, स्वरूपका दूसरोंसे जिसका ग्रहण अर्थात् हरण नहीं होता ऐसा यह अन्तस्तत्त्व आत्मा है। यहाँ ग्रहण का अर्थ खींचना, आहरण करना है। यह आत्मा उपयोगको खींचता नहीं है। जैसे व्यवहारमें अपने लिए कहते रहते हैं ना, कि अजी जरा दिमाग तो लगावो। जरा दिमाग इस ओर मोड़ो तो, इस ओर खीचो तो। तो क्या दिमाग कहीं बाहरसे खींचा जाने वाला पदार्थ है? उपयोगका कुछ आहरण नहीं करना है। यह तो ज्ञान स्वभावमय पदार्थ है सो यह स्वयं उपयोगवृत्तिरूप परिणमता रहता है। जैसे किसी विषयपर विवाद हो गया तो गुस्सेमें आकर क्या कहते हैं कि अभी देखते हैं, बतलाते हैं, किसी शास्त्रसे ज्ञान खींचकर अभी तुम्हारी अकल ठिकाने लाते हैं। इस परिणामकी उसकी एक चेष्टा होती है, पर ज्ञान खीचनेकी चीज नहीं है कि कहीं से खींच लें।

कभी तो यह जीव ऐसी प्रवृत्ति करता है कि पुस्तक उठाया और बड़ी एक वीरताकी शैली से पन्ने लौटा रहा है, जैसे मानो वह पुस्तकसे ज्ञानको खींच रहा है। कभी तो यह प्रवृत्ति करता और कभी बात समझमें नहीं आती तो शान्त बैठकर अपने माथेपर अंगुली धरकर आँखें मींचकर ऐसी

ऐसी वृत्ति करता हैं कि जिससे यह जाहिर होता है कि यह ज्ञान कहीं बाहर से नहीं खींच रहा, किन्तु अपने आपमें बसे हुए ज्ञानपर जोर दे रहा है। ऐसी वृत्तियोंमें कितने तरहके सिद्धान्त निकल आते हैं। यहाँ ८वें अर्थमें यह बतला रहे हैं कि जिसके लिङ्गका, उपयोगका ग्रहण याने आकर्षण जिसके नहीं होता इसलिए यह अनाहार्य ज्ञान स्वभावी है, इससे आत्माके अनाहार्य ज्ञानपना है। यह आत्मा स्वयं ज्ञानमय है और स्वयं ज्ञानरूप बर्तता रहता है। यह ज्ञानको कहींसे खींचता नहीं है।

यह आत्मा तो स्वयं ज्ञानघन है। घनका अर्थ है कि जहाँ दूसरी चीज का प्रवेश नहीं है। घनका अर्थ मोटा नहीं है, घनका अर्थ है कि जिसमें दूसरी चीजका लगाव नहीं है। यदि कोई लोहेका टुकड़ा बहुत वजनदार है तो उसको हम घन क्यों बोलते हैं कि उस लोहेके टुकड़ेमें लोहा ही लोहा घुसा पड़ा हुआ है। उसमें दूसरी चीजका प्रवेश नहीं है। इसलिए घनका अर्थ ठोस न होकर उसमें विजातीय चीजोंका अभाव है। इस ही को कहते हैं घनत्व। तो यह आत्मा ज्ञानघन है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही ज्ञान स्वरूप है इसके अन्दर जड़ता, राग द्वेष आदि अन्य पदार्थोंका प्रवेश नहीं है। इस ज्ञान स्वभावमें किसी प्रकारके परका या पर भावोंका प्रवेश नहीं है। इसलिए इस आत्मामें अनाहार्यज्ञानता है।

अलिङ्गग्रहणका नवमा अर्थ :—अब नौवाँ अर्थ करते हैं कि इस लिङ्गका याने उपयोगका दूसरोंके द्वारा भी ग्रहण नहीं है, आहरण नहीं है इसलिए यह आहार्यज्ञानस्वभाव है। पहिले अर्थमें तो यह बताया कि मैं उपयोगको बाहरसे खींचा नहीं करता और इसमें यह बतला रहे हैं कि मेरे उपयोगको कोई दूसरा खींच नहीं सकता। जैसे कि कहते रहते हैं कि यार! इसने तो मुझे बहुत उल्लू बनाया, इसने तो बेवकूफ बना डाला उसने तो मेरी बुद्धि हर ली। ज्ञानको कोई दूसरा हर ले ऐसा यह कोई निराधार पदार्थ नहीं है। जो कि फुटवाल के समान यत्र-तत्र ठोकर खाया करे। आत्मा सत् है, ज्ञान स्वरूप है। सत् ज्ञान स्वरूपका, ज्ञानका हरण कैसे हो सकता है? ज्ञान ही तो आत्मा है। आत्मा ही अनादि अनन्त ऐसी विशेषताओंको लिए हुए है। इसका उपयोग कोई दूसरा हर नहीं सकता, खींच नहीं सकता।

सर्वत्र अपने उपादानका विकास :—जब कभी बड़े आदमियोंके सामने जाने पर यदि हमारी बुद्धि काम नहीं देती या होस हवास उड़ जाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि उस बड़े आदमीने हमारा ज्ञान हरण कर लिया। यदि कोई

साधारण गुणके कारण और चैतन्य नामक असाधारण गुणके कारण जानन रूप परिणमता रहता है। ज्ञेयके कारण जाननकी पर्याय नहीं चल रही है पर उसके ज्ञाताकी ज्ञानरूप परिणति रहनेमें यह उस प्रकार जानन होता है जैसे कि यह ज्ञेय पदार्थ अवस्थित है। यह ज्ञेय विषय बनता है पर ज्ञेयके कारण ज्ञान नहीं चलता। और, ज्ञानके कारण ज्ञेय भी नही चलता। भगवानने ऐसा जान लिया इसलिए इसे ऐसा करना पड़ा, यह नहीं है। और चूंकि हम ऐसा करते हैं इसलिए भगवानको भी ऐसा जानना पड़ेगा, ऐसी भी पराधीनता नहीं है। इसमें भी भैया! ज्ञानका विषय ज्ञेय है इस कारण ज्ञानका विषयभूत कारण तो ज्ञेय हुआ। परन्तु, ज्ञेयके परिणमनमें ज्ञान किसी भी प्रकारका कारण नहीं हुआ। परमार्थसे तो ज्ञानके लिए न ज्ञेय कारण है और न ज्ञेयके लिए ज्ञान कारण है मगर विषयकी अपेक्षा ज्ञान में विषयभूत ज्ञेय कारण है, पर ज्ञेयके परिणमनमें ज्ञान किसी भी प्रकार कारण नही है और परमार्थसे तो किसीका कोई कारण है ही नहीं। तो इस ७वे अर्थमें यह बताया कि यह उपयोग ज्ञेय पदार्थका आलम्बन नहीं करता, किन्तु अपने स्वभावसे जानता रहता है।

अलिङ्गग्रहणका आठवां अर्थ :—आठवें अर्थमें यह बात बतला रहे हैं कि लिङ्गका, उपयोगका, स्वरूपका दूसरोंसे जिसका ग्रहण अर्थात् हरण नहीं होता ऐसा यह अन्तस्तत्त्व आत्मा है। यहाँ ग्रहण का अर्थ खीचना, आहरण करना है। यह आत्मा उपयोगको खींचता नहीं है। जैसे व्यवहारमें अपने लिए कहते रहते हैं ना, कि अजी जरा दिमाग तो लगावो। जरा दिमाग इस ओर मोड़ो तो, इस ओर खीचो तो। तो क्या दिमाग कहीं बाहरसे खींचा जाने वाला पदार्थ है? उपयोगका कुछ आहरण नहीं करना है। यह तो ज्ञान स्वभावमय पदार्थ है सो यह स्वयं उपयोगवृत्तिरूप परिणमता रहता है। जैसे किसी विषयपर विवाद हो गया तो गुस्सेमें आकर क्या कहते हैं कि अभी देखते हैं, बतलाते हैं, किसी शास्त्रसे ज्ञान खींचकर अभी तुम्हारी अकल ठिकाने लाते हैं। इस परिणामकी उसकी एक चेष्टा होती है, पर ज्ञान खींचनेकी चीज नहीं है कि कही से खींच लें।

कभी तो यह जीव ऐसी प्रवृत्ति करता है कि पुस्तक उठाया और बड़ी एक वीरताकी शैली से पन्ने लौटा रहा है, जैसे मानो वह पुस्तकसे ज्ञानको खींच रहा है। कभी तो यह प्रवृत्ति करता और कभी बात समझमें नहीं आती तो शान्त बैठकर अपने माथेपर अंगुली धरकर आंखें मींचकर ऐसी

ऐसी वृत्ति करता हैं कि जिससे यह जाहिर होता है कि यह ज्ञान कहीं वाहर से नहीं खींच रहा, किन्तु अपने आपमें वसे हुए ज्ञानपर जोर दे रहा है। ऐसी वृत्तियोंमें कितने तरहके सिद्धान्त निकल आते हैं। यहाँ ८वें अर्थमें यह वतला रहे हैं कि जिसके लिङ्गका, उपयोगका ग्रहण याने आकर्षण जिसके नहीं होता इसलिए यह अनाहार्य ज्ञान स्वभावी है, इससे आत्माके अनाहार्य ज्ञानपना है। यह आत्मा स्वयं ज्ञानमय है और स्वयं ज्ञानरूप वर्तता रहता है। यह ज्ञानको कहींसे खींचता नहीं है।

यह आत्मा तो स्वयं ज्ञानघन है। घनका अर्थ है कि जहाँ दूसरी चीज का प्रवेश नहीं है। घनका अर्थ मोटा नहीं है, घनका अर्थ है कि जिसमें दूसरी चीजका लगाव नहीं है। यदि कोई लोहेका टुकड़ा वहुत वजनदार है तो उसको हम घन क्यों बोलते हैं कि उस लोहेके टुकड़ेमें लोहा ही लोहा घुसा पड़ा हुआ है। उसमें दूसरी चीजका प्रवेश नहीं है। इसलिए घनका अर्थ ठोस न होकर उसमें विजातीय चीजोंका अभाव है। इस ही को कहते हैं घनत्व। तो यह आत्मा ज्ञानघन है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही ज्ञान स्वरूप है इसके अन्दर जड़ता, राग द्वेप आदि अन्य पदार्थोंका प्रवेश नहीं है। इस ज्ञान स्वभावमें किसी प्रकारके परका या पर भावोंका प्रवेश नहीं है। इसलिए इस आत्मामें अनाहार्यज्ञानता है।

अलिङ्गग्रहणका नवमा अर्थ :—अव नौवाँ अर्थ करते हैं कि इस लिङ्गका याने उपयोगका दूसरोंके द्वारा भी ग्रहण नही है, आहरण नहीं है इसलिए यह आहार्यज्ञानस्वभाव है। पहिले अर्थमें तो यह वताया कि मैं उपयोगको वाहरसे खींचा नहीं करता और इसमें यह वतला रहे हैं कि मेरे उपयोगको कोई दूसरा खींच नहीं सकता। जैसे कि कहते रहते हैं कि यार! इसने तो मुझे वहुत उल्लू वनाया, इसने तो वेवकूफ बना डाला उसने तो मेरी वुद्धि हर ली। ज्ञानको कोई दूसरा हर ले ऐसा यह कोई निराधार पदार्थ नहीं है। जो कि फुटवाल के समान यत्र-तत्र ठोकर खाया करे। आत्मा सत् है, ज्ञान स्वरूप है। सत् ज्ञान स्वरूपका, ज्ञानका हरण कैसे हो सकता है? ज्ञान ही तो आत्मा है। आत्मा ही अनादि अनन्त ऐसी विशेपताओंको लिए हुए है। इसका उपयोग कोई दूसरा हर नहीं सकता, खींच नहीं सकता।

सर्वत्र अपने उपादानका विकास :—जव कभी वड़े आदमियोंके सामने जाने पर यदि हमारी वुद्धि काम नहीं देती या होस हवास उड़ जाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि उस वड़े आदमीने हमारा ज्ञान हरण कर लिया। यदि कोई

प्रभावशाली शक्ति किसी अपनेसे निर्वलके ज्ञान हरनेका काम करने लगे तो उसके समान बड़ा अपराधी या बड़ा दस्यु कौन हो सकता है, क्योंकि चोर तो कुछ अल्प बहुत सुवर्णादि चुरा ले जायेंगे पर यह प्रभावशाली तो आत्म-ज्ञान चुरा कर उसके लक्षणका, स्वरूपका हरण कर आत्माको अनात्मा ही कर देगा, अतः उससे बड़ा दस्यु कौन हो सकता है। अरे भाई! बड़े पुरुषोंके सामने अथवा अधिकारीके सामने छोटोंके पहुँचनेपर उस छोटेकी ज्ञान वुद्धि अटपटी हो जाती है, होश हवाश उड़ जाते है तो उन छोटोंके परिणमनसे उनकी योग्यतासे ऐसी हालत होती है। यह ज्ञान दूसरोंके द्वारा खींचा नहीं जाता है और न मैं अपने ज्ञानको कही वाहरसे खीचता हूँ।

ज्ञान वृत्ति ही स्वतन्त्रता :—भैया! अनन्ते जीव हैं, वे सव स्वतंत्र-स्वतंत्र है, अपने ज्ञान स्वरूप हैं। ऐसी तत्त्वस्वतंत्रता जिन्हें मिल जाती है, ऐसे पुरुप ही इन कर्मोंको काट सकते हैं। कर्मोंके काटनेका उपाय क्या करना है। कर्मोंके मिटानेके लिए कुछ करना नहीं है। जो करते थे उस करनेको समाप्त करना है। फिर अपने आप मुक्ति है। याने प्रवृत्ति करनेसे मुक्ति नहीं है और निवृति वाह्य पदार्थोंकी होना ही क्या है जव वाह्यका ग्रहण नहीं है तव प्रवृत्ति और निवृत्ति कुछ करना नहीं है, किन्तु ज्ञानमात्र स्थिति से रह जाना है।

अव्रतवृत्तिका प्रायश्चित व्रत—प्रश्न-ये व्रत और संयम किसलिए हैं? ये इसलिए है कि हमने पहिले अव्रत भाव करके मिथ्याभाव करके, पाप परिणाम करके अपनेको खोटा वनाया है, उस फसावसे निकलना वहुत कठिन है। उस फसावसे धीरे-२ निकलनेकी जो वृत्ति हो रही है वह व्रत है और संयम है। जैसे भगवानके चरणोंपर हमें सिर क्यों रगड़ना चाहिए। यों रगड़ना चाहिए कि हम अनर्थ और पाप कर रहे हैं। यदि हम अनर्थ और पाप न करें तो भगवानके चरणोंपर सिर नवानेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार अव्रत भावोंका जो रंग चढ़ा था उसका लगाव यदि न हो, तो वहाँ व्रत और संयमकी प्रवृत्ति नहीं करना पड़ती पर ऐसी स्थितिमें भी जो व्रत और संयम होता है वह तो मंद कपायोंका परिणाम है। और, उनके साथ-साथ जो गुप्त ज्ञान वृत्ति है यह उनकी मुक्तिका कारण है। तो अपने कल्याणके लिए हमें अपने आपको यथार्थ अनुभवपूर्वक समझना जरूरी है कि मैं क्या हूँ। मेरी समझसे फिर ये सव आकर्पण और क्षोभ विलीन हो जाते हैं जिससे कि पापी हो रहे थे।

व्रत का प्रयोजन :—जो मोही जन इस भावसे व्रत करते हैं कि कोई भाई मुझे बुरा न कह दे उनके ये बाह्य व्रत श्रममात्र हैं, क्योंकि आत्मज्ञान हुए बिना कल्याणमार्ग नहीं मिलता। और भी देखो जो मुझको नहीं जानता है वह मुझको भला बुरा कह कैसे सकता है। और जिन जीवोंने मुझे जान लिया है वे एक ज्ञान स्वरूपमें घुलमिल गये हैं। उनके बाहिरी बृत्ति हो ही नहीं सकती है, वह भला बुरा कहे कैसे।

जैसे समंतभद्र स्वामीने कहा है कि "यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनम्। अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यत्संपदा किं प्रयोजनं" यदि पाप रुक गये हैं तो और सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है। पापोंका रुक जाना ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है, अब अन्य सारी काल्पनिक सम्पत्तियोंका क्या प्रयोजन है। यदि पाप नहीं रुकते हैं तो अन्य सम्पत्तिका प्रयोजन है। पाप न रुके, पाप किए जा रहे हो तो उसके फलमें आत्मबल घटेगा, कर्म बंध होगा। और निकट भविष्यमें ऐसी स्थिति होगी कि आपत्ति भोगना पड़ेगी कुयोनियोंमें जन्म पड़ेगा। पाप रुक गये तो इस सम्पतिके आगे अन्यसे क्या प्रयोजन यदि पाप न रुके तो इस सम्पतिसे क्या प्रयोजन इसी प्रकार यदि आपने मुझे पहिचान लिया तो आप मेरे शत्रु मित्र रह ही नहीं सकते। यदि आपने मुझे नहीं पहिचाना तो आप मेरे शत्रु मित्र कैसे हो सकते हैं।

ज्ञानके यत्न का संदेश :—भैया! धन कंचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान, दुर्लभ है संसारमें एक यथारथ ज्ञान। धन, तन कंचन इत्यादि तो इस संसारमें सुलभ हैं मगर एक अपने आत्म स्वरूपको जानना बहुत दुर्लभ है। यह आत्मस्वरूपकी पहिचान किन्हीं-२ भाइयोंको कठिन लग रही होगी। मगर कठिन लगनेके दो कारण है। पहिला तो कारण यह है कि कभी सुना और अनेक दिन न सुना और दूसरा कारण यह है कि विद्यार्थियोंकी भांति कोई पुस्तक नहीं पढ़ते। भैया! कभी ही जो बात सुननेमें आये, जिसके सुननेकी आदत नहीं हो सकती रोज न सुन सकें तो वह बात एक दिनके सुननेमें या कुछ दिनके सुननेमें ग्रहणमें आये, यह कैसे होगा सो भैया! रात दिनमें एक घन्टा तो रोज तात्त्विक बात सुनो। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थितिवाले सज्जनोंको यह चाहिए कि एक पुस्तक विद्यार्थियोंकी भाँति गुरु द्वारा पढ़े। आप देखें, इतनी उमर हो गयी, इतने बड़े हो गये, अब थोड़ा सा समय रह गया, आयुका अंत तो सबका होगा। यहाँ सब सदा रहेंगे तो हैं नहीं। तो जितना समय और रह गया उतने समयमें भी

ऐसी यदि वढ़ेगी रफ्तार न रहे तो भी भला ही है। धन कमाना, धन संचय करना, रिस्तेदारोसे प्रीति वढ़ाना यदि वना रहा मरण काल तक तो वताओ भैया ! अपनेलिये क्या हासिल किया।

आत्महितके लिये प्रारम्भिक दो उपाय :—यदि अपनी कर्ममुक्ति चाहता है, सदाके लिए दुःखोसे छूटना है तो अपनेमें एक क्रांति लावो। पुरानी उन रफ्तारों, मोहमयी वुद्धियों आदिकी छुट्टी नहीं की और जैसी की तैसी ही वृत्ति वनी रही तो यह उमर यों ही व्यर्थ गुजर जायगी। भैया ! हम आपके कोई मालिक तो हैं नहीं कि आपके हाथ पकड़ कर, आपके कान पकड़ कर जवरदस्ती आपको इस मार्गमें लगा सकें। आपकी यदि अपनेपर दया है, संसारके संकटोंसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो आप इन दोनों कामोंके करनेमें लग जायें। न लगें तो आप लोगोंकी मर्जी है, पर लग गये तो हमारा विश्वास है कि कुछ समय वाद कुछ महीने वाद या वर्ष वाद आप अपनेमें संतोप पैदा कर सकने वाला ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। दो ही वातें हैं कि रोज आध्यात्मिक वातें सुनें। कहीं भी सुनें और एक पुस्तक किसी गुरु से विद्यार्थीकी भांति याद करें। दो ही वातें कर सके तो यह वात समझमें आ जायगी। और, नहीं तो आप लोगोंके लिए तो हम दोपी हैं ही कि साहव ये तो ऐसे ही प्रवचन करते कि हमारी समझमें नहीं आते। उनको ऐसा न चाहिए। कुछ सरल प्रवचन करना चाहिए। कुछ हमारे ढंगका प्रवचन करना चाहिए।

भैया ! यदि हम कहानी किस्से ही सुनाया करें या साधारण वातें वोलते रहें तो न तो हम कुछ वढ़ सकेंगे और न आप लोग वढ़ सकेंगे। सवका उद्देश्य तो यह है कि वस्तुके ठीक तह तक अपने उपयोगको ले जायें और अपना उपयोग पायें। जव आप दूकानमें या व्यापारमें कठिनसे कठिन घटनाओंमें भी हिम्मत नहीं तोड़ते, विकट परिश्रम करते रहते हैं; तो इस काममें भी उतना नहीं तो उसका सोलहवाँ हिस्सा उपयोग व समय लगावो तो वात वन सकती है। यह अपना ज्ञान तो स्वाधीन है प्राप्त किया जाना कुछ कठिन नहीं है। ये ऋपिगण भी तो पुरुप ही थे। देखो कितनी शव्द और भावछंटासे अलिङ्गग्रहणका अर्थ कर रहे हैं। यहाँ तक अलिङ्गग्रहणके ९ अर्थ हो चुके हैं।

अलिङ्ग ग्रहणका दसवां अर्थ—अव दसवें अर्थमें श्री सूरीश्वरजी वताते है कि यह आत्मा अलिङ्गग्रहण है, अर्थात् लिङ्गका उपयोगमें ग्रहण नहीं

है। ग्रहण सूर्यमें होता है। ग्रहण जो लगता है वह सूर्यमें लगता है। उपयोग में ग्रहण नहीं लगता तो जैसे सूर्यमें ग्रहण लगनेपर सूर्य एक अशुद्ध अपवित्र प्रकाशका वितरक बनता है तो उस ग्रहणसे अनर्थ ही माना जाता है। इस उपयोगरूप जीववृत्तिमें ग्रहण नहीं है, उपराग नहीं है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह जीव शुद्ध उपयोग स्वभावी है, इसमें उपराग नहीं है।

जीवका स्वाभाविक चमत्कार :—भैया! जरा जीवकी सहज सत्ताको तो देखो तब विदित होगा कि जीव स्वभावतः किस चमत्कारको लिए हुए है। उसके ही सत्त्वके कारण उसका जो कुछ एग्जिस्टेन्स है, अस्तित्व है उसपर दृष्टि दें तो यह शुद्ध ज्ञान स्वभावमात्र है उपाधियोंकी विशेषताओंसे इसके विकाशकी हीनाधिकता है पर स्वभावसे देखो तो इसका स्वभाव ज्ञानमें बढ़नेका है और वह स्वभाव सिद्ध प्रभुके केवल ज्ञानसे भी कम नहीं है, जो केवलज्ञान समस्त तीन काल, तीन लोकके पदार्थोंको जानता है, सर्वको जाननेवाले जो सिद्ध प्रभु है, उनको भी जानता है। सर्व विश्वको जानने वाले अनंत केवल ज्ञानोंको भी प्रत्येक केवल ज्ञान जानता है। ऐसा विस्तृत ऐश्वर्य वाला यह ज्ञान स्वभाव है, ऐसा अलौकिक अनुपम स्वभाव सम्पन्न है।

भैया! हम आप जो भ्रम और स्नेहके कारण दीन हीन वंधनवद्ध हो रहे है, यह बंधन कहीं बाहरसे नही है, अन्दरमें ही इस प्रकारकी कल्पना आ गई, आकुलता आ गई, जिस आकुलताके कारण यह अपने आप ही वंधन में बँधा है, दुःखी हो रहा है। इसका तो शुद्ध उपयोगका स्वभाव है। इस उपयोगका ग्रहण नहीं पड़ता अर्थात् उपराग नहीं लगते। यह तो निरुपराग है। इस प्रकार १०वें अर्थमें इस जीवको शुद्ध उपयोगस्वभावी बताया है।

अलिङ्गग्रहणका ग्यारहवाँ अर्थ—अब ११वें प्रकार का अर्थ कर रहे हैं। अलिङ्गग्रहण, अर्थात् नहीं, लिङ्गसे याने उपयोगसे ग्रहण अर्थात् उपयोगसे पुद्गल कर्मोका लेना नहीं होता है। यह जीव उपयोगसे पुद्गल कर्मोको ग्रहण नहीं करता। इस आत्माका हाथ पैर क्या हैं? उपयोग। जैसे कोई मनुष्य कर्मठ बने या विगड़ जाय तो वह बड़े हाथ पैर पीटता है तो यहाँ जीव क्या पीटेगा? उपयोग। विगड़ गया जीव तो वहाँ भी उपयोग ही उसके हाथ पैर हैं, उन्हें ही पीटेगा।

भैया! एकीभावस्तोत्र पुस्तक है जो वादिराज स्वामीने बनाया है, उस पुस्तकके श्लोकोंमें अध्यात्मिक दर्शन भी भरा है। शब्द का जो सीधा

अर्थ निकलता है उसे सब कोई जानते हैं किन्तु उनमें जो अध्यात्मध्वनि भरी है वह भी उसमें स्पष्ट जचती है इसकी एक किताब है एकीभाव स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि" इसमें शब्दोंसे अध्यात्मध्वनि निकली है। उसमें कुछ श्लोकोंमें भगवानके पादद्वय की भक्ति की है। पादद्वयकी उपासनाकी बात कही गई है। तो वहाँ सीधा अर्थ तो चरणोंका हैं किन्तु उसमें अध्यात्म-ध्वनि भी है तो उसमें भगवानके दो पैर क्या है? भगवान हैं ज्ञायक स्वभावी और उसके दो चरण हैं ज्ञान और दर्शन। उपासक, भक्त, इस ज्ञायक भगवानके चरणोंमें झुक जाते हैं। इस ज्ञान और दर्शनके स्वरूप पर झुक जाते हैं क्योंकि इन चरणोंमें अनन्त ऐश्वर्य भरा है। ज्ञानमें अनन्त ऐश्वर्य है, दर्शन में अनन्त ऐश्वर्य है।

ज्ञानविकास की महिमा :—यहाँ जिसने कुछ विशेष जान लिया है ज्ञान विज्ञानकी बातोंको या कुछ राज काजकी प्रबल व्यवस्थाओंको, उसकी इस लोकमें कितनी महिमा फैली है। राष्ट्र का प्रधानमंत्री किसी सड़कसे निकलने लगे तो लोगोंमें खलबली मच जाती है, वहाँ कितनी उत्सुकतासे दर्शक लोग आते हैं और राजकीय प्रबन्ध होता है। फिर तो जिस ज्ञानमें तीन लोकके त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका ज्ञान बसा हुआ है उसके ऐश्वर्यका क्या ठिकाना। और समस्त विश्वको जाननेकी परिणतिसे आत्माने जो आत्मसात् कर लिया है ऐसे दर्शनके ऐश्वर्यको क्या कहें। ऐसे ज्ञायक स्वभावी आनादि अनन्त, अहेतुक, असाधारण, चैतन्यस्वभावमय, चिदानन्द इस परमात्मतत्त्वके चरणोंमें जो अपने उपयोग रूपी मस्तक को झुका देता हैं वह भगवानका परमार्थसे परम उपासक है। ऐसा उपासक संसारके बंधनको अल्प समयमें नष्ट कर देता है। इस उपयोगसे पुद्गल कर्मोंका ग्रहण नहीं होता है। ऐसा यह आत्मदेव द्रव्य कर्मोंसे असंपृक्त है। इस प्रकार ११वें अर्थमें आत्माको द्रव्यकर्मोंसे अबद्ध, अस्पृष्ट, असम्पृक्त, कोई वास्ता नहीं, स्वतन्त्र, स्वरूपको दिखाया है और शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी ओर उपयोग झुकाया है।

आलिङ्गग्रहण का बाहरवां अर्थ :—अब (१२) बारहवें अर्थ में कहते हैं कि लिङ्गों का ग्रहण नहीं होता याने इन्द्रियोसे विषयका उपयोग जहाँ नहीं है, ऐसा यह आत्मदेव है। प्रथम तो इन्द्रियोंका ही अभाव इस आत्मामें है। यह आत्मा तो आकाशकी तरह अमूर्त शुद्ध चैतन्यमात्र है, इसका इस समय क्या रूप बन गया है। यह सब इस चिदानन्द भगवान को भूलकर

ऐश्वर्य। जो समर्थ होता है वह भूलता है तो वहाँपर भी उसके ऐश्वर्यका चमत्कार होता है और जब सम्हलता है तो वहाँपर भी ऐश्वर्यका चमत्कार होता है। क्या किसी वैज्ञानिकमें ऐसा दम है जो भौतिक पदार्थोंका उपयोग करके, मेल करके इन्द्रिय बनालें या विचार बना दें या और जाने दो, मल-मूत्र इत्यादि बना दें, किसी वैज्ञानिकमें ऐसा साहस है क्या ? नहीं है। यह तो चिदानन्द भगवान खुद बिगड़े तो ला सकता है। दूसरा कोई दूसरों के लिए ऐश्वर्य नहीं ला सकता है यह तो ज्ञायकस्वभावमात्र है। इसमें तो इन्द्रिय ही नहीं हैं। तो विषयोंका यह उपभोग करे ऐसा निजके स्वभाव नहीं है इन्द्रियोंसे विषयोंका उपभोग होना आत्माका स्वभाव नहीं है। यों अलिङ्ग ग्रहण शब्दसे आत्मामें विषयोंके उपभोगपनका अभाव बताया है।

अलिङ्गग्रहण का तेरहवां अर्थ :—(१३) अब तेरहवें अर्थ में कहते हैं कि लिङ्गात्मक इन्द्रियोंसे जीवका ग्रहण नहीं होता है जैसे कि लोग कह देते हैं कि ये पुरुष और स्त्री जीवको उत्पन्न करते हैं, यह मात्र उपचारकथन है। शुक्र और आर्तव का अनुविधान इस जीवके साथ नहीं लगा है कि कहीं शुक्र आर्तव इस जीवको पैदा कर दे।

अलिङ्गग्रहण का चौदहवां अर्थ :—(१४) चौदहवें अर्थमें कहते हैं कि जिसके लिङ्ग का, मेहनाकारका ग्रहण नहीं है ऐसा आत्मतत्त्व है। इस शब्दार्थसे जीवके लौकिकसाधनताका अभाव बताया गया है। यह आत्मा आकाशवत अमूर्त और इसी कारण निर्लेप है। यह नीरङ्ग निस्तरंग निःसङ्ग परम-निर्विण्ण चैतन्यमात्र है।

अलिङ्गग्रहण का पन्द्रहवां अर्थ :—१५वें अर्थमें यह बताया है कि जैसे कि लौकिक जन मानते हैं कि कोई लिङ्ग स्वयं एक देव है और वह देव सर्व लोकमें व्यापक है तो ऐसा व्यापकपना और लिङ्गात्मकता उस जीवके नहीं है। यह तो शुद्ध ज्ञायक स्वरूपमात्र अमूर्त तत्त्व है। यह आत्मा मात्र ज्ञान द्वारा ही व्यापक है, सर्व लोकालोकव्यापक है।

अलिङ्गग्रहण का सोलहवां अर्थ :—अब (१६) सोलहवें अर्थ में कहते हैं कि जिसके लिङ्गोंका ग्रहण नहीं है। लिङ्ग तीन होते हैं—(१) स्त्रीलिङ्ग, (२) पुरुषलिङ्ग, (३) नपुंसकलिङ्ग। ये हैं द्रव्य वेद इनका उसमें ग्रहण नहीं है और इतना ही नहीं किन्तु जो भाव भेद हैं वे भी विकारभाव हैं सो उन तक का भी ग्रहण इस ज्ञायकस्वभावरूप परमात्मतत्त्वमें नहीं है। ये द्रव्यवेद व भाववेद पौद्गलिक कर्मके विपाक हैं।

आलिंगग्रहण का सत्रहवां अर्थ :—(१७) सत्रहवें अर्थमें बताया है कि लिङ्गोंका अर्थात् धर्मकी ध्वजाओंका जिसके ग्रहण नहीं है। धर्मकी ध्वजाएं माने वहिरंग साधूके वहिरंग चिन्ह। इसको अमृतचन्द्र सूरीश्वरने कुछ व्यङ्ग रूपसे मानो कहा हो। देखो लोकमें इन साधुओंके पहिचाननेका उपायये वाह्य चिन्ह ही तो है। कोई जटा रखाता है, कोई गेरुवे कपड़े पाहनता है कोई हाथमें चीमटा लेता है, कोई किसी प्रकार है। ये है नाना वहिरङ्ग लिङ्ग। इनका ग्रहण आत्मामें नही है।

जैसे जिसको वड़ा जुखाम हो और नाक वह रही हो उस वच्चेको लाइफवाय सावुनसे खूव नहला धुला दें, और अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनाकर शोभाकी जगहपर विठा दे तो क्या होता है। दो एक मिनटमें उसके नाक वहने लगती है ऊपरसे सव पहिना उड़ा देनेसे नाक नही मिट जायगा इसी प्रकार जो आत्मा कलुषित हृदयका है जिसके ममता नहीं घटी, विषया-शक्ति नहीं घटी ऐसा कोई पुरुष साधु जैसा ढंग वना ले, चिन्ह वना ले, तो वाहरी चिन्ह वना लेनेसे हो भीतर मैल वहनेकी जो आदत है वह तो नहीं मिट जायगी। वह तो सर-सर वहेगी। जिसके भीतर मलीमसता नहीं है, शुद्ध है ऐसा पुरुष जिस रूप प्रवृत्ति करता है वह प्रवृत्ति ही लोक व्य-वहारमें लौकिक जनोंके लिए धर्मरूप वन जाती है।

इस आत्मामें धर्म-ध्वजोंका ग्रहण नहीं हैं अर्थात् वहिरङ्ग जो साधुओंके चिन्ह है उन चिन्होंका अभाव इस आत्मामें है। आत्मा न गृहस्थ है, और न साधु है। आत्मा तो एक ज्ञान स्वभावमात्र है। जैसे किसी पर ५० हजार का जुर्माना कर दिया तो वह उपाय करके मात्र १०-२० रुपया जुर्माना रखा करके वड़े संकटसे वचनेके यत्न में रहता है। इसी प्रकार सोचो-अपने लिये वहुत वड़ा दण्ड क्या हो सकता है। आज मनुष्य है, मनुष्य से मिट कर पशु वन गये, गधा वन गये तो क्या कुटुम्वके वसकी वात है कि मुझे सूकर गधा आदि होनेसे वचा लें। और क्या उस समय किसीके पकड़की वात है कि हाथ पकड़ कर सूकर गधा आदि होनेसे वचा लें। इसे दण्ड खोटे परिणामोंसे मिलता है। तो इतने वड़े दण्डमें पड़ा हुआ यह जीव मंद कषायोंकी वृत्तिको अंगीकार करके उन वड़े संकटोंसे वचनेका उपाय वना रहा है।

आत्मा के वाह्य चिन्ह का अभाव :—इसके वहिरङ्गकाययतिलिङ्गका अभाव है जो पुरुष ऐसा सोचते हों कि मैं त्यागी हूँ, मैं साधु हूँ ऐसी श्रद्धा

जो अपने आपके आत्मदेवके स्वरूपके प्रति बना रहा हो तो उसका अभी मिथ्यादर्शन चल रहा है। जैसे अपने कामकी धुनमें रहने वाला बड़ा पुरुष किसी अहंकारमें नहीं रह सकता, अपने काममें सहयोग देनेवाले सेवकोंसे भी अपना जैसा वर्ताव बना लेते हैं उनके अहंकार नहीं रहता कि मैं सेठ हूँ और ये लोग मेरे नौकर हैं। इसी प्रकार जिसने आत्मकल्याणकी धुन करली है ऐसा पुरुष महाव्रत समिति आदि श्रेष्ठ परिणति के प्रति भी अहंभाव नहीं रखते। वह तो अपनी धुनमें लगा है। ज्ञायक स्वभावके दर्शन कर प्रसन्न रहनेकी जिसके धुन लगी है वह व्रत और समितिकी परिणतिमें अहंकार नहीं रख सकता, फिर बताओ कि इस ज्ञायक स्वभावमय भगवानमें यतिलिङ्ग कहाँ है। इसमें बहिरङ्ग चिन्होंका अभाव है। यह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। न योगी है न भोगी है, न विधायक है न प्रतिषेधक हैं। यह तो ज्ञान स्वभाव मात्र है।

अलिङ्ग ग्रहणका अठारहवां अर्थ :— अब (१८) अठारहवें अर्थमें कहते हैं कि लिङ्ग रूप गुणोंका ग्रहण जिसके नहीं है अर्थात् यह आत्मदेव ऐसा नहीं है जैसे कि कोई गृहस्थ पोतोंको चिपटाए हुए हो, यह भी गुणोंको चिपटाये हुए हो। यह आत्मा, दर्शन, ज्ञान, चरित्र आदि गुणोंको चिपटाए हुए नहीं है। यह निर्गुण है गुण भेदों को कहते हैं। गुण्यते भिद्यते अनेनद्रव्यमृइति गुणः। जिसके द्वारा द्रव्य छिन्न भिन्न किया जाय उसको द्रव्य कहते हैं। अखण्ड एक स्वभाव इस निज देवको जाननेका परमार्थसे उपाय कुछ नहीं था इसलिए इसका भेद करके अनेक गुणोंके रूपसे उपस्थित करके निश्चय किया है। यह ता गुण विशेपके भेदको न चाहता हुआ शुद्ध द्रव्य है। अर्थात् यह नाथ तो जो है सोई है। जिसको समयसारमें बताया हैं णावि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव।

शुद्ध आत्मदेव :— भैया! यह आत्मदेव न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है किन्तु यह तो ज्ञायक स्वभाव मात्र है। वास्तवमें तो इन शब्दोंमें भी आत्म देवकी महिमा घटा दी है लेकिन रूढ़िसे ज्ञायक शब्द कहके उस ज्ञायक स्वभाव की उपासनाकी है नहीं तो ज्ञायक शब्दने इस आत्मदेवकी कला का वर्णन किया है। शब्दोंने किसी भी वस्तुके सर्वस्वको नहीं कहा। किसी वस्तुके सर्वस्वको बता देनेवाला कोई शब्द ही नहीं हैं यह तो उन सब विशेषताओंसे अनालीढ है। शब्द जितने होते है वे विशेषताको ही बतलाते हैं, वस्तुको नहीं बतलाते हैं शब्दके कई अर्थ होते हैं और उस अर्थमें

जो कहा जाता है वह वस्तुकी एक कला ही कही जाती है। समग्र वस्तुस्वरूपका बताने वाला सीधा कोई शब्द नहीं है यह आत्मदेव गुण विशेष करि अनालीढ है, शुद्ध वस्तु स्वरूप है। इस अर्थमें शुद्ध द्रव्यत्वकी प्रतिपत्ति की गयी है।

अलिङ्गग्रहणका उन्नीसवां अर्थ :—अब १९ उन्नीसवें अर्थमें कहते है कि लिङ्गका ग्रहण जिसके नहीं है ऐसा यह आत्मतत्त्व है। लिङ्ग माने गुण और पर्याय। इसके गुण पर्याय नहीं है। पूर्वमें तो था तो गुणका मतलव, इसमें आया है पर्यायका मतलव। किसी पर्यायविशेषको यह द्रव्य चाहता नहीं है। इस आत्मदेवकी उदार वृत्ति है। यह तो सामान्य स्वभाव और सामान्य परिणमनकी वर्तना बनाये हुए है। यह गुण विशेषको और पर्यायविशेष को छुवे, या लगाये ऐसी अनुदारता उस परम शुद्ध आत्मदेवमें नहीं है। द्रव्यत्व गुणके कारण यह आत्मा परिणमनका व्रत तो लिए हुए है, पर मैं इस रूप परिणमूं, ऐसे विशेष परिणमनका व्रत नहीं लिए हुए है। यह विशेष परिणमन, विभाव परिणमन इस आत्माके स्वभावकोपमें नहीं है। ये होते है, सो यह गुणोंपर उपद्रव है ज्ञान आत्मप्रभुपर यह उपसर्ग आया है, विभाव परिणमनका संकट है पर यह आत्मदेव तो स्वभावसे इतना उदार है, इतना गम्भीर है कि इसका तो केवल परिणमन करनेका व्रत है।

अलिङ्गग्रहणका बीसवां अर्थ :—अब अंतिम २० वां अर्थ बताते है कि जिसका लिङ्गरूप ग्रहण नहीं है। प्रत्यभिज्ञानहेतुक जो द्रव्य है उस द्रव्यका भी इसमें अस्पर्श है, यह आत्मा एक अर्थ है और इसमें द्रव्य गुण पर्याय ये तीनों अंश हैं। और द्रव्यगुणपर्यायात्मक जो यह सत् है वह आत्मा है। उस आत्मदेवको समझानेके लिए जैसे पर्यायका भेद किया है, गुणका भेद किया है इसी प्रकार द्रव्यका भी भेद किया है। यह द्रव्यसे भी अनालीढ शुद्ध सत् स्वरूप है। ऐसे आत्माको अलिङ्ग ग्रहण जानो। इस तरह इस गाथामें अलिङ्ग ग्रहण शब्द का अर्थ समाप्त होता है।

पूर्व गाथामें आत्माका असाधारण लक्षण बताया गया था। उस लक्षणको सुननेके बाद जब शिष्य जिज्ञासु वर्तमान स्थितिमें दृष्टि देता है तो उसे एकदम शंका हो जाती है कि ऐसा चैतन्य स्वभावमय आत्मा, अलिङ्ग ग्रहण आत्मा रूपादिकरहित यह आत्मा बंधनोंमें कैसे जकड़ा हुआ है। इस जिज्ञासाको लेकर शिष्य यह प्रश्न करता है कि अमूर्त आत्मामें स्निग्ध और सूक्ष्मपना तो है नहीं फिर इसका कर्मोंके साथ बंधन कैसे हो गया। इस

प्रकार यह शंकारूप पूर्व पक्ष रखा जा रहा है ।

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बंधदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ १७३ ॥

मूर्त पदार्थ जो कि रूपादिक गुणोंसे सहित है वह तो स्निग्ध रुक्ष गुण रूप स्पर्शके कारण एक दूसरेसे परस्परमें बँध सकता है पर अमूर्त आत्मा, कैसे पौद्गलिक कर्मोंसे बँधता है ।

आत्मा व कर्मके बन्धके बारेमें प्रश्न :—यहाँ यह शंका उठाई गयी है कि पुद्गल चूंकि मूर्तिक हैं, दोनों रूपादिक गुणोंसे सहित हैं सो उनमें स्निग्धत्व रूक्षत्व स्पर्श विशेष होते हैं। इस कारण उनमें बंध निश्चित ही हो जाता है। पर आत्माका व कर्म पुद्गलका परस्परमें बन्ध हम कैसे निश्चित करें क्योंकि यह अमूर्त है आत्मा और कर्म पुद्गल मूर्तिक हैं। यद्यपि बंधका कारण भूत स्निग्धपना रूक्षपना कार्माणवर्गणाओंमें पाया जाता है, फिर भी आत्मामें नहीं पाया जाता है, तब आत्मा और कर्मका कैसे बंध होगा ? जिनमें स्निग्धपना रूक्षपना हो उनमें परस्परमें बंध हो सकता है ? यह प्रश्न रखा गया है।

भैया, पहिलेकी कुछ गाथाओंमें पुद्गल पुद्गलमें कैसे वंध होता है, यह सब वर्णन किया है। स्निग्ध और रूक्ष गुणमें इनकी डिग्रियां दो अधिक होने पर उनमें परस्परमें बंध होता है। यह बंधका नियम अणु-अणुमें है। स्कन्ध और स्कन्धमें परस्परमें नहीं है। याने एकाकी परमाणु और दूसरा भी एकाकी हो तो इसमें तो नियम है कि एक अणुमें स्निग्ध या रूक्षकी जितनी डिग्रियाँ हैं उससे दूसरेमें दो अधिक होना चाहिए तब उनमें परस्परमें वंध होता है। यह नियम परमाणु-परमाणुमें है और अन्य स्कन्ध स्कन्धमें भी इन बातोंसे भी संश्लेश होता है, पर वहाँ स्निग्धत्व रूक्षत्वका कोई नियम नहीं है। पुद्गलोंमें यह बात सम्भव है कि परस्परमें अवगाह हो लेगा जैसा कि पहिली गाथावोंमें बहुत वर्णन किया गया है। ऐसा स्निग्धत्व रूक्षत्व विशेष कर्म पुद्गलमें तो है किन्तु आत्मामें नहीं है तो वंधन कैसे हो जायगा ? बंधनके कारणभूत स्निग्धत्व रूक्षत्वके हथियारसे पुद्गल तो सुसज्जित है किन्तु आत्माके तो ये हथियार ही नहीं है, फिर इसका वंध कैसे हो जाता है। यह पूर्वपक्ष किया गया है।

शंकाका आधार :—यह शंका कैसे उठी कि पहिली गाथामें आत्माका जो लक्षण किया गया है वह सहज सत्त्वके कारण जैसा है उस स्वरूपसे वर्णन है। यह आत्मा रूपरहित है, रस रहित है, स्पर्शरहित व गंधरहित है और

जो कहा जाता है वह वस्तुकी एक कला ही कही जाती है। समग्र वस्तुस्वरूपका बताने वाला सीधा कोई शब्द नहीं है यह आत्मदेव गुण विशेष करि अनालीढ है, शुद्ध वस्तु स्वरूप है। इस अर्थमें शुद्ध द्रव्यत्वकी प्रतिपत्ति की गयी है।

अलिङ्गग्रहणका उन्नीसवां अर्थ :—अब १६ उन्नीसवें अर्थमें कहते हैं कि लिङ्गका ग्रहण जिसके नहीं है ऐसा यह आत्मतत्त्व है। लिङ्ग माने गुण और पर्याय। इसके गुण पर्याय नहीं है। पूर्वमें तो था तो गुणका मतलब, इसमें आया है पर्यायका मतलब। किसी पर्यायविशेषको यह द्रव्य चाहता नहीं है। इस आत्मदेवकी उदार वृत्ति है। यह तो सामान्य स्वभाव और सामान्य परिणमनकी बर्तना बनाये हुए है। यह गुण विशेषको और पर्यायविशेष को छुवे, या लगाये ऐसी अनुदारता उस परम शुद्ध आत्मदेवमें नहीं है। द्रव्यत्व गुणके कारण यह आत्मा परिणमनका व्रत तो लिए हुए है, पर मैं इस रूप परिणमूं, ऐसे विशेष परिणमनका व्रत नहीं लिए हुए है। यह विशेष परिणमन, विभाव परिणमन इस आत्माके स्वभावकोषमें नहीं है। ये होते हैं, सो यह गुणोंपर उपद्रव है ज्ञान आत्मप्रभुपर यह उपसर्ग आया है, विभाव परिणमनका संकट है पर यह आत्मदेव तो स्वभावसे इतना उदार है, इतना गम्भीर है कि इसका तो केवल परिणमन करनेका व्रत है।

अलिङ्गग्रहणका बीसवां अर्थ :—अब अंतिम २० वां अर्थ बताते हैं कि जिसका लिङ्गरूप ग्रहण नहीं है। प्रत्यभिज्ञानहेतुक जो द्रव्य है उस द्रव्यका भी अंश है। और द्रव्यगुणपर्यायात्मक जो यह सत् है वह आत्मा है। उस आत्मदेवको समझानेके लिए जैसे पर्यायका भेद किया है, गुणका भेद किया है इसी प्रकार द्रव्यका भी भेद किया है। यह द्रव्यसे भी अनालीढ शुद्ध सत् स्वरूप है। ऐसे आत्माको अलिङ्ग ग्रहण जानो। इस तरह इस गाथामें इसमें अस्पर्श है, यह आत्मा एक अर्थ है और इसमें द्रव्य, गुण पर्याय ये तीनों अलिङ्ग ग्रहण शब्द का अर्थ समाप्त होता है।

पूर्व गाथामें आत्माका असाधारण लक्षण बताया गया था। उस लक्षणको सुननेके बाद जब शिष्य जिज्ञासु वर्तमान स्थितिमें दृष्टि देता है तो उसे एकदम शंका हो जाती है कि ऐसा चैतन्य स्वभावमय आत्मा, अलिङ्ग ग्रहण आत्मा रूपादिकरहित यह आत्मा बंधनोंमें कैसे जकड़ा हुआ है। इस जिज्ञासाको लेकर शिष्य यह प्रश्न करता है कि अमूर्त आत्मामें स्निग्ध और सूक्ष्मपना तो है नहीं फिर इसका कर्मों के साथ बंधन कैसे हो गया। इस

गाथा १७३, दिनाङ्क २४-३-६३]

प्रकार यह शंकारूप पूर्व पक्ष रखा जा रहा है ।

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बंधदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ १७३ ॥

मूर्त पदार्थ जो कि रूपादिक गुणोंसे सहित है वह तो स्निग्ध रूक्ष गुण रूप स्पर्शके कारण एक दूसरेसे परस्परमें बँध सकता है पर अमूर्त आत्मा, कैसे पौद्गलिक कर्मोंसे बँधता है ।

आत्मा व कर्मके बन्धके बारेमें प्रश्न :— यहाँ यह शंका उठाई गयी है कि पुद्गल चूंकि मूर्तिक हैं, दोनों रूपादिक गुणोंसे सहित हैं सो उनमें स्निग्धत्व रूक्षत्व स्पर्श विशेष होते हैं। इस कारण उनमें बंध निश्चित ही हो जाता है। पर आत्माका व कर्म पुद्गलका परस्परमें बन्ध हम कैसे निश्चित करें क्योंकि यह अमूर्त है आत्मा और कर्म पुद्गल मूर्तिक हैं। यद्यपि बंधका कारण भूत स्निग्धपना रूक्षपना कार्माणवर्गणाओंमें पाया जाता है, फिर भी आत्मामें नहीं पाया जाता है, तब आत्मा और कर्मका कैसे बंध होगा ? जिनमें स्निग्ध-पना रूक्षपना हो उनमें परस्परमें बंध हो सकता है ? यह प्रश्न रखा गया है।

भैया, पहिलेकी कुछ गाथाओंमें पुद्गल पुद्गलमें कैसे बंध होता है, यह सब वर्णन किया है। स्निग्ध और रूक्ष गुणामें इनकी डिग्रियां दो अधिक होने पर उनमें परस्परमें बंध होता है। यह बंधका नियम अणु-अणुमें है। स्कन्ध और स्कन्धमें परस्परमें नहीं है। याने एकाकी परमाणु और दूसरा भी एकाकी हो तो इसमें तो नियम है कि एक अणुमें स्निग्ध या रूक्षकी जितनी डिग्रियाँ हैं उससे दूसरेमें दो अधिक होना चाहिए तब उनमें परस्परमें बंध होता है। यह नियम परमाणु-परमाणुमें है और अन्य स्कन्ध स्कन्धमें भी इन बातोंसे भी संश्लेश होता है, पर वहाँ स्निग्धत्व रूक्षत्वका कोई नियम नहीं है। पुद्गलोंमें यह बात सम्भव है कि परस्परमें अवगाह हो लेगा जैसा कि पहिली गाथावोंमें बहुत वर्णन किया गया है। ऐसा स्निग्धत्व रूक्षत्व विशेष कर्म पुद्गलमें तो है किन्तु आत्मामें नहीं है तो बंधन कैसे हो जायगा ? बंधनके कारणभूत स्निग्धत्व रूक्षत्वके हथियारसे पुद्गल तो सुसज्जित है किन्तु आत्माके तो ये हथियार ही नहीं है, फिर इसका बंध कैसे हो जाता है। यह पूर्वपक्ष किया गया है।

शंकाका आधार :— यह शंका कैसे उठी कि पहिली गाथामें आत्माका जो लक्षण किया गया है वह सहज सत्त्वके कारण जैसा है उस स्वरूपसे वर्णन है। यह आत्मा रूपरहित है, रस रहित है, स्पर्शरहित व गंधरहित है और

अलिङ्गग्रहण है, चैतन्य रूप है। इस प्रकार स्वभावमय वर्णन किया गया है। वहाँ ऐसा प्रश्न हो जाना स्वाभाविक है कि ऐसा पवित्र शुद्ध ऐश्वर्यवान जो यह आत्मदेव है इसका बंधन कैसे होगया। कर्म तो उसे छू नहीं सकते तब फिर उसके परतन्त्रता कैसे आ गयी। ऐसा पूर्व पक्ष करके अब सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि अमूर्त होते हुए भी आत्माका इस प्रकारसे बंध हो जाता है।

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणदि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि ॥ १७४ ॥

यह आत्मा रूपादिकसे रहित होकर भी जैसे रूपादिक गुणवाले घट पट आदिक पुद्गल द्रव्योंको और इन द्रव्योंके रूपादिक गुणोंको जानता है, देखता है, इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यके साथ वन्धकी भी वात जानो यह इस गाथाका सीधा अर्थ है।

प्रश्नके उत्तर रूप प्रतिप्रश्न :—टीकामें पूज्यपाद अमृतचन्द्र जी सूरि कहते हैं कि जिस प्रकारसे रूपादिकरहित होते हुए भी यह आत्मा रूपी द्रव्योंको और उनके गुणोंको जानता है इसी तरह बंधनकी भी बात लग सकती है। एक प्रश्नके उत्तरमें एक प्रश्न खड़ा कर दिया जाय। पहिले प्रश्न हुआ कि अमूर्त इन मूर्त कर्मोंको कैसे बाँधता, अब उत्तरमें एक प्रश्न खड़ा करते हैं कि अमूर्तिक यह आत्मा इस मूर्तिक पुद्गलको कैसे जानता है? यह एक ऐसा प्रश्न उत्तर देनेके लिए रखा है। आत्मा अपने प्रदेशोंमें है अपनेसे बाहर जाता नहीं। दूसरे आत्मा अमूर्तिक है। यह अमूर्त आत्मा मूर्तिक पदार्थोंके वारेमें कुछ वातें करने चले, यह कैसे हो जाता है। ऐसा उत्तरमें प्रश्न रूप समाधान रखा है।

प्रश्नके उत्तरमें प्रतिप्रश्न :—जैसे कि प्रश्नकारकका प्रश्न था कि अमूर्तिक यह आत्मा मूर्तिक पदार्थोंसे कैसे बँध जाता है? तो इसका भी उत्तर वतलावो कि अमूर्तिक यह आत्मा मूर्तिक पुद्गलको जान कैसे जाता है। इसके समाधानमें यदि शंकाकार यह कहे कि इस चर्चाने तो प्रकृतिवादको ही घपलेमें डाल दिया यह अत्यन्त दुर्घट वात उपस्थित करके इसमें भी तो एक नया दृष्टान्त वना डाला, दार्ष्टान्त नहीं वनाया। इसको तो उत्तर दें कि दृष्टान्त के आधारपर प्रकट किया है। और हम क्या प्रकट करें यहाँ आवाल गोपाल भी वाल और गोपालके दृष्टान्तसे इसको समझ सकते हैं। आवाल गोपाल का अर्थ वालकसे लेकर ग्वाला तक है, जैसे पहिले चिट्ठियोंमें लिखते थे कि श्री

जय जिनेन्द्र वंचना

फलाने जी को व आबाल गोपाल को राम-राम बंचना, बुद्धिहीनोंको भी

इसका अर्थ है कि इसमें छोटी उमरके बच्चोंको भी कहा, बुद्धिहीन कहा, कमजोरोंको भी कहा अर्थात् सबको कहा। गोपालका अर्थ बुद्धिहीन कैसे है ? घरोंमें कहते हैं ना कि तुम न पढ़ोगे तो क्या गाय चराओगे ? याने वरेदी वनोगे ? माने बुद्धिहीन बनोगे। सो यहाँ कम बुद्धिवालोंको गोपाल और छोटी उमर वालोंको वाल कहा गया।

बालक व खिलोनेका दृष्टान्त :—जैसे एक बालक मिट्टीके बैलको देखता और जानता है और यह भी कहता है कि यह बैल मेरा है, यह खिलौना मेरा है तो यह बतलावो कि उस बच्चेका उस खिलौनेके साथ सम्बंध कहाँ से हो गया। और वह बच्चा ऐसा क्यों मानने लगा। जैसे प्रश्नकारने यह प्रश्न किया कि आत्मा तो अमूर्त है, फिर यह पुद्गल कर्मोंके साथ कैसे बँध गया। तो प्रतिप्रश्न है कि यह बच्चा तो अलग है और यह मिट्टीका बैल या खिलौना पृथक् अवस्थित है। उस पृथक् अवस्थित मिट्टीके खिलौनेको देखकर बच्चेमें जो यह बात बन गयी कि यह मेरा खिलौना है तो यह सम्बन्ध कैसे बन गया। जैसे तुम यहाँ बंधके बारेमें प्रश्न करते हो तो हम पूछते हैं कि उस बच्चेमें और उस मिट्टीके बैलमें सम्बन्ध कैसे बन गया। हमें तो आश्चर्य हो गया कि कहाँसे यह सम्बन्ध निकल बैठा।

ग्वाला व बैलका दृष्टान्त :—भैया ! इसी प्रकार गोपाल भी अपने बैलोंको देखता ही तो है, जानता ही तो हैं। उनके साथ कोई सम्बन्ध तो नहीं है। पर वहाँ भी सम्बन्ध कैसे बन गया है। वह कहता है कि यह मेरा बैल है सो ऐसा सम्बन्ध उनमें कैसे बन गया। तो सम्बन्ध जो बना है वह वास्तव में है नहीं, किन्तु विषय भावमें आया हुआ जो वह बलीवर्द है, खिलौना है तो उसका निमित्त पाकर उपयोगमें बैलका आकार अधिरूढ़ होता है, ग्रहण होता है। वह दर्शन ज्ञानका सम्बंध बलीवर्दके सम्बंधका साधक होता है। परमार्थसे यहाँ मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है।

परके जाननका सम्बन्ध :—भैया ! हम तो अमूर्त हैं। हम इस चौकीको कैसे जान सकते हैं। हम जितना उद्योग करते हैं अपने ही आत्मप्रदेशोंमें करते हैं। हम इस चौकीमें क्या उद्योग करेंगे। फिर यह कैसे बन गया कि मैंने इस चौकीको जान लिया। चौकीको जाननेका सम्बंध कैसे बन गया है। इनका अर्थात् आत्माका व चौकीका परस्परमें अत्यन्ताभाव है उनका जैसे यहाँ जानन होता है तो इस चौकीका निमित्त पाकर, आश्रयभूत

विषयभाव रूप निमित्त पाकर जो उपयोग उस चौकीके आकारका ग्रहण रूप होता है, दर्शन होता है, जानन होता है, ऐसा जो यह अपने आपका परिणमन है वह परिणमन चौकीके सम्बन्धके व्यवहारको सिद्ध करता है।

आत्मा व कर्मके बन्धका सम्बन्ध :—इसी प्रकार आत्मा तो अरूपी है स्पर्शसे शून्य है, इसका कर्म पुद्गलके साथ सम्बन्ध नहीं है। इस तरह मान कर चलें तो यों देखें कि इसबंधनमें भी तो आत्माका पुद्गलके साथ सम्बंध नहीं है, किन्तु एक क्षेत्रावगाहमें अवस्थित कर्म पुद्गलका निमित्तपाकर उपयोगमें जो रागद्वेष आदि भाव अधिरूढ़ होते हैं यह सम्बन्ध कर्म पुद्गलके बंधके व्यवहारका साधक है ही।

स्थूल सम्बन्ध :—और मोटे दृष्टान्तमें चलो। घरमें कोई पुरुष स्त्रीसे या पुत्रोंसे बहुत बँधा रहता है। उनके कहनेके अनुसार चलता, स्त्री और पुत्रों के सुखी रखनेके लिए बहुत-बहुत भावात्मक यत्न करता, उन्हें छोड़ कर नहीं जा सकता ये सब बंधन कहलाये। वह पुरुष तो बिल्कुल अलग है। अपने स्वरूपमें है, पर वह स्त्री और पुत्रोंसे बँध कैसे गया ? एक प्रश्न हुआ। जब भिन्न-भिन्न क्षेत्रमें हैं, जब उनका भिन्न-भिन्न अस्तित्व है तो वह पुरुष पुत्र व स्त्रीके और स्त्री व पुत्र पुरुषके बंधनमें कैसे बँध गया। तो कहिये यों बंध गया कि स्त्री और पुत्रादिका निमित्त पाकर, विषय बनाकर उपयोगमें जो प्रीतिरूप परिणमन होता है वह प्रीतिरूप परिणमनका भाव स्त्री पुत्रोंके सम्बन्धके व्यवहारका साधक है। परमार्थसे उस पुरुषका स्त्री पुत्रोंके साथ किसी भी प्रकारका बन्धननहीं है।

बन्धन की विचित्र प्रकृति :—इसी प्रकार इस बंधन अवस्थामें भी इस पद्धतिसे बंधन देखना चाहें कि जैसे पुद्गल-पुद्गल परस्परमें स्निग्ध रूक्ष गुणोंके कारण बँध गये, इसी प्रकार यह आत्मा भी कर्म पुद्गलसे परस्परमें जकड़ गया है। इस पद्धतिसे यदि देखो तो इस तरहका बंधन आत्मामें नहीं है, लेकिन जहाँ आत्मा जाता है वहाँ कर्म भी जा रहे हैं। मरने पर आत्मा जन्म स्थान पर जाता है तो उसके साथ ये कर्म भी जा रहे हैं। ये क्यों जा रहे हैं। बंधन तो है ही नहीं।

भैया ! उनमें जो बंधन है सो एक क्षेत्रावगाह तो है, साथ ही परस्पर निमित्त नैमित्तिक रूप विशिष्ट बंधन है। जैसे कि कर्मोंके विपाकका निमित्त पाकर रागद्वेष परिणमन यहाँ हो जाता है इसी प्रकार कर्मोंमें भी ऐसी आदत है, ऐसी प्रकृति है कि जीवके विभावोंका निमित्त पाकर कर्म पुद्गल

भी प्रकृति स्थिति अनुभागमें अधिष्ठित होकर एक क्षेत्रावगाहमें रहा करते
हैं। यह वस्तुवोंका ऐसा स्वभाव है और स्वभाव तर्कगोचर नहीं है। जहां
तक स्वभावका विश्लेषण भी चल सकता हैं, वहाँ तक उनके परिणमनमें
युक्तियाँ होती हैं। सो होती है, पर बहुत मूलमें युक्तियाँ नहीं चलती हैं। जैसे
जीव और कर्मोंका अनादिकालसे सम्बंध चला आ रहा है, परम्परासे द्रव्यकर्मो
का निमित्त पाकर भाव कर्म होते हैं और भावकर्मोका निमित्त पाकर
द्रव्यकर्म होते हैं। किन्तु सबसे पहिले ऐसी व्यवस्था बनी क्यों ? ऐसा हो
ही क्यों रहा ? जीव तो स्वभावमें रहता हुआ स्वयं अनादिसे ही अलग है
और कर्म पुद्गल स्वयं अपने स्वरूपमें अनादिसे अलग है। फिर ऐसा बन्धन
क्यों हो गया है ?

प्रकृति का दृष्टान्त :—भैया ! कितनी ही चीजें ऐसी होती हैं जिनके
स्वभावमें युक्ति नहीं जाती हैं। जैसे जरा वृक्षोंकी निगरानी करें, वृक्षोंकी
पत्तियाँ चखें, तो नीमकी पत्ती कड़वी होती है और तुलसाकी पत्ती चरपरा
होती है। यहाँ नीमकी पत्तियोंमें कडुवापन क्यों है ! क्या युक्ति दें ? ऐसा
होनेका स्वभाव है। यह कहना चाहिये कि इनकी प्रकृति ही यों है।
स्वभावमें और प्रकृतिमें अन्तर है। स्वभावका ही नाम प्रकृति नहीं है।
स्वभाव तो अनादि अनन्त अहेतुक होता है। प्रकृति जैसी पर्यायमें है उस
पर्यायके रहते हुएमें उस पर्यायका जो स्वभाव है उसको प्रकृति कहते हैं।
प्रकृति नाम है पर्यायस्वभावका और स्वभाव नाम है द्रव्यस्वभावका।

प्राकृतिकताकी कर्मोदयोद्भूति :—जैसे कोई पहाड़ बड़ा सुन्दर लग रहा
है, अच्छी-अच्छी झाड़ियाँ खड़ी हैं, वृक्ष खड़े हैं कहींसे पानी बह रहा है,
कहींसे झरना फूट रहा है, इन सब बातोंको देखकर कह देते हैं कि कितना
सुन्दर प्राकृतिक सौन्दर्य है। वह प्रकृति क्या है ? वह प्रकृति मूलमें तो कर्म
प्रकृति है। विशिष्ट-विशिष्ट निमित्तभूत कर्मोकी प्रकृतिके उदयमें ऐसी-
ऐसी रचनाएं यहाँ होती हैं तो जो ये रचनाएं होती हैं उनकी सुन्दरताका
कारण नामकर्मकी प्रकृति है। जल बह रहा है तो उसका सृष्टिका भी
कारण, निमित्त कर्म है। पत्ता कोई पीला है, कोई लाल है, कोई हरा है,
विचित्र-विचित्र पुष्प भी हैं यह सब सृष्टि निमित्तभूत कर्मोके विपाकसे
होती है। यह सब सुन्दरता कर्मप्रकृतिकी है। इसीको प्राकृतिक सौन्दर्य
कहते हैं। तो यह जो प्रकृति नजर आती है यह पर्यायस्वभाव है, द्रव्य-
स्वभाव नहीं है तो नीमकी पत्तियोंकी प्रकृति कडुवापन है और तुलसीके

पत्तोंकी प्रकृति चरपरापन है। यह प्रकृति इसमें यों क्यों आई ? तो लोक व्यवहारमें इसका उत्तर नहीं है।

स्वभावमें तर्क नहीं :—अब प्रकृतमें भी सोचो, इस आत्मामें यह वात क्यों आ गई कि जो ज्ञेय पदार्थ होते हैं, सत् पदार्थ होते है उनके ज्ञेयाकार का अर्थविकल्परूप ग्रहण हो जाता है अर्थात् वह जैसा है उस रूप यह जानन वन जाता है यह भी क्यों हो जाता है। इसमें क्यों नहीं चल सकता। यहाँ इस हद तक तो क्यों चला कि आखिर वच्चेका खिलोनेके साथ कुछ सम्वंध तो है नहीं, पर उनका सम्वंध कैसे वन गया ? तो उसका उत्तर वताया गया है कि खिलोनेका विपयभूत निमित्त पाकर जो वच्चेकी आत्मामें उस आकाररूप ग्रहण होता है, यह ग्रहण उस खिलोनेके सम्वन्धके व्यवहारका साधक है। और देखिए। यह चश्मा आपका है, यह चश्मा मेरा है, यह विभाग कैसे हो गया ? जव चश्मा पदार्थ विल्कुल अलग है और आप विल्कुल अलग हैं तो इन चश्मोंमें से एकको तो कहा कि यह मेरा है और एकको कहा कि यह उसका है, यह सम्वंध कैसे वन गया। यह सम्वन्ध इस कारण वना कि उस पदार्थका विषय वनाकर आपमें जाननरूप परिणमन हुआ और रागका मिश्रण है, सो इस आपके आपमें होनेवाले परिणमन के माध्यमसे यह सम्वंव प्रकट होता है कि यह चीज मेरी है, अन्यथा सम्वंध तो कुछ है नहीं।

निमित्त नैमित्तिकभावपर बंधकी निर्भरता :—इसी प्रकार एक क्षेत्रावगाह में रहने वाले पुद्गल कर्मोंका निमित्त पाकर उपयोगमें जो रागद्वेष आदि भाव सवार हो गये हैं उन भावोंका सम्वंध कर्मपुद्गलके वंधव्यवहारमें साधक होता ही है। एक यदि यह निमित्त नैमित्तक सम्वन्ध न हो तो कर्मों के वंधनकी सिद्धि हो ही नहीं सकती थी। कैसे वंधन हो गया। भावकर्म और द्रव्यकर्मों के विकाशका, विकारका यदि यह निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध न होता तो कर्म वन्धनकी सिद्धि आप किसी प्रकारसे न कर सकते थ, क्योंकि आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त हैं।

कर्मप्रसंगमें विभावका माध्यम :—मूर्त कर्म अमूर्तको तो छू ही नहीं सकते फिर उसका वंधन किस प्रकारका है ? उसका समाधान यह है कि आत्मा का और पुद्गल कर्मोंका वंधन पुद्गलकी भाँति चपेटे समेटे हुए का नहीं है, यह तो उन कर्मपुद्गलोंका स्वभाव है कि वे वर्गणायें कर्मत्वमय होकर एक क्षेत्रावगाहमें रहा करती है। उनकी प्रकृति है पर उनका जो वंधन होता

है वह रागद्वेष भावोंके कारण माना गया है। सो जैसे वाह्य पदार्थोंके साथ हमारा सम्बंध नहीं है फिर भी जाननेके माध्यमपर सम्बन्ध कहा जाता है, इसी प्रकार मेरा और कर्मपुद्गलोंका सम्बंध नहीं हैं फिर भी विभावके माध्यमपर वंधन कहा जाता है। उस बन्धका कारण आत्मामें होनेवाली विशेष वृत्ति है। जो रागद्वेषभाव उत्पन्न होता है वह कर्मवंधका व्यवहार सिद्ध करता है।

बन्धनके समाधानका उपसंहार :—अब मोटी सीधी साधी भाषामें समझो तो वन्ध तो लगा हुआ ही है, अन्यथा दुःख क्यों होते। जैसे बच्चेका वैल वाला खिलौना टूट जाय या कोई छुड़ा ले तो बच्चा दुखी होता है तो मालूम पड़ता है कि बच्चाको खिलोनेका बन्धन है। यहाँ भी वास्तवमें है तो भावात्मक वन्धन, पर वन्धन तो है ही। इसी प्रकार इष्ट वस्तु नष्ट होजाय, कोई छुड़ाले तो वहाँ भी कितना क्लेश होता है सो मालूम पड़ता है इसको भौतिक पदार्थका बन्धन है, । है यहाँ भी भावात्मक बन्धन, पर बन्धन तो है ही। यह भाववन्धन द्रव्यवन्धनको सिद्ध करता है, वाहरी आश्रयभूत भोगसाधन रूप द्रव्यका वन्धन तो अन्वयव्यतिरेक वाला नहीं है, और होना चाहिये कोई अन्वयव्यतिरेकवाला द्रव्यवन्धन, । वह वन्धन द्रव्यकर्म है।

उक्त गाथामें अमूर्तिक आत्माका बंध कैसे होता है इस सिद्धान्तको कहा है। सो द्रव्यबंधका हेतु भाववंधको वताया या विभावको वताया। अब उस भाववंधके स्वरूपको कहते हैं।

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबद्धो ॥ १७५ ॥

यह उपयोगमयी जीव नाना विषयोंको पाकर राग करता है, द्वेष करता है, मोह करता है। यद्यपि यह जीव निश्चयनयसे विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोग-मयी है फिर भी अनादिपरम्परागगत बंधके वशसे उपाधिसहित स्फटिक मणिकी तरह पर उपाधिभावरूपसे परिणत होता हुआ नाना विषयोंका आश्रयकर रागद्वेष करता है, मोह करता है और इस कारण निज शुद्ध ज्ञायक स्वभावमय परमधर्म को न प्राप्त करता हुआ उन रागद्वेष मोह भावोंसे वंध जाता है।

उत्कृष्ट विभूति :—भैया ! अपना शुद्ध सहज जो ज्ञान स्वभाव है उसका दर्शन हो और उसमें ही उपयोग रमानेमें संतोष प्रतीत करे तो ऐसी स्थिति ही उत्कृष्ट विभूति है। जहाँ इस निज घरसे वाहर निकले वाह्य वस्तुवोंकी

और उपयोग लगाया तो चूँकि अपने घरसे रीता हो गया ना, सो दर-दर भटकता फिरता है जैसे कोई अपने घरसे रूठकर, घर छोड़कर भाग जाता है, जगह-जगह ठोकर खाता है; इसी प्रकार यह आत्मा अपने निजी प्रदेश क्षेत्रको छोड़कर अपने निज स्वरूपकी दृष्टिको छोड़कर, रूठकर, अज्ञानी बन कर कषायोंसे रंजित होकर बाहर घूमता है, बाह्य पदार्थोंको ताकता फिरता है, तो यह भी दर-दर भटकता फिरता है। अधोलोकसे लेकर ऊर्द्ध्व लोकके अंत तक समस्त लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जिस प्रदेशमें यह जीव अनन्ते बार जन्म न ले चुका हो, मरण न कर चुका हो फिर भी इस अज्ञानी, मोहीका यह कुटेव रहा कि जिस नगरमें है, जिस क्षेत्रमें है वहांके रहनेवाले लोगोंमें अपना कुछ महत्त्व रखना चाहता है। ये रागद्वेष मोह पर उपाधि वश होते हैं, आत्माका तो स्वभाव, स्वाभाविक परिणमन स्वच्छ है, शुद्ध है, ज्ञाता द्रष्टामात्र है, किन्तु अपनेही अपराधके कारण उपाधि व विभाव का विकट बन्धनहो गया है।

आत्माके साथ वास्तविक बंधन मात्र विभाव :—वस्तुतः जीवके साथ भावोंका बन्धन लगा है, किसी अन्य चीजका बन्धन नहीं लगा है। भला बतलावो कि जब यह प्रश्न किया था कि इस अमूर्त आत्माके साथ इन पौद्गलिक कर्मोंका बन्धन कैसे सम्भव है तो उसके उत्तरमें तब यही कहना पड़ा कि द्रव्यरूपसे तो बन्धन नहीं है पर निमित्त नैमित्तिक भावोंकी पद्धतिमें पर पदार्थोंका आश्रय करके जो ज्ञेयाकार उपयोग परिणत होता है उस परिणमनसे उस पदार्थका सम्बन्ध कहा जाता है। भला ऐसा साथ लगे हुए कर्मोंके बावत भी जब द्रव्यकी स्निग्धता रूक्षता आदि गुणोंके कारण बंध नहीं बँध सकता तो बाह्य पदार्थोंका तो इसके साथ बंधन ही क्या है। क्या घरका बंधन है या स्त्री पुत्रोंका बंधन है। या लोगोंका बन्धन है? किसीका बन्धन नहीं है। अपने भावोंसे अपनेको बाँध लिया है। इस बन्धन में बाह्य पंचेन्द्रियविषय निमित्तभूत होते हैं। जिन्हें ठीक शब्दोंमें आश्रय कहना चाहिए। यद्यपि इस मुझ आत्माका स्वरूप निर्विकल्प है, विषयोंसे परे है, केवल ज्ञायकत्व ही स्वभाव है। लेकिन जब हम अपने शुद्ध स्वभाव की भावना न कर सके, अपने प्रभुका आदर न कर सके तो इसके विषयभूत जो पंचेन्द्रियके विषय हैं, उनके उपद्रव सहनेकी नौबत आती ही है।

उपयोगविशेष :—यह जीव उपयोगमय है और अज्ञानसे उपयोगविशेष से विशिष्ट हो जाता है सो बाह्य पंचेन्द्रिय विषयोंको आश्रयभूत बनाकर

रागरूप, द्वेषरूप, मोहरूप परिणमते हैं। ऐसा परिणमता हुआ यह जीव अर्थात् रागद्वेष मोहरूप परिणमता हुआ यह जीव अपने निर्मोह स्वभावको न पाता हुआ, रागद्वेषरहित केवल ज्ञानवृत्तिमें परिणत ऐसे आत्माको न पाता हुआ यह जीव बँध जाता है। जैसे अपनी भूलके कारण कोई अरबोंकी कीमत के रत्नको, धनको लुटा देता है,और लुट गया इतना ही नहीं किन्तु बड़े संकटों में पड़ जाता है इसी प्रकार अनन्त ऐश्वर्यका स्वामी यह प्रभु लुट गया, और लुट गया इतना ही नहीं किन्तु नाना संकटोंमें पड़ गया। यह सब एक अपने परमात्मस्वरूपकी भावनासे हट जानेका फल है। भाव बंध ही इस जीवको बाँधे हुए है। वह भाव बंध रागद्वेष मोह रूप परिणाम है।

बंधन व द्वैतभावका कारण उपयोगविशेष :—कैसे इस जीवके अन्दर होगया अपनी ही बातोंसे अपने आपका बंधन ? इसका मुख्य कारण है उपयोग विशेष। यह आत्मा चैतन्य स्वरूप है वह चैतन्य स्वरूप निर्विकल्प स्वसवेदन-गम्य है, ऐसा ही इस आत्माका स्वरूप है, स्वभाव है, सत् ही ऐसा है, इसमें क्यों नहीं लग सकते हैं ? ये पुद्गल रूपवान क्यों हुए और यह मैं सत् ऐसे उपयोग वाला क्यों हुआ ? पदार्थ ही इस प्रकारके हैं। तो मैं उपयोगमय हूँ। सो जो उपयोग नाना प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंको पाकर मोह, राग और द्वेष को प्राप्त करता है वही मूलमें एक स्वरूप होकर भी उस भावकी द्वितीयता हो जानेसे बंधन कहलाने लगता है जैसे किसी पुरुषको कोई गड़बड़ या अपराध की बात आ जानेपर कहते हैं कि हम तो इसको वही समझते थे किन्तु आज यह दूसरा हो गया, अभी तक तो हम अपना जानते थे पर आज दूसरा बन गया। यह आत्मा मेरे लिए यह मैं ही एक था पर यह देखो दूसरा बन गया।

मूलसे ही यह मैं कुछसे कुछ दूसरा :—अहो भैया! कैसा सुशील कैसा आनन्द-मय यह मैं था, आज इसकी कैसी परिणति है। यह आज दूसरा बन बैठा। तो यह भाव द्वितीय बनकर यही स्वयं आत्मबन्धन हो जाता है। हिम्मत हो, साहस हो, एकत्वकी दृष्टि हो तो बन्धन मेरा समाप्त हो सकता है, जैसे ईंधनको डाल डालकर अग्निको शांत नहीं किया जा सकता इसी प्रकार बहिमुर्खताकी स्थिति करके बाह्य अर्थोंमें रति और अरति बढ़ाकर चाहें कि स्वच्छता और शांति आ जाय सो कभी नहीं आ सकती। यह भाव ही विकट बन्धन है जैसे यह द्रव्यकर्मका बन्धन बँधा, ये द्रव्यकर्म इस जीवके साथ लगे वह द्रव्यकर्मकी स्वयं एक प्रकृति है। जिस द्रव्यकी जैसी जो प्रकृति होती है वह होती है, प्रकृति तर्कगोचर नहीं होती।

बन्धनके प्रसंगमें आत्मामें मात्र विभाव की करतूत :— इस जीवने इन कर्मों को किसी प्रकार बांध रखा हो, अपनेमें लगा रखा हो सो इसमें ऐसी कला नहीं है। इसमें तो केवल यह भला है कि विभाव रूप परिणाम जाय, गंदे विचार बना डाले। बस इतना काम इसमें हुआकि जो कुछ परमें होता है वह स्वयं उनके अपने आपसे होता है। जैसे पिटनेवाला लड़का किसी बड़े लड़केका हाथ झकोरकर अपनी ओर प्रवृत्ति कर उससे अपनेको नहीं पिटाता, उस लड़केका तो इतना ही काम है कि अपने गाल बजाये, दो चार गालीकी बातें निकाल दे। बस, उसका काम इतनेमें ही समाप्त हुआ। अब जो कुछ होता है घूँसे, तमाचे लाठी आदि जो कुछ लगना है वे सब लगते हैं पर इसने तो केवल इतना ही किया कि गालियाँ देदी। दुर्वचन बोल दिया। यों ही इस जीवने तो केवल अपना परिणाम बिगाड़ा। यह द्रव्य कर्मोंको खींचकर लाये या अपने आपके प्रदेशोंमें विस्रसोपचयरूपसे रहनेवाले इन कर्मोंका कर्मत्व रूप परिणमन करा दे। ये सब काम जीवके नहीं हैं। जीवका काम तो इतना ही है कि वह अपना विभाव परिणमन बनाता है फिर जो पर द्रव्यमें होना होता है वह उनकी परिणतिसे अपने आपमें होता है।

विभावकी गन्दगीपर कर्मसंचय प्राकृतिक :— जैसे मैले गंदे सिरवाला पुरुष जंगलसे विचरता है तो मक्खियाँ उसके सिरपर अपने आप भिनभिनाती हुई उसके साथ चलती रहती हैं। इसी प्रकार मोह भावोंमें परिणमते हुए इस जीवके ऊपर ये द्रव्य कर्मोंकी मक्खियाँ भिनभिनाती हैं और उसके साथ-साथ चलती हैं। जैसे वह गंदा सिरवाला मक्खियों को प्रेरणा नहीं देता, उनको पकड़कर अपने पास नहीं ले आता पर उसका तो इतना ही काम था कि गंदा बना रहना, फिर जो कुछ होता है, मक्खियोंका आना, भिनभिनाना, चिपकना, यह सब उन मक्खियोंमें ही हो रहा है, वहाँ यह पुरुष कुछ नहीं करता ऐसे ही आत्मा तो एक गंदा परिणाम करता है, रागद्वेष मोह रूप परिणति बनाता है, बस इसकी बात यहीं समाप्त होती है। इसके आगे इसका व्यापार नहीं चल सकता, लेकिन ऐसी स्थितिका निमित्त पाकर ये कार्माण वर्गणाएं स्वयं कर्म रूप परिणाम जाती है।

प्रत्येक द्रव्यमें प्रभुता :— प्रत्येक पदार्थ प्रभु हैं, समर्थ हैं, चैतन्य होनेके कारण इस चेतनाके गुण गाये जाते हैं। यह बहुत बड़ा ऐश्वर्यशाली है, प्रभु है। प्रभु कौन नहीं है? क्या परमाणु प्रभु नहीं हैं? क्या धर्म, अधर्म, आकाश प्रभु नहीं हैं? इसकी भी महिमा अचिन्त्य है। इस परमाणुका भी पार पाना

कठिन है। इन आकाश आदिकका भी पार पाना कठिन है। तो जैसे कर्म विपाकोंका निमित्त पाकर यह आत्मा विभावरूप परिणम जाता है इसी प्रकार इस विभाव.ा निमित्त पाकर ये पुद्गल प्रभु भी, कार्माण वर्गणाएँ भी नाना प्रकृतियोंको, नाना स्थितियोंको, नाना अनुभागोंको पैदा कर लिया करते हैं।

बन्धन की द्रव्यपर्यायता :—सो भैया! जीवके जो बन्धन होता है वह उसकी अपनी गल्तियोंसे, अपने भावोंसे होता है। पुद्गलोंका बंधन होता है तो पुद्गलकी ही उस प्रकारकी योग्यतासे स्निग्धता रूक्षताकी वजहसे स्कंध परिणमन रूप बन्धन होता है, पर कार्माण वर्गणाओंका कर्मत्व रूपसे परिणमन हो जाना यह स्निग्ध रूक्षताका काम नहीं, यह कार्माण वर्गणाओं में उनकी ही जैसी एक अचिन्त्य शक्तिका काम है। यह कर्मत्व पर्याय न तो रूप गुणका परिणमन है न रसका परिणमन है, न गंधका परिणमन है न स्पर्शका परिणमन है। इन चारों गुणोंका जो परिणमन है वह पुद्गलका अर्थ पर्याय है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी इसमें बीतता है, जैसे सूक्ष्म हो जाना, स्थूल हो जाना, बंधनमें बंधना इत्यादि जो भी और परिणमन होते हैं वे सब द्रव्यपर्याय कहे गये हैं। इस कारण यह कर्मत्व परिणमन अर्थपर्याय तो नहीं हैं, किन्तु द्रव्यपर्याय है। पर द्रव्यपर्याय भी कितने ऐसे अन्तरंग मर्म को लिए हुए होते हैं कि उनका विश्लेषण करना कठिन हो जाता है।

सामान्यतः अर्थपर्यायकी शाश्वतिकताका नियम :—अर्थ पर्याय वह होता है जो कुछ न कुछ प्रत्येक परिस्थितिमें बना ही रहे। किस ही रूप बना रहे। जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्शका परिणमन, चाहे पुद्गल स्कंधरूप हो चाहे स्वतंत्र भिन्न हो, सदाकाल कुछ न कुछ बना रहता है। वास्तवमें रूप, रस, गंध, स्पर्श का परिणमन पुद्गलका अर्थपर्याय है। जो परिणमन कभी हो, कभी न हो,वह उसका अर्थ पर्याय होता ही नहीं। वे सब द्रव्य पर्यायमें आते हैं। जैसे कोई चीज कभी सूक्ष्म है तो कभी स्थूल है। यह भी जैसे कभी कर्मरूप है तो कभी कर्मरूप नहीं है। तो बड़ी अनोखी यह द्रव्य पर्याय है। जैसे छाया, रूप तक की भी पर्याय नहीं है। कोई पदार्थ सफेद जैसे चाँदी है। रात्रिके समय अंधेरे में जब बिल्कुल नहीं दीखता हो, कमरेमें रखी है उस पर अत्यन्त काला विकट अंधेरा छाया हुआ है, ऐसा होने पर भी चाँदीपर अंधेरा है। क्या वह रूपगुण का परिणमन है? रूप गुणका परिणमन नहीं है, वह द्रव्यपर्याय है। तो कार्माण वर्गणायें भी जीवके विभावोंका निमित्त पाकर कर्मत्व पर्याय रूपसे परिणत हो जाती हैं। सो कर्म द्रव्यपर्याय है।

ज्ञानन मात्र जीवका ऐश्वर्य :—यदि कोई केवल ज्ञाता द्रष्टा रह सके तो इसने सर्व श्रेय पा लिया। इतनी बात न आ सकी तो जिनमें दृष्टि लगाई है वे शरण तो हो नहीं जायेंगे, केवल इसका भटकना ही रहेगा, जिस भटकनेपर दृष्टि दें, तो हृदय थर्रा जाता है। कितनी तरहके जीव हैं और किन व्यवहारों में आने वाले। उभय शत्रुवोंकी ओर भी देखो, लो कैसे कटपिट मर रहे हैं। दिखनेमें आने वाले पशुवोंको भी देख लो—ये सूकर, मुर्गा, इनका तो लोगों ने एक ही उपयोग समझ रखा है उनको बुरी तरहसे मारना और खाना। कोई अन्य प्रकारका उपयोग ही नहीं निकालना चाहते। नई-नई विचित्र दशाएँ जिन सबकी जो नजर आती हैं क्या ये जीव कुछ मेरे स्वरूपसे भिन्न प्रकारके पदार्थ हैं? ऐसे ही तो हम हैं, ऐसे ही तो हम हुए थे। इस स्वरूप सदृशताकी दृष्टिसे वे सब भी तो हमारे ही जैसे स्वरूप वाले हैं।

निर्मोहतासे ही जीवनकी सफलता :—भैया! बड़ी जिम्मेदारीकी मानव जीवनकी स्थिति है। अपनेको समझ सके तो आगे बढ़ेंगे, नहीं तो पतन ही पतन है। हमारा बंधन हमारे भावोंका है, भूलका है। अहो! जैसे जगतके अनन्ते जीव हैं उनमें ममताका परिणाम नहीं होता, ऐसे ही अपने निकट बसनेवाले घरमें इकट्ठे हुए जीवोंके प्रति भी हम आपकी ठीक श्रद्धा होनी चाहिये कि जैसे अत्यन्त पृथक अनन्ते जीव हैं ऐसे ही अत्यन्त पृथक् ये जीव हैं, इनमें ममता न हो। यह बन्धन अपने मोह, राग, द्वेष भावोंका है।

बंधके प्रकार :—सिद्धान्तमें तीन प्रकारके बंध कहे गये हैं। (१) जीवबंध, (२) कर्मबध और (३) उभयबंध। जीव बंधका अर्थ है कि यह उपयोगमय जीव ज्ञायकस्वभावी यह जीव अपनी भाववृत्तियोंसे उस कालमें तन्मय होकर बध गया है व्याप्य है। जीवकी ही कोई बात जीवकी ही किसी बातसे बँध जाये उसे जीवबंध कहते हैं। जो कर्म, कर्मसे बँध जाय उसे कर्मबन्ध कहते है और जीव और कर्म एक क्षेत्रावगाहमें स्थित हो जाये, एक क्षेत्रावगाह रूप विशिष्टतर बंधन हो जाय उसको उभयबंध कहते हैं। मगर यह विशिष्ट जातिका एक क्षेत्रावगाहका जो परिणमन अथवा बंधन होता है वह बन्धन द्रव्य, द्रव्यके नातेसे नहीं होता है, किन्तु निमित्त नैमित्तिक भावरूपके नातेसे होता है।

आस्रवका स्वरूप :—वास्तवमें आस्रव क्या है? अज्ञानपरिणाममूलक रागद्वेष मोहरूप विभाव आस्रव है। अज्ञान परिणामके कारण रागद्वेष मोह हुआ है। राग, द्वेष व मोह अज्ञानसे कुछ अलग चीज नहीं है फिर भी

विशेष दृष्टि करके देखें तो अज्ञानका ही नाम रागद्वेष मोह नहीं है। रागद्वेष मोहका स्वरूप और है, अज्ञानका स्वरूप और है। हां इनमें अविनाभाव है, अधिनिष्ठता है। सो अज्ञान मूलक तो रागद्वेष मोह है, और रागद्वेष मोह की सैन पाकर विपाकसमयमें आये हुए पुद्गल कर्मोंने इन नवीन कर्मोका आश्रव किया है।

नवीन कर्मोंकी साक्षात् आस्रावकता :—नवीन कर्मोका साक्षात् आश्रव करनेवाला कौन है। नवीन कर्मोका साक्षात् आस्रव उदयागत कर्म करते हैं और उदयागत कर्मों में नवीन कर्मों के आश्रवणकी कला की जो शक्ति आती है, वह आती है रागद्वेष मोहका निमित्त पाकर। उदयागत कर्म रागद्वेष मोहका निमित्त पाकर ऐसे प्रभु बन जाते हैं कि वे नवीन कर्मों के आश्रवण करनेवाले हो जाते हैं। लेकिन एक बात और सोचिये कि ग्रन्थोंमें प्रायः रागद्वेष मोहको आवश्रण करनेवाला कहा है अर्थात् नवीन कर्मोके आश्रवण का निमित्त बताया है। सो इन दोनों कथनोंका इस प्रकार समन्वय है कि नवीन कर्मोके आश्रवणके निमित्तभूत उदयागत द्रव्यकर्मोंमें निमित्तपना इन उदित राग द्वेष मोह भावोंके निमित्तिसे प्रकट हुआ है। इस कारण नवीन कर्मों के आस्रवका मूल निमित्त रागद्वेष मोह भाव है।

आस्रावकके विवरणमें हृष्टान्त :—जैसे कोई पुरुष चला जा रहा है, कुत्ता उसके साथ है। किसी भी जानवरपर या पुरुषपर वह कुत्ता हमला करता है तो हमला करनेवाला तो कुत्ता है मगर कुत्तेमें हमला करनेकी बात आ सकी इसका निमित्त मालिककी सेन है। जहाँ मालिकने छू, ऐसा कहा, उसका निमित्त पाकर उस कुत्तेमें वह बल प्रकट होता है कि वह दूसरेपर हमला कर देता है। इसी तरह राग द्वेष मोह होना मालिककी तरह है तथा नवीन कर्मोका आश्रवण होना उस घटनाकी तरह है। यह उदयागत कर्म राग द्वेष मोह की सैन पाकर अपने आपमें ऐसी प्रभुता प्रकट करता है कि वह नवीन कर्मोका आश्रवण कर लेता है।

स्वतन्त्रता होकर भी निमित्त नैमित्तिक भाव की व्यवस्था :—किसने अछूते ये सब पर द्रव्य हैं। फिर भी सब द्रव्योंमें काम चल रहा है, एटोमेटिक सब काम चल रहा है, सारे विश्वकी व्यवस्था चल रही है अनुकूल पर द्रव्यको निमित्त मात्र पाकर। जैसे किसी मीलमें मशीनवाले मशीनपर अपनी प्रवृत्ति कररहे हैं, सूतवाले सूतकी जगहपर प्रवृत्ति कररहे, कहीं सूत टूटा वहीं जोड़ दिया। हजारों आदमी अपनी-अपनी ड्यूटीमें व्यस्त हैं। कोई दूसरेको

सम्हालमें नहीं जुटा पर वह मीलका इतना बड़ा काम व्यवस्थापूर्वक चल रहा है। करने वाले पृथक् पृथक् अपना काम कर रहे है। इसी प्रकारमें जीव भी अपना-अपना काम कर रहे हैं इसीसे यह व्यवस्था संसार की बनी चली जा रही है चली जावो, पर यहाँ जितना भी बंधन है, सब भावोंका बधन है। यह जीव अपने विभावसे ही पराधीन है।

निमित्त नैमित्तिक भावके बन्धकी साधकता :— बंधके प्रकरणमें पहिले यह प्रश्न किया गया था कि अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्मोंके साथ बंधन सम्बंध कैसे हो जाता है। उसका सबसे पहिला उत्तर यह था कि जिस पद्धतिसे अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक पदार्थोंके साथ जानन सम्बंध बनता है उस ही पद्धतिसे अमूर्तिक आत्माका द्रव्यकर्मके साथ बन्धन सम्बन्ध बनता है अर्थात् जैसे आत्माका ज्ञेय पदार्थोंमें अत्यन्ताभाव है फिर भीं यहाँ लोग कहते हैं कि यह बैल मेरा है, यह खिलौना मेरा है, तो यह सम्बंध कैसे बन गया? इस सम्बंधका कारण उन पदार्थोंके ज्ञेयाकारका उपयोगमें प्रतिभासन होता है। इस प्रकार इसका बद्ध यह कर्म है यह संबंध भी जानना। कर्मविपाकका निमित्त पाकर याउपयोगमें जो कर्मविपाक अधिरूढ होता है उन रागद्वेषमोह भावोंके होनेके कारण इनका बंधके साथ व्यवहार है।

उपयोग विशेष अथवा द्वैत भावमें बंधको साधकता :— फिर इसके पश्चात् जो पहिले स्वरूपका विवरण किया उस विवरणमें यह बताया गया कि यह जीव उपयोगमय है सो उपयोग विशेषसे विशिष्ट होकर नानप्रकारके परिच्छेद्य पदार्थोंको विषयभूतकर मोह रागद्वेषको उत्पन्न करता है और उन मोह राग द्वेषोंके उत्पन्न हो जानेके कारण उस भावके द्वैतपनेको प्राप्त होता है, इस कारण बंध होता है। अब भावबंधकी युक्तिको और द्रव्यबंधके स्वरूपको बतलाते हैं। इस बंधके प्रकरणमें चार प्रकारके या चार स्थानोंमें बधनकी बात कही है। इससे दो स्थान तो भिन्न-भिन्न गाथाओंमें बता चुके, अब तीसरे स्थानके रूपमें भाव बन्धकी मुक्तिका और द्रव्यबन्धके स्वरूपका इस गाथामें प्रज्ञापन करते हैं।

भावेण जेण जीवो, पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो ॥ १७६ ॥

जिस परिणामके द्वारा यह जीव इष्ट अनिष्ट बुद्धिको प्राप्त होता हुआ पदार्थोंको देखता है, जानता है, उस ही के द्वारा यह राग करता है, यह तो हुआ भावबंधका योजन और फिर उस ही भावबंधके कारण नूतन कर्म

बँध जाते हैं यह है द्रव्य बंधका स्वरूप।

उपयोगकी विशेषता अथवा उपराग :—आत्मा यद्यपि रागादिक दोषोंसे रहित है, चैतन्य मात्र है, उपयोगसामान्यस्वरूप है, फिर भी साकार और निराकार परिच्छेदनकी विशेषताके कारण जो ज्ञेय पदार्थ होते हैं, जिनमें ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसे अर्थसमूहको जिस भावके द्वारा, मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भावोंके द्वारा जानता है, उस ही रूपसे यह उपरक्त हो जाता है। ये रागद्वेषरूप उपराग द्रव्यकर्मोंके बंध करनेमें पुद्गल परमाणुवोंके स्निग्ध रूक्षत्वकी तरह काम देते हैं। पुद्गलोंमें तो परस्पर स्निग्धत्व रूक्षत्वके कारण बंधन होता है। यहाँ आत्मामें रागादिकी तो स्निग्धता है और द्वेषोंकी रूक्षता है और कर्म पुद्गलोंमें स्निग्धता और रूक्षता स्पष्ट है इसके कारण इनका परस्परमें बंध होता है।

भाव बन्धमें भी स्थिति और अनुभाग :—प्रश्न—भाव बंधकी स्थिति और अनुभाग कैसे होते हैं? उत्तर—द्रव्य कर्मोंके चार प्रकार कहे गये हैं—(१) प्रकृति (२) स्थिति (३) प्रदेश (४) और अनुभाग। ये चारों बातें द्रव्यकर्मोंमें लगायी जाती हैं, किन्तु भावकर्मोंमें तो यह एक फलरूप होनेके कारण उसमें फलित देखा जाता है। हाँ, भावकर्ममें स्थितित्व और अनुभागत्व क्या-क्या है। भावकर्ममें वर्तमान अनुभागके स्थान तो हैं ही हैं। कौन विभाव कितनी डिग्रीके अनुभागको लिये हुए प्रकट हुआ है। यह भावकर्म इतने अनुभागवाला है और यह भावकर्म अपनी जातिमें विभाव परम्पराको लिए हुए इतने समय तक उदय रूप चल रहा है और संस्कारमें वर्षों तक यह बना होता है। तो उसमें सादृश्य व वासनाकी अपेक्षा देखी जाती है स्थिति और अनुभाग तो स्पष्ट है। यों भावकर्ममें स्थिति व अनुभाग सिद्ध है उसमें कितनी प्रकार की शक्तियों का अभ्युदय होता है, कितने दर्जेका राग है। यह तो हुआ भावकर्मका अनुभाग, और भावकर्म जोकि भोगनेमें आ रहा है ऐसा भावकर्म केवल एक ही समय तक हुआ और उसके आगे उस जातिका भावकर्म नहीं हुआ और वह अनुभवमें आ जाय ऐसा नहीं होता, अर्थात् जैसे क्रोध नामक भावकर्म एक समयमें रहे और फिर उसके बाद मान माया आदिक भावकर्म हो लें, ऐसे स्थितिमें क्रोध नामक भावकर्मका अनुभव नहीं हो सकता और उसका संक्लेश नहीं हो सकता।

विकारानुभवन परम्परासाध्य :—भैया! भावकर्मों की अनुभूति एक समयकी स्थितिमें नहीं हो सकती है। यद्यपि प्रत्येक परिणमन एक ही समयमें होता

है, दो समयोंमें कोई परिणमन रह चुके ऐसा कोई परिणमन नहीं है, तो भी इस अन्तर्मुहूर्तकी परम्परामें बराबर नया-नया परिणमन प्रत्येक समयमें होता रहे तब उसका अनुभवन होता है ।अन्तरमुहूर्त की परम्परा लिए बिना विभावोंका यह जीव अनुभव नहीं कर सकता । इसका यह उपयोग भी अन्तमुहूर्त तक चलता है और उनमें उपयोग विशेपका निमित्त-भूत जो भावकर्म हो रहा है वह भी अन्तर्मुहूर्त तक चलता है । तो स्थिति भावकर्मके अनुभवनकी अपेक्षा और संस्कारकी अपेक्षासे आती है ।

उपयोगविशेष व उपरागमें परस्पर अनुकूलता—सो उपयोगविशेपके कारण जिस-जिस भावसे यह पदार्थोंको जानता है उस-उसमें भावसे यह उपरक्त हो जाता है और यह उपराग स्निग्ध और सूक्ष्मत्व गुणका स्थानीय है और रागरूप स्निग्धके कारण और द्वेपरूप सूक्ष्मताके कारण कर्म बँध जाते हैं । इस प्रकार द्रव्यबंध भावबंधमूलक होता है ।

विकारानुभवकी सरणी—यहाँ यह भी जानने योग्य बात है कि उदयावली एक आवलीप्रमाण होती हैं । उदयमें आये हुए स्पर्धक जिसमें अनन्त वर्गणायें हैं वे उदित हो होकर क्रमशःक्रमशः एक आवली प्रमाण उदित होते रहते हैं । उदय काल भी समय-समयका है । अगर एक समयका उदय आये और दूसरे समयमें भिन्न जातिका कर्म उदयमें आये तो ऐसी स्थितिमें भी उदय निष्फल हो जाता है । जैसे अभी भावकर्मके लिए कहें कि एक समयका क्रोध आया और दूसरे समयको यदि क्रोध नहीं चलता, मान माया आदिका उदय चलने लगता है, तो वह अनुभवन नहीं करा सकता है । ऐसी ही स्थिति द्रव्यकर्ममें भी होती है, क्योंकि क्रोधका जो आविर्भाव होता है वह क्रोध नामक द्रव्यकर्मके उदयसे होता है । तो वहाँ जब मानका उदय किसी कारणसे आ जाता है, एक समयके ही बाद तो वह क्रोधका अनुभव करानेका निमित्त नहीं होता है । क्रोध एक समयका रहे फिर अन्य कषाय हो जाय यह अवसर मरण समयमें आता है, बाकी कषायें एक समय रहे और फिर अन्य कषाय आ जाये यह अवसर व्याघात और मरणमें हो सकता है । और भी अनेक अवसर ऐसे होते हैं जहाँ कर्म प्रकृति निष्फल हो जाती है ।

उदयावलिमें भी निष्फलताकी गुंजायश:—उदयावलीमें भी जिस समयमें जो कर्मोदय आनेका है उससे एक समय ही पहिले संक्रमण भी हो सकता है । उदयावलीसे पहिले संक्रमण हो जाना, यह तो एक आम बात है मगर उदयावलीके भीतर भी चूँकि असंख्यात समय हैं और प्रत्येक समयमें एक-

एक निपेधका उदय चलता है उस समयसे एक समय पहिले भी संक्रमण हो सकता है। इस संक्रमणको स्तिवुक संक्रमण कहते हैं। और, उदयमें आये हुए कर्म मोटे रूपसे उदयावलीके कहलाते हैं। सो उदयमें भी आया और फल नहीं देता यह मोटे रूपसे कहा जाता है। सूक्ष्मरूपसे करणानुयोग की दृष्टिसे तो जो उदयका एक समय है उस समयमें यदि उदय है तो जितना अविभाग प्रतिच्छेदको लेकर उदय है वहाँ आत्मभूमिकामें उसका फल देता है।

कर्मोंका विचित्र विस्तार व उपादानकी योग्यता—फिर मुक्तिका जरिया कैसे रहेगा? ऐसा सोचनेकी और घवड़ानेकी बात नहीं आती क्योंकि सैकड़ों जरिये ऐसे हैं एक नहीं, कि जिनके कारण निमित्त ध्वस्त कर लिया जाता है। जैसे उदयके समयसे पहिले तो यह जीव स्वतन्त्र ही है। धर्म-साधना हो, ज्ञानोपयोगकी भावना हो, स्वभावका अवलम्बन हो, इसके प्रसादसे हजारों वर्ष आगेकी स्थितिवाले कर्मोंका और सैकेन्ड वाद आने वाले कर्मोंका और एक समय बाद आने वाले कर्मोंका संक्रमण हो जाता है, और भी अनेक दुर्गतियाँ उनकी हो जाती हैं। एक समय कितना सूक्ष्म होता है। एक पलक मारनेमें असंख्यात आवलियाँ होती हैं और एक आवली में असंख्यात समय होते हैं। उनमें से एक समयकी घटना की जब चर्चा होती है तो उसको करणानुयोग ही बतला सकता है कि यहाँ यह यथार्थ वात है।

सर्वत्र स्वभावदृष्टि शरण:—मुक्तिके लिए तो हमें अपनी स्वभावदृष्टि का सहारा है। अन्यत्र क्या होता है यह सब करणानुयोग बतलाता है। किसीको करणानुयोगकी कोई बात न मालूम हो, साधारण ही उसका बोध हो और ज्ञान और वैराग्य की उसके प्रवलता है तो वह स्वभावदृष्टिसे वह काम कर लेता है जिस कामको करणानुयोगके प्रखर पंडित भी यदि यह उपाय नहीं कर सकते, तो उस परमार्थ कामको नहीं कर सकते। उनको केवल तद्विषयक ज्ञान ही रह गया। और भी अवसर हैं जिनमें कल्याण की बात बन सकती है, पृथक्-पृथक् समयोंमें बाँधे हुए कर्मोंका उदय चलता है तो इस समयमें जो उदय चल रहा है वह अबसे हजारों, लाखों, करोड़ों वर्ष तकके आवाधा कालके पहिलेके असंख्यात वर्षोंसे बाँधे हुए कर्मके स्पर्धक अपनी स्थिति अनुभागके बँटवारेके हिसावसे एक समयमें उदययोग्य हैं, वे भिन्न-भिन्न अनुभाग वाले हैं। सो उनमेंसे कोई निषेक किसी समय तीव्र अनुभवको लिए हुए उदय होता तो कुछ ही समय बाद कोई निषेक

मंद अनुभवको लेकर उदयमें आ जाता ।

हितके अवसरका दृष्टान्त :—जैसे पंडित टोडरमलजीने कहा है नदीसे कोई निकलने वाले है । कोई पुरुष जब नदीका वेग कम है उस समय पुरुषार्थ करके निकल जायें तो आसानी से निकल जाय और कदाचित तीव्र वेग आ जाय तो वह वह जाता है । इसी प्रकार हम आपकी जो स्थिति है वह कर्मों के मंद वेगकी है अन्यथा मनुष्य जैसी पर्याय कैसे मिल जाती ? जगतके और जीवोंको देखो पेड़, पशु, पक्षी आदि कैसे-कैसे दुःखी, मोही, मूढ़ वेअकल दीखते हैं । उन जीवोंकी अपेक्षा अपने आपमें विशेषण देखो । हम आपमें अक्षर बोलने, समझने, भाव बनानेकी योग्यता है, बड़ी-बड़ी चर्चाएँ व्यवस्थाएँ बनानेकी योग्यता है, मंद वेग है, ऐसे मंदवेगके समय कुछ चेत जाते हैं, यथार्थ बोध कर लेते हैं तो हम इस संसार नदीसे पार हो जाते हैं । और ऐसे गपसप लगते रहे और कषायमोहनीयका तेज उदय आ जाय तो उसको निमित्त मात्र पाकर वह जायगा । वहाँ तो वह स्वयं ही है । ऐसी स्थितिमें विशिष्ट अनुभाग वाले द्रव्यकर्म वंध जाते हैं । जिस समय द्रव्यकर्म वँधा उस ही समय एक साथ कौन सी इसमें प्रकृति पड़ी है ? कितनी इसकी स्थिति है ? कितने इसमें प्रदेश हैं । और कितने दर्जे तक फल देनेका इसमें निमित्तपना है ? ये सब बातें उसी समय उसके अन्दर आ चुकती है ।

निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी स्वरूपास्तित्वका दर्शन :—देखो भैया ! नैमित्तनैमित्तिक भाव जैसे अचेतन अचेतन पदार्थोंमें बराबर देख रहे हैं और उनमें कोई त्रुटि नहीं नजर आती । जैसे घड़ीके पुर्जे ठीक हैं और चाभी भर देते हैं तो सुई चलती रहती है, उस सुई के चलने का निमित्त वह गोल घेरा है, सुई जहाँ फँसी है घेरा घूमता है, उसका निमित्त पाकर सुई घूमती है, वह गोल जिससे सम्बन्धित है, इस पेंचका निमित्तभूत घेरा चलता है तो वह भी घूमता है । उसको चलाने वाला जो एक डंडा है, जो ठोकर मारता है उसके निमित्तसे वह भी चलता है ? वह डंडा चूंकि चाभी भरी है सो चिपकी हुई पाँतसे प्रकृत्या निकालना चाहता है तो उसके खुलनेमें जो दबाव होता है उससे वह चलता है । इस तरह सुईके चलनेमें जो निमित्त नैमित्तिक भाव की बातें हैं वे भी चलती है, चल रही हैं । ऐसी स्थितिमें भी शुद्ध दृष्टि की जा सकती है । शुद्ध दृष्टि वह कहलाती है कि ऐसी भी स्थितिमें "देखो इन पदार्थोंने इन पदार्थोंको यों परिणमा दिया, इसने उसमें अपना यह प्रभाव डाला" ऐसा व्यामोह न हो जाय । वहाँ निमित्त नैमित्तिक बात होते हुए भी

यह नजर आता रहे कि अमुक पदार्थोंका स्वरूपास्तित्व तो इतना है सो ये पदार्थ अपने स्वरूपस्तित्वमें ही अपना परिणमन करते हैं। इससे आगे इनका परिणमन नहीं है। यह वस्तुगत विभूति शुद्ध दृष्टिके प्रतापसे आती है, तो वहाँ व्यामोह नहीं होता।

निमित्त नैमित्तिकभावका विरोध न करके कर्तृकर्मभावका अभाव देखना हितकर :—भैया! व्यामोह न हो इस प्रयोजनसे निमित्त नैमित्तिक भावोंके ही खण्डन की पद्धति बनाना इसमें यथार्थता नहीं है। वह है, बना रहे तिस पर भी पर पदार्थ अपने आपमें अपना परिणमन करते हैं। ऐसा यदि ज्ञान हो और प्रत्यय हो तो यह भी कर्मोंके क्षयका क्षयोपशमका निमित्त बन जाता है। यह भी निमित्त पद्धतिमें शामिल है कि यदि यह जीव अपने स्वभावका आश्रय करे तो ये कर्मोंके क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। कर्तव्य तो यह है कि सर्वत्र वस्तुके स्वरूपास्तित्व में वस्तु और उसमें ही उसका सर्वस्व देखे, यह एक मोक्षमार्गकी कला है। जो मुक्तिके प्रयोजन का भाव रखता है वह इस कलाको न छोड़ता हुआ सर्वत्र ज्ञान करता रहता है। घरमें भी बस रहा है तो भी वस्तु-स्वातन्त्र्यके देखनेकी कला को ज्ञानी पुरुष नहीं छोड़ता है।

ज्ञानी गृहमें भी निर्लेप :—भैया! वस्तुस्वातन्त्र्यके देखनेकी कलाके कारण घरमें रहता हुआ भी सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसा निर्लेप रहता है जैसे कि सेठकी दूकानमें काम करने वाला मुनीम। सेठकी इतती व्यग्रता दूकानके प्रति नहीं है जितनी कि मुनीमकी है। सेठ तो किसी अन्य जगह बैठा है, मुनीम आठ दस घंटे काममें जुटा है, बिक्री कररहा है, यहाँ गया, वहाँ गया, ग्राहकसे बातें करता, लेखा जोखा करके हिसाब भी बताता कि मुझ पर इतना तुम्हारा आया है, तुमसे इतना हमें लेना है, इस प्रकारके वचन भी बोलता है फिर भी अन्तरङ्गमें यह प्रत्यय बैठा हुआ ही है कि मेरा तो यहाँ एक पैसामात्र भी नहीं है। मैं तो काम करनेवाला हूँ। इसी प्रकार घरके कामोंमें गृहस्थी व्यस्त रहा करता है, बच्चे उद्दंडता करें तो उन पर क्रोध भी करता है, घरकी क्रिया कोई लोग बिगाड़े तो उसपर भी क्रोध आता है, कभी किसी छोटे घरके सदस्य द्वारा या पड़ोसियोंके द्वारा कोई अपमानजनक शब्द सुननेको मिल जाय तो उसमें अपने गौरव की रक्षा करनेका यत्न करता है और कई छोटी-छोटी बातोंमें थोड़ा सा मायाचार भी कर जाता है और परिग्रह रखनेकी बातें तो होती ही हैं।

उनके बिना तो गृहस्थ काम ही नहीं कर सकता। ये सब बातें होते हुए भी इन सबसे अत्यन्त विरक्त रह सके, ऐसी आधारभूत अद्भुत कोई कला है तो वह सनातन सहज निज स्वभावकी दृष्टि है।

स्वभावदृष्टिका प्रताप :—स्वभाव दृष्टिके प्रतापसे ज्ञानी जानता है कि मैं अकिंचन हूँ और किसी भी समय सबसे अलग होकर केवल अकेला ही रह सकूँ ऐसी स्थितिके लिए उसका उत्साह बना हुआ है और इसी कारण वह किसी पर वस्तुसे दबता नहीं है। यह सब ज्ञान और वैराग्यका सामर्थ्य है। जब यह ज्ञान और वैराग्य अपने पास नहीं होता तो कितनी बहिर्मुखता और कितने बाह्य पदार्थोंके आश्रयका यत्न होता है, दुःख होता है, क्लेश होता है। उसे यह पता नही कि सबसे बड़ा संकट मैंने अपने आपमें यह लगा लिया है कि किसी भी बाह्य वस्तुको मान लिया कि मेरी है और इससे मेरा हित है। इतनी भीतरमें कुश्रद्धा होनेसे इस जीवपर महान् संकट लदा है। एक दो मिनटको भी यदि घरकी स्त्री पुत्रोंकी संभालके विकल्पको छोड़कर निजको सम्हाल लिया तो शाश्वत शान्तिका मार्ग पा लिया जायगा। अव्वल तो किसीको यह सम्हालता नहीं, केवल विकल्प करता है।

पुण्यवालोंकी चिन्ता व्यर्थ :—भैया! जैसा पुण्य इसका है उससे बढ़कर पुण्य इसके स्त्री पुत्रोंका है। यदि इससे बढ़ कर स्त्री पुत्रोंका पुण्य न होता तो यह उनकी चिन्ता ही नहीं कर सकता था। वह तभी उनकी चिन्ता करता है जब कि उनका पुण्य उससे कई गुणा अधिक है। भैया! इस भवमें यदि किसी अन्य जीवों को या घर द्वारको सम्हाल लिया तो क्या सम्हाल लिया? यह तो समय ही, गुजर जायगा पर आगे कहाँ जायगा? क्या जन्म पायेगा? कैसी स्थिति होगी? उपाय तो वैसे ही करना विवेक है कि जिनके द्वारा सदाके लिए संकट टलें और परम शान्ति मिले।

संकटविनाशका उपाय—संकट दूर होनेका उपाय तो एक यही है? क्या? कि मैं क्या हूँ? अपने आप क्या हूँ? अपने ही सत्त्वके कारण क्या हूँ? ऐसा सहज स्वरूप अपने आपमें अनुभूत करे तो उसको शान्ति का मार्ग मिलता है। इन चर्म चक्षुवोंसे जो देखा और जैसा भीतरमें मोहराग आदिका स्वाद लिया यह सब इस अनन्त ऐश्वर्यशाली चैतन्य प्रभुपर महान् उपसर्ग है।

स्वनिर्दयता :—देखो अपनी शठता कि हम तो आनन्द मानते है और इस प्रभुपर अनन्त उपसर्ग हो रहे हैं। कैसा तो इस प्रभुका विकासका स्वभाव है और कितना अन्य परभावोंमें यह अटककर इसके विकास को तिरोहित

कर देता है सो यदि यह स्थिति बने कि सर्वविस्मरण हो जाय, किसीको भी इस उपयोगमें स्थान न दे, केवल चिन्मात्र, आनन्दघन, इस सहजस्वरूपको ही ज्ञानमें रखे और स्वाद ले तो इसको शांतिका मार्ग मिल सकता है और दृष्टि पसार कर भी देखो, जिन्होंने करोड़ों रुपयोंकी स्थिति बना ली है ऐसे मनुष्योंके क्षोभकी केवल काल्पनिक चक्की चल रही है। वास्तवमें क्या वे शान्तिका अनुभव कर रहे हैं नहीं! यदि चार आदमियोंमें वैठकर उन्होंने मौज भी मान लिया तो वह मौज है नहीं? वह क्लेश ही है, विपदा ही है, गंदगी ही है, रहे सहे पुण्यका भी वैरी है।

अपवित्रता जीवमें ही संभव :—जीवके गंदगी होती है अन्यत्र गंदगी नहीं होती है। पुद्गलके क्या गंदगी? वे हैं और वर्तमानमें इस रूप परिणाम रहे है। पुद्गलमें क्या गंदगी? गंदगी तो इस जीवके मोहकी, राग की, अज्ञान की है। जिस गंदगीके कारण वहुत स्वच्छ विराजरही आहार वर्गणाओंको रुधिर खून, हड्डी रूप परिणमा दिया है। निमित्त दृष्टिसे वात देख लो। गंदे तो वे रागद्वेप आदि हैं। धोती सूख रही है। शुद्ध है। किसी जीवने छू लिया, लो अशुद्ध हो गयी। तो जैसे छूनेसे धोती अशुद्ध होती है, तो अशुद्ध मूलमें वह है या धोती? यह धोती क्यों अशुद्ध हुई? इसने छू ली। तो यह शरीर अशुद्ध हुआ। यह शरीर क्यों अशुद्ध हुआ? इसमें जीव आकर वस गया इस कारण इसका रुधिर खून रूप परिणमन हो गया। जीवके वसने के पहिले ये तो सब शुद्ध ही थे। लो इस जीवपर सकट है तो इस गंदगीका है, इस गंदगीको वाहर निकालना है। सो अपने आपपर दया करके इन संकटों को दूर निकालनेका यत्न करना चाहिए संकटोंके दूर करनेका यत्न है अपने शुद्ध स्वभावका अवलोकन।

अब पुद्गलवंध और जीववंध और उदयवंधके स्वरूप को जताते हैं—

फासेहिं पोग्गलाणं वंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णं अवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥१७७॥

पुद्गलोंका तो स्पर्श विशेषके द्वारा वंध होता है जीवका स्वके रागादिकभावके साथ वंध होता है और पुद्गल और जीवका अर्थात् पुद्गल जीवात्मक जो वंध है वह इन दोनोंका अन्योन्य अवगाह रूप वंध होता है।

वन्धोंका विवरण :—जो यहाँ कर्मोंमें स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श विशेपके द्वारा एकत्व परिणाम है वह केवल पुद्गलवंध है और जो जीवका औपधिक मोह राग द्वेष पर्यायोंके साथ एकत्व परिणाम है वह केवल जीववंध है।

पुद्‌गल-पुद्‌गलका तो स्पर्श गुणके कारण बंध हो जाता है सो कर्मत्वरूप जो परिणमन है वह परिणमन मात्र स्पर्शत्व गुणके कारण हुए हों सो नहीं, किन्तु उसमें मुख्य कारण निमित्तनैमित्तिकभाव है, जीवगत रागभावका निमित्त पाकर पूर्वबद्ध पुद्गल कर्मों के साथ नवीन कर्मोंका परस्पर विशिष्टतर संयोग होना सो पुद्गलबंध है। नवीन पुद्‌गलकर्म किससे बँधते हैं ? पूर्व कालमें बद्ध, सत्तामें स्थित जो पुद्गल कर्म हैं उन कर्मों से बँधते हैं। उसमें निमित्त है रागादिकभाव। इस पद्धतिमें जीवका व कर्मका एक क्षेत्रावगाह विशिष्टतर सम्बन्ध होता सो उभयबंध है।

जीवबंधका स्पष्टीकरण :—जीव का निरुपराग परम चैतन्यस्वरूप निज आत्मतत्वकी भावनासे च्युत होकर जो रागादिकोंके साथ परिणमन होता है, एकत्व होता है वह जीवबंध है। जीव पदार्थका रागादिक परिणमनके साथ तन्मय हो जानेको जीवबंध कहते हैं। भैया ! चाहे स्वभाव और विभाव इन दोनों भावोंको ले लें, चाहे जीव द्रव्य और विभाव परिणमन इन दो बातों को ले लें, इनके परस्पर तन्मय होनेको जीवबंध कहते है। अर्थात् स्वभाव तिरोहित हो जाय, विभाव व्यक्त हो जाय, वह स्वभाव विभाव परिणमनके रूपमें फूट निकले इसको कहते हैं जीवबंध। अर्थात् यह जीव, जीवसे बँधा है। ये विभाव भी जीव परिणमन है, उनमें यह जीव पदार्थ बँधा है। कितनी हैरानीकी बात है कि निश्चयसे देखो तो इस द्रव्यने अपना ही परिणमन बनाकर अपनेको बाँध लिया है। यद्यपि उसमें निमित्त पर उपाधि है, पर उपाधिकी सन्निधि बिना जीवमें विभावका परिणमन नहीं हो सकता। जीव उपाधिका निमित्त पाकर अपनी योग्यतासे अपनेमें विभावोंका परिणमन करता है, तो भी इसका साक्षात् बंधन अपने विभाव परिणमनसे है। पर वस्तुसे परका बंधन नहीं होता है तो इन रागादिकभावों के साथ जीवका एकत्व परिणमन हो जाना, सो जीवबंध है।

उभयबंधका विवरण :—उभयबंध क्या चीज है ? जीव और कर्म पुद्गल का विशिष्टतर परस्पर अवगाह हो जाना सो उभयबंध है। इस उभयबंधमें दोनों ही पदार्थ परस्परमें निमित्त हैं। जीवका निमित्त पाकर कर्मोंका यह अवगाह है और कर्मोंका निमित्त पाकर जीवका यह अवगाह है। इस प्रकार परस्पर एक क्षेत्रावगाह विशिष्टतर अवगाह होनेका नाम उभयबंध है। विशिष्टतरसे मतलब जितना भी संयोग है, अवगाह है उन सबसे विशिष्ट। प्रश्न—अवगाहका क्या मतलब है ? उत्तर—अवगाहका मतलब है एकका

दूसरेमें समाना। पर ऐसे समाये हुए तो अनेक पदार्थ हैं, उन सबका तो बंध नहीं है यह विशिष्टतर अवगाह है जिसमें निमित्त नैमित्तिक रूप भी बंधन पड़ा है। ऐसे विशिष्टतर अन्योन्य अवगाह का नाम उभयबंध है।

अपना सत्व अपना अहितकर नहीं :— भैया! कोई भी पदार्थ अपनी सत्ताके कारण अपने विनाशका करने वाला नहीं होता, अपने उपद्रवके लिए नहीं होता। किसी भी पदार्थमें टूट हो, फूट हो विनाश हो तो ये सब किसी पर उपाधिका निमित्त पाकर ही होते हैं। अपने सत्त्वके कारण कोई भी पदार्थ बिगड़ता नहीं है। इस ही कारण ये जीव पदार्थ भी अपने ही अस्तित्वके ही कारण रागी नहीं बनते। यद्यपि रागादिक इसके ही अस्तित्व में हैं, दूसरे द्रव्योंसे नहीं आये फिरभी दूसरे द्रव्योंकी उपाधि पाये बिना ये रागादिक हो नहीं सकते। इसी कारण यह औपाधिक भाव कहलाता है, क्योंकि उपाधिकी सन्निधि पाकर ये रागादिक होते हैं। और ये नैमित्तिक भाव कहलाते हैं, क्योंकि परका निमित्त पाकर ये होते हैं। ये खुदमें ही होते हैं, निमित्तभूत परद्रव्यमें नहीं होते।

प्रमाणकी परिस्थिति :— भैया! निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी ध्यानमें रहे और परस्पर कर्त्ता कर्मका अभाव भी ध्यानमें रहे ऐसी सावधानीमें प्रमाण की स्थिति होती है। सब नयोंका प्रयोजन आत्माके शुद्धस्वरूपपर दृष्टि कराना है। व्यवहारनयका भी यही प्रयोजन रहे और निश्चयनयका भी यही प्रयोजन रहे तब तो ये दोनों ही नय सुनय हैं।

निश्चयनयका उपकार— निश्चयनय तो एक ही वस्तुको दिखाता है। किसी परसत्त्वको नहीं दिखाता। इससे विकल्पका विह्वलताका अभाव होता है। और केवल एक ही पदार्थको देखनेसे, चाहे अशुद्ध निश्चयनयसे देखे चाहे निश्चयनयसे देखें, पर्यायका भी अवलोकन है, लेकिन एक द्रव्य को देखनेका यह फल हो जाता है कि परिणमन द्रव्यमें विलीन हो जाता है और एक मात्र द्रव्य दीखने लगता है। पर्यायका ही अवलोकन बना रहे यह विकल्प व विह्वलता आये बिना और अन्य पदार्थों पर दृष्टि लगाये रहे बिना नहीं हो पाता। सो अशुद्ध निश्चयनय भी यद्यपि पर्यायात्मकतामें देखता है मगर उसकी यह बात है कि एक ही पदार्थको देखता है। सो पर्याय भी कुछ समय बाद विलीन हो जाती है। तब परम शुद्ध निश्चयनयकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। शुद्ध निश्चयनय भी पहिले तो शुद्ध परिणमनको देखता है पर उस द्वारसे भी चूँकि एक ही पदार्थमें देखनेकी बान पड़ी है इस

कारण कुछ ही समयबाद पर्याय विलीन हो जाती है और परम शुद्ध निश्चयनयकी वृत्ति हो जाती है। परम शुद्ध निश्चयनयमें तो साक्षात् सीधे ही स्वभाव पर दृष्टि पहुँचती है इस प्रकार निश्चयनयका प्रयोजन शुद्ध स्वभाव का आश्रय कराना है।

व्यवहारनय का उपकार :—अब व्यवहारनयका भी प्रयोजन देखें। व्यवहारनय यह कहता है कि आत्मामें जो राग रूप द्वेष रूप विभाव होता है वह पुद्गल कर्मों के निमित्तसे होता है, उनके विपाकसे होता है अर्थात् इन रागादिकोंका अन्वयव्यतिरेक कर्मों के साथ है। कर्मों के होनेपर ही होना है, कर्मों के न होनेपर नहीं होता। इसका फलित अर्थ क्या हुआ कि इन रागादिक कर्मों को कर्मों की ओर ले जाओ, यह आत्मा तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। उस व्यवहारनयके कथनका फलित अर्थ यह होता है कि इस आत्मामें आत्माके सत्त्वके कारण रागादिक नहीं होते। यह तो ज्ञायक-स्वभावमात्र है। सो व्यवहारनय का भी प्रयोजन शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करना बताइये। तभी तो निर्जराधिकारमें ज्ञानी की भावनाका वर्णन करते हुए लिखा है कि रागद्वेष मोह आदिक नाना प्रकारके ये भाव कर्मके विपाकसे उत्पन्न होते हैं। ये भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं। वे ये शब्द हैं। ये कर्मोदयविपाकप्रभावा भावास्ते न मे स्वभाव, एष खलु टङ्कोत्कीर्णो ज्ञायक-स्वभावोऽहम्। भैया! यह व्यवहारनयका आश्रय करके कथन है कि ये रागादिक भाव कर्मों के उदयसे होते हैं। यह मैं नहीं हूँ। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभावमात्र हूँ। इस तरह व्यवहारनयका भी प्रयोजन शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि कराना है।
निश्चय मान लेना विपरीत बात है।

नययोजनकी सुपद्धति :—प्रयोजन छोड़ कर व्यवहार को ही निश्चयनय भी जैसे इनका उपकारीनय है इसी प्रकार व्यवहारनय भी उपकारी हैं। इन नयों की साधनाके करने की यही पद्धति होना चाहिए जिससे निज प्रयोजन की ओर झुकाव हो। इससे आत्माका बड़ा उपकार होता है यहाँ यह प्रश्न हुआ कि व्यवहारनयका उपकार कैसा है और निश्चयनयका उपकार कैसा है? निश्चयनयसे तो एकत्व की दृष्टिके कारण उपकार है और व्यवहारनय से फलित रूपमें उपकार है व्यवहारनये यह बतलाता है कि ये रागादिक भाव कर्मोंके उदयसे होते हैं तब इनसे यह शिक्षा ग्रहण कर "तू इन रागादिको का पक्ष मत कर" यही तो व्यवहारनयका निष्कर्ष निकलता है। गल्ती तो

वहाँ होती है जहाँ व्यवहारनयकोही वस्तु या वस्तुस्वरूप मान लिया जाता है।

नय :—दूसरे नयोंका विरोध न करके देखो ये सुनय हैं, व्यवहारनय भी सुनय है और निश्चयनय भी सुनय है। इसमें दुर्नय कोई नहीं है। दुर्नय होता है तब, जब अन्य नयोंकी अपेक्षा नहीं रखी जाती है। तब जो सुनय है वह हमें गलत रास्तेमें नहीं पटक देगा। निर्जराधिकार की गाथाओंमें व्यवहार नयके चिंतवनको कराकर ज्ञानीको कितने उत्कृष्ट भावमें ले जाया गया है। ये कर्म विपाक-प्रभवभाव मैं नहीं हूँ, मेरे नहीं है, ये कर्मोंके उदयसे होते है। ऐसी चिंतनाके पश्चात् जो ज्ञायक स्वभाव की उन्मुखता होती है उससे उपकार होता है। व्यवहारनयके विषयको ही वस्तुस्वरूप मान लेनेसे तो गलत मार्ग आता है।

प्रमाणके अभ्यासीकी कलायें :—जो पुरुष किसी विषयमें अभ्यस्त होता है तो उस विषयकी कलाको करना उसके लिए सरल काम रहता है। जैसे किसीको लिखनेकी अच्छी प्रैक्टिस है तो वह पड़े हुए बैठे हुए जल्दी ही उस कामको निपटा लेता है। पर जिन्हें यह काम याद नहीं है उन्हें उस काम को करनेमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है फिर भी बहुत बिलम्ब लगता है, काम कठिन लगता है। इसी तरह खेलनेका काम है। जिसको हाकी खेलने का अच्छा अभ्यास है वह मुड़कर, उठकर, बैठकर अपना काम बड़ी आसानी से कर लेता है। इसी प्रकार आत्माके शुद्ध ज्ञान स्वरूपका जिन्हें खूब परिचय होता है ऐसे जन व्यवहारनयके मार्गसे भी चलकर शुद्ध स्वभावकी ओर झुकते हैं और निश्चयनयके मार्गसे भी चलकर शुद्ध स्वभावकी ओर झुकते हैं। जैसे व्यवहारनयके एकान्तसे कुछ घबड़ाहटवाली बात पैदा होती है इसी तरह निश्चयनयका एकान्त कर लें कि ये रागादिक हैं सोई जीव है क्योंकि, वहाँ एक ही पदार्थका जानना होता तो इससे उपकारी बात क्या हुई। भैया जिस किसी भी विधिसे यह उपयोग आत्माके ज्ञायक स्वभावमें पहुँचे वह उपकारी है किन्तु जो अभ्यस्तजन हैं, स्वभावके परिचित जन हैं उनको व्यवहारनयका भी डर नहीं है। जैसे जो स्त्री वृद्ध है उसको जगह-जगह कहीं भी जानेका भय नहीं है पर जो नवीन वधू है उसको कहा करते हैं कि जगह-जगह मत जावो। इसी तरह जो ज्ञायकस्वभावके परिचित जन हैं ये व्यवहारनयका व्यवहार करके भी अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर आते हैं। और जो उसके परिचित जन नहीं हैं उनके लिए सावधानी कराई है कि व्यवहारसे हटकर निश्चयनयकी ओर आवो।

अनुभव नयोंसे परे :—अनुभव तो सभी को छोड़कर होगा। निश्चयनय को भी छोड़कर होगा। कोई सा भी आंशिक आशय न रखा जाना चाहिये। आंशिक आशय रखनेमें अनुभव नहीं जागता, स्पष्ट बात तो यह है कि स्वभाव के परिचित जनोंको निश्चयनय और व्यवहारनय खेल और लीला जैसे सरल है। उनको किसी भी नयके उपयोगसे व्यामोह नहीं उत्पन्न होता। शुद्ध स्वभावका जहाँ परिचय नहीं है वहाँ ही व्यामोह उत्पन्न होता है।

ज्ञानोंसे ज्ञानमें उलझनका अभाव :—यहाँ विषय यह चल रहा है कि परस्पर जीव और कर्मोका निमित्त है उस निमित्तसे इस आत्माका कर्मका बंध है। न तो व्यवहारनयके विषयमें उपयोग गड़ाना है और न निश्चयनय के विषय का एकान्त करना है, किन्तु ज्ञायक स्वभावके अनुभवमें पहुँचना है। सो ज्ञायक स्वभावके अनुभवमें पहुँचानेके लिए पहिले व्यवहारनय भी सहायक हैं। व्यवहारनय यों ध्यान दिलाता है कि ये रागादिक कर्मोके निमित्तसे होते हैं, तेरे स्व भाव नहीं हैं। ज्ञायक स्वभावमें उपयोग पहुँचाने के लिए व्यवहारनयसे भी इसको कितना सहयोग मिला। इतना सहयोग मंजूर करके फिर आगे आवो और देखो कि निश्चयनयके द्वारा हमको ज्ञायक स्वभावके अनुभवसे कितना सहयोग मिला। उस सहयोगको मजूर करके आगे पढ़कर निश्चयसे भी आगे बढ़नेकी बात आती हैं। चर्चाके लिए कुछ कहेंपर चर्चाके लायक उत्कृष्ट बात नहीं है।

ज्ञानीको सर्वत्र शुद्धत्वका प्रयोजन :—जो ज्ञायक स्वभावके परिचयका अभ्यासी पुरुष है उसके लिए दिन रातमें प्रायः अधिक समय व्यवहारनयसे चिन्तन चलता है, वह चिन्तन भी ज्ञायकस्वभावकी ओर ले जानमें मदद देता है। यह बात कह रहे है ज्ञानी पुरुषोंकी। अज्ञानीके लिए नही कह रहे है। अज्ञानीने तो ज्ञानस्वभावका परिचय नही किया। उसे परिचय करानेके लिए, चूँकि वह व्यवहारनयके गलत उपयोग द्वारा पर्याय बुद्धिमें फंसा हुआ है तो उसको व्यवहारनयके गलत उपयोगसे छुटानेके लिए निश्चयनयका बड़ा उपदेश है पर यह तो ज्ञानी पुरुष है यह व्यवहारनयका गलत उपयोग नहीं करता। यह व्यवहारनयकाभी ऐसा उपयोग करता है जिससे ज्ञानस्वभावका दर्शन करनेके लिए आगे बढ़ता है। इस प्रकारमें तो व्यवहारनयकी किसी पद्धतिका उपयोग करना चाहिए, यह बात चल रही है। जिसको ज्ञानस्वभावका पूर्ण परिचय है वह उसकी लीलाका प्रयोग कर रहा है। व्यवहारनय की ठीक पद्धतिका उपयोग करके इस ज्ञायक स्वभाव

की ओर आगे बढ़ना। कर्मोंके रागादिक भाव उत्पन्न होता है यह बात नहीं है। यह बात इसके जगी तो व्यवहारनय भी दुर्नय है। इसमें जो फलित भाव आया है उसको छोड़कर न चलो। व्यवहारनयसे ज्ञातकर लिया कि यह राग कर्मोंका है। अब काम खतम हो गया। अब आगे बढ़ो। अब यही काम नहीं रटना है किन्तु अपने ज्ञायक स्वभावमें अपनेको पहुचाने के लिए इस व्यवहारनयने भी एक प्रकाश दिया है कि भाई! ये रागादिक तेरे नहीं है। कर्मोंका राग समझकर स्वच्छन्द नहीं होना है।

ज्ञानीके लिये नयों की हितमें होड़ :—भैया! निश्चयनय यह बताता है कि ये रागादिक तेरे हैं और व्यवहारनय यह बताता है कि ये रागादिक तेरे नहीं हैं, और परम शुद्ध निश्चयनय यह बताता है कि रागादिक तो वहाँ हैं ही नहीं। तो क्या हम इन तीनों प्रकाशोंसे लाभ नहीं ले सकते हैं? भाई यह ज्ञानकी लीलाओंका वर्णन चल रहा है। जिसके सम्यक्त्व हो गया जिसके सम्यग्ज्ञानका अनुभव हो गया, ऐसे पुरुष व्यामोह को नहीं प्राप्त होते हैं, सब नयोंसे शुद्धदृष्टिका काम निकालते हैं।

उभय बंधका ढंग :—ये पुद्गल जीवात्मक बंध कब होते हैं जब यह जीव निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञानसे रहित होता है, राग और द्वेषसे परिणत होता है। यह है जीवकी चिकनाई और रूखापन। जैसे लोकभाषामें कहते हैं कि आप बड़े रूखे हो। माने इसके घृणा है, द्वेष है, अनुराग नहीं है। सो लोग कहते है कि तुम बड़े रूखे हो। तुम बड़े चिकने हो, माने जल्दी किसी के रागमें आ जाते हो, स्नेहमें आ जाते हो तो ऐसी स्निग्ध और रूक्षकी बातें जीवमें हो और बंध योग्य स्निग्ध रूक्षमें परिणत हो और इसके साथ ही साथ इन दोनोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक भाव हो उसे कहते हैं उभय बंध। इस प्रकार इस गाथामें पुद्गल बंध, जीव बंध, और उभय बंध, इन तीनोंका स्वरूप बताया गया है।

बंधमें एकत्व :—जब पुद्गल-पुद्गल का बंध देखते हैं तो वहाँ भी एकत्व हो गया है और जब जीवका बंध देखते हैं तो वहाँ एकत्व हो गया और जब जीव और पुद्गलका बंध देखते हैं तो वहाँ पर भी एकत्व दिखता है। बंध अनेकोंके एकत्व परिणामको ही कहते हैं।

इस गाथामें पुद्गल बंध, जीव बंध और उभय बंधका स्वरूप कहा है। इनमेंसे पुद्गल बंध और उभय बंधको तो द्रव्य बंध कहते हैं। और जीव बंधका नाम भाव बंध है। सो इस द्रव्यका हेतु क्या है? भाव बंध। सो

द्रव्य वंधका हेतु भाव वंध है इस मर्म को फिर उज्जीवित करते हैं अर्थात् पहिले तो वर्णन हो चुका और उस ही प्रकरणके साथ-साथ या उसके वाद कुछ अन्य-अन्य भी वर्णन हुआ तो भाव वंध वर्णनमें दव गया था। याने द्रव्य वंधका विशेप वर्णन हो गया था, अव उसही पहिली वातको फिर उज्जीविन करते हैं।

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति वज्झन्ति॥ १७८ ॥

यह आत्मा प्रदेशवान है, सप्रदेशी है। सो उन प्रदेशोंमें पौद्गलिक कार्मणकाय यथा योग्य प्रवेश करते हैं, ठहरते हैं, जाते हैं और वँधते हैं।

जीवका प्रदेशविस्तार :—यह आत्मा लोकाकाशके वरावर असंख्यात प्रदेशी है, इतना ही है। वैसे तो यह एक अखंडक्षेत्री है, एक वस्तु है। फिर यह फैले तो फैलता ही चला जाय। लोकाकाशके वाहर कोई भी अन्य द्रव्य नहीं जाता आकाश ही वहाँ रहता है। तो जीवका फैलना लोकाकाश तक हुआ। और लोकाकाशमें हैं असंख्यात प्रदेश, सो आत्मा भी असंख्यात प्रदेशी हुआ। उन प्रदेशोंमय यह आत्मा है।

कर्मोंका प्रवेश द्वार योग :—जैसे जीवमें प्रदेश परिस्पन्द होते हैं उसही प्रकारसे कार्माण पौद्गलिक काय भी स्वयं ही परिस्पंद वाले होकर प्रवेश करते हैं और ठहरते हैं। आत्माका योग, परिस्पंद, मन वचन कायकी वर्गणाओंका आलम्वन करके होता है। अर्थात् मन, वचन और कायके परिस्पंदका निमित्त करके योग परिस्पंद होता है। सो जैसे आत्मामें योग परिस्पंद होता है उस ही प्रकारसे कार्माण पौद्गलिक कायमें भी प्रदेश परिस्पन्द होता है। सो उस प्रदेशपरिस्पंदको आस्रव कहा गया है। सो प्रदेश परिस्पंदके निमित्तसे कर्मत्वका प्रवेश होता है और कषायोंके निमित्तसे वह कुछ कालतक ठहरता है।

उदय कालका ऊधम :—भैया! जव इन कर्मोका उदयकाल आता है तो वे कार्माण वर्गणायें जाती है, विदा होती है, निकलती हैं और निकलते हुये वे दूसरे कर्माण वर्गणाओंको वाँध जाती हैं अर्थात् जव उदय कर्मका होता है तो उदयके ही माने है कि कर्मोका आत्मासे निकलना। जैसे कहते हैं कि सूर्यका उदय है तो इसका अर्थ है कि सूर्यका निकलना हुआ; चाहे उदय कहो, चाहे निकलना कहो, एक ही वात है जव कर्मोका उदय होता है अर्थात् कर्म

निकलते हैं तो वे निकलते हुयेकी स्थितिमें भी नवीन कर्मोका वोझ डाल जाते हैं। जैसे कोई रेलकी सीटपर वैठे हुए मुसाफिरका झगड़ा उसी सीट के पास खड़े हुए मुसाफिरसे होगया अव जिस स्टेशनपर उस बैठे मुसाफिर को उतरना है तो प्लेटफार्मपर घूमते हुए मुसाफिरोंमें से किसीको बुला लेता है, भाई यह सीट खाली है तो उसको वैठाकर उतर जाता है। मगर पहिले वालेसे उसके कषायही है। सो वह सीट खाली करके दूसरे सवा सेरके लड़क्कड़ को उस सीटपर वैठाकर उतर जाता है ऐसे ही ये लड़क्कर कर्म जव आत्मा से विदा होते हैं तो उस समय नवीन पुद्गल कर्मोको वांधकर छोड़ जाता है। तो लड़क्कर कर्मोका उदय आया तो उस उदयमें जैसे भाव हुए तो वैसे ही कर्म बन गये। यों कर्मसन्तति वाधा देती रहती है।

वन्धनका अवलोकन व्यवहारनय है :—यह प्रकरण है वंधनका। और वंधन व्यवहारनयमें ही देखा जा सकता है। क्या यह वंधन झूठ है ? झूठ तो नहीं है। उसका फल सामने तो दिख रहा है कि हम और आप कर्मोसे शरीरसे इस प्रकार वँधे हुए हैं, दुःखी हो रहे हैं। तो व्यवहारनयके प्रकरणमें व्यवहार को मुख्यता देकर व्यवहारकी वातके समर्थन जैसी बुद्धि ही वनाना चाहिए तव व्यवहारकी वात स्पष्ट समझमें आ सकती है। निश्चय और व्यवहार दोनों ही जैन सिद्धान्तके नय हैं। जिस नयके गीत गाये जा रहे हैं उस नयकी प्रधानता देकर वात समझना चाहिए। वंधन निश्चयनयमें होता ही नहीं, वहाँ तो केवल एक वस्तुको निरखते हैं एक वस्तुके निरखनेमें वंधन नाम की कोई चीज नहीं। वंधन द्विष्ठ होते हैं अर्थात् दोमें रहने वाले होते हैं। जव वंधनको जानते हैं, सिद्ध करते हैं तो दोमें दृष्टि तो रखना ही पड़ेगी। यहाँ द्रव्यवंधको वतलाकर यह वतायेंगे कि इन सवका कारण भाव वंध है।

गाथोक्त चार क्रियाओंके चार मर्म :—ये कार्माण वर्गणाएं प्रवेश करती हैं, स्थित होती हैं, निकलती है और वँधती है। इन चार क्रियाओंसे चार वातें वताई गयी हैं। प्रवेश करती हैं अर्थात् आती हैं, आश्रव होता है। ये वर्गणायें ठहरती हैं इससे यह वताया है कि कुछ स्थिति तक यह आत्मामें एक क्षेत्रावगाहरूपसे रहती हैं और केवल इतना ही नहीं है कि ये कर्म आयें और ठहरें। ये अपने उदयकालको पाकर फल देकर चले भी जाते हैं। और जाते हुए ये वंधनके कारण भूत रागादिकोंका निमित्त प्राप्त करके फिर अन्य कर्मोको द्रव्यवंधरूपसे वाँध जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिक परिणाम ही द्रव्य वंधका कारण है।

बंधका रहस्य :—इस प्रकरणमें एक दो बातें विशेष जाननेकी हैं कि कर्मोका आश्रव जो होता है उसके कारण भूत उदयागत कर्म हैं और उन उदयागत कर्मोमें नवीन कर्मोके आश्रवणका निमित्तपना बन जाय, उसका निमित्त है राग द्वेष मोह भाव। अर्थात् रागद्वेष मोह परिणाम नवीन कर्मोके आश्रवणके निमित्तमें निमित्तपना देनेका कारण है। सो रागादिकभाव यदि नहीं होते हैं तो उदयागत कर्म भी नवीन कर्मोके आश्रवण करनेमें समर्थ नहीं हैं। किन्तु यह बात हर स्थितिमें नहीं लगायी जा सकती, नहीं तो एक मिथ्यादृष्टिको भी असंज्ञी को भी बोलो आने दो कर्मका उदय, पर रागद्वेष न करो तो तुम्हारा काम बन जायगा। ऐसा सर्वत्र नहीं घटित होता। जहाँ उदयागत कर्म जघन्य गुण वाला है, जैसे दसवें गुणस्थानमें लोभ आदिका उदय होता है। इसी प्रकार जघन्यगुणरूप परिणति है वहाँ नवीन कर्मके आस्रवणका निमित्तत्व भी नहीं है। फिर वे नवीन कर्मका कैसे आस्रवण कर सकेंगे।

फिर वही कण्टक प्रश्न :—फिर यह कहा जा सकता है तो उसके पहिले तो द्रव्यकर्म और भाव कर्मोका बराबर मुकाबला चला तो मुक्तिका अवसर कैसे मिलेगा। सो भाई इस बातको भी निमित्त नैमित्तिक पद्धतिसे देखते है तो इसका भी सुलझेरा उस पद्धतिमें भी हो जाता है। पहिली बात यह है कि जब जो प्रकरण आता है उस प्रकरणमें हम उस प्रकरणवाली बातको जानने और समर्थनसे डरें तो इसका अर्थ यह है कि हम अपने ज्ञानबलमें कुछ कमजोरी रख रहे हैं। जैसे कोई युवती परघर जानेमें भय खाये तो उसका अर्थ ही यह है कि अभी उसमें वह निर्भयता नहीं आयी जो निर्भयता एक वृद्ध विवेकी महिलामें होती है। जब जो प्रकरण जैसा आ जाय, उस प्रकरणमें वैसा ही देखकर उसको समझ लेना चाहिए। द्रव्य बंधका निमित्त उदयागत कर्म हैं। और उदयागत कर्मोमें ऐसा निमित्तपना बनें, इसका निमित्त है रागद्वेष मोह भाव और रागद्वेष मोह पैदा हो उसका निमित्त है वही उदयागत कर्म। यों आस्रवके मूल कारण रागादिभाव हुए।

विकट उलझन :—कितना फँसाव इस संसार कम्पनीका है कि उदयागत कर्म तो उदितका निमित्त है और उदयागत कर्मोमें नवीन बंधका निमित्तपना आ जाय, इसका निमित्त है वह उदित भाव तो मूलमें आश्रवका कारण उदितभाव हुआ। द्रव्य बंधका मूल हेतु राग परिणाम मात्र या विभाव परिणमन मात्र है। कर्मकुलकी शोभा अपने घरके दुश्मनसे है।

सकल उपद्रवोंका मूल अज्ञान :—सो भैया ! जितना भी जो कुछ संचय होता है बंधन होता है, भवभवमें रुलना होता है, जो भी दुर्गतियाँ होती हैं उन सबका निमित्त हेतु अपना भाव कर्म है, अज्ञानमय परिणाम है सो जब कभी ऐसी बुद्धि आये कि हमें कर्मोका बंधन तोड़ना है, शरीरकी गिरिफ्तारी से निवृत्त होना है तब कर्मोपर दृष्टि न दें। शरीरपर दृष्टि न दें। कहीं शरीर और कर्मोकी गाँठ नहीं खोलना है। आत्मद्रव्य परद्रव्योंका कर ही क्या सकता है। और परद्रव्य आत्मद्रव्यका कर ही क्या सकता है।

अपने स्वाधीन कार्यपर बल :—अपन तो ऐसा ज्ञानोपयोग बनायें कि कर्म के आने, जाने, ठहरनेका साधन न रहे। जैसे कभी घरमें कोई कुमित्र अधिक आता बैठता है और आपकी यह इच्छा हो कि इस दोस्तका आना जाना बन्द कर देना चाहिए तो विवेकी लोग यह करते हैं कि मुखसे तो उसे नहीं डाटेंगे कि तुम आजसे न आया करो, हम तुमसे कोई मित्रता नहीं मानते, फिर क्या करेंगे ? जिन बातोंके कारण जिन साधनों पर कुमित्र आता है, उनकी पूर्ति बंद कर देंगे तो उसका आना अपने आप बंद हो जायगा। कर्म तो अपने आप आते नहीं। आप करें क्या कि जो शरीर दिख रहा है उससे आप अलग हो जायें। शरीरसे अलग होनेमें तुम्हें हाथपैर नहीं मरोड़ना है। शरीर से अपनेको पृथक समझ लेना है इस तरहसे शरीरसे आत्मनिवृत्ति हो सकेगी। चाहे शरीरके संयोगरूप दृष्टि दो और चाहें शरीरके वियोगरूप दृष्टि दो, शरीरकी ही दृष्टि यदि रही तो शरीरकी दृष्टि रहते हुए शरीर का बंधन नहीं समाप्त हो सकता।

परम कर्तव्य परम उपेक्षा :—शरीरके बन्धनसे मुक्तिके लिये कर्त्तव्य क्या है ? कर्तव्य यह है कि शरीरकी बातें ही न पूछो। जिसको निवृत्त होना है उस निज आत्मप्रभुके ऐश्वर्यके अवलोकनमें लगो, जिसमें आनन्द भरा है। ज्ञानकी परिपूर्णता है, उस ज्ञानानन्दमय इस निज देवके ऐश्वर्यको ही लखते रहो। यह लखाव कर्मबंधकी निवृत्तिका हेतु है। भैया ! सर्वसे पृथक केवल अपने स्वभावमें तन्मय अपने स्वरूपास्तित्त्वरूप आत्मतत्त्व की दृष्टि न हो तो ये पुद्गल कर्म प्रवेश करते हैं, ठहरते हैं, उदित होते हैं व नवीन बंधन भी करके जाते हैं।

इन चारों क्रियाओंका अपर अर्थ :—अथवा इन चार क्रियाओंका अर्थ इस प्रकार भी लगाया जायगा। प्रविशान्ति माने प्रवेश करते हैं, प्रदेशबंधरूपसे परिणमते हैं। प्रवेशका सम्वन्ध प्रदेशोंसे है। तिष्ठन्ति अर्थात् स्थितिबंधरूप

होते हैं। प्रवेश करनेका एक समय है, दूसरे समय अगर वह रह जाय तो वह ठहरना कहलाता है। इस दृष्टिसे कहीं-कहीं ग्रन्थोंमें यह कहा गया है कि आश्रव के क्षणके ऊपर बंध होता है। अर्थात् आश्रव पहिले समयमें है और बंध दूसरे समयमें है।

आस्रवके बाद बंधके कथनका समन्वय :—इस मर्मको दूसरे दृष्टिसे देखो, आस्रवका पहिला समय है और उसके बाद अगर ठहर जायगा, दूसरे समय रह जायगा तो वह ठहरना कहलाता है, स्थिति कहलाती है तो भले ही स्थितिका व्यपदेश दूसरे समयमें होता है किन्तु ठहरा तो वह पहिले ही समय से है। दूसरे समयसे ठहरनेके कारण ठहरनेका व्यापदेश होनेके बावजूद भी ठहरना पहिले समयसे ही है। अगर दूसरे समय नहीं ठहरता है तो पहिले समयमें ठहरनेका व्यपदेश नही रहता है। व्यपदेशके कारण आस्रवके समयके बाद दूसरे समयकी स्थिति बताई है मगर कबसे कर्मस्थिति है इसके उत्तरमें तो पहिलेही समयसे कहना होगा तो आस्रव और बंध दोनों एक साथ हुए, ठहर गये। यह स्थितिबंध हुआ। यान्ति गच्छन्ति के माने है जाते हैं, इससे यह ध्वनित हुआ कि वे फलको देकर जाते है। बज्झन्ति याने बाँधते हैं, नवीन कर्म बाँधते है याने प्रकृतिबंध होता है।

आस्रवके समय ही कर्ममें चतुष्करूपताका निर्णय :—भैया ! जब जीव राग-द्वेष मोह परिणाम करता है उस समय कार्माण वर्गणाओंमें कर्मस्वरूपता आती है और उस ही क्षणमें चार निर्णय हो जाते हैं कि ये कर्म किस प्रकारके प्रयोजनवाले बने अर्थात् यह ज्ञानको ढकने वाला हुआ या दर्शनको ढकने वाला हुआ ? ज्ञानावरणादिक रूपसे उनमें प्रकृति पड़ जाती है। और उस ही क्षण वहाँ यह भी निर्णय हो जाता है कि वे कार्माण वर्गणायें कितनी डिग्रीका फल देनेका निमित्तभूत हैं, इसे कहते हैं अनुभाग बंध और वहाँ यह निर्णय होता है कि इस प्रकारकी प्रकृति वाले कितने परमाणु बनें और इस तरह की प्रकृति वाले कितने परमाणु बनें।

जीवका परके कार्यमें अकर्तृत्व :—इतना बड़ा काम यह जीव नही करता। जीव तो केवल विभाव परिणमन करके विश्रांत हो जाता है। वहाँ कार्माण वर्गणाओंमें ये चार बातें स्वय आ जाती हैं तो ये चारों कर्मोंके परिणमन है, जीवके परिणमन नहीं। इन सब द्रव्यबंधोंका हेतु भाव कर्म है। यह घाटी वाला मार्ग है। थोड़ी दूरीपर गड्ढा आया, फिर ऊँचा आया, फिर ऊँचा आया, फिर कुछ उन्मार्ग मिला, जिसे कहते हैं स्थंडिल जैसे कि ऊँचे

नीचे खेत जिसे कहते हैं अटपट, ऊवड़खावड़ । तो ऐसा ही यह मार्ग है।
इस प्रकरणमें थोड़े-थोड़े क्षणके बादमें विविध वर्णन करना पड़ता है। इस
द्रव्य बंधका वास्तवमें मूल निमित्त क्या है तो तुरन्त एक उपादानदृष्टि बनानी
पड़ती है तो अनेक दृष्टियाँ बनाकर यह प्रमाणकी बात कही जा रही है।
निश्चयनय प्रमाणका अंश है और व्यवहारनय भी प्रमाणका अंश है।
प्रमाणके वर्णनमें दोनों ओरका ख्याल रखकर वस्तुको बताना होता है।

नैमित्तिक भावकी स्वयं प्रतिष्ठाका अभाव :—मोह रागद्वेष रूपभाव होता
है तो नवीनकर्मबंध भी हो जाता है, नहीं होता है सो नहीं बँधता है।
जैसे किसी बंधनमें पड़े हुए भी जितनी अपनी शक्ति जोर कर सकते हैं उस
मुताबिक उस बंधनके हटानेका पुरुषार्थ किया जाता है। इसी प्रकार भावके
बंधमें पड़े हुए भी इस ज्ञान बलके द्वारा जितना भी इससे सामर्थ्य बन सकता
है उस सामर्थ्यको लगा कर उस भावके बंधनसे निवृत्त होनेका हमें यत्न
करना चाहिए। अर्थात् कोई भी परिस्थिति मेरी हो, बाह्य संयोगोंमें कैसे ही
जकड़े हुए हों कितनी ही खराब विपदायें हों, जब इन परिस्थितियोंको नहीं
प्राप्त करनेका लक्ष्य है तो पूर्ण सामर्थ्य लगाकर हम अपनेमें शुद्ध निर्विकल्प
अपने ही स्वरूपस्तित्वके कारण जैसा सहज स्वरूप है उस स्वरूपकी हम
दृष्टि करें तो हमको बाँधने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। कर्मोंने मुझे
बांध लिया है, शरीरने मुझे जकड़ ही लिया हो ऐसा नहीं है। यह तो दोनों
की ओरसे निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धका परिणाम बन गया है।

विपदाओंसे सुलझनेका एक मात्र उपाय स्वभावदृष्टि :—भैया, सर्व परि-
स्थितियोंसे सुलझनेका उपाय केवल स्वभावदृष्टि है। क्या हुआ ? कैसे
हुआ इस प्रश्नको अव्याकृत प्रश्न कह लीजिये, अर्थात् इन बातोंको हम
विशेष विश्लेषण नहीं कर सकते तो भी इतनी हानि नहीं है। इतना साफ
दीखता है, इतना बंधन है, कि यह बंधन इसका कारण है इसलिए विभाव
मत करो। विभाव न करो इसका उपाय है कि जैसा सहज अपना स्वरूप
है उस स्वरूप अपनी भावना बनाओ। मैं सर्वसे न्यारा हूँ, ज्ञानमात्र हूँ,
अमूर्त हूँ, इसमें किसीका प्रवेश नहीं है। ऐसा यह मैं स्वयं सिद्ध चैतन्य
पदार्थ हूँ मेरी भावनामें यह बल है कि कर्मबंध स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं।

भावबंध रागादिक परिणामोंको कहते हैं। ये रागादिक परिणाम
ही वास्तवमें द्रव्यबंधके कारण हैं। इस कारण भावबंध ही निश्चयबंध
है। इस प्रकारकी सिद्धि इस गाथामें कर रहे हैं।

रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥१७६॥

जो रागी जीव है वह कर्मोंको बाँधता है और जो रागरहित आत्मा है वह कर्मोंसे छूटता है, इस प्रकार निश्चयसे जीवोंके सम्बन्धमें बंध व्यवस्था जानना चाहिये।

द्रव्यबंधका साधकतम राग परिणाम :—चूँकि रागपरिणत आत्मा ही नवीन द्रव्य कर्मोंके द्वारा बद्ध होता है पर वैराग्यपरिणत आत्मा कर्मोंसेबद्ध नहीं होता है। वैराग्य परिणत आत्मा तो द्रव्यकर्मोंसे छूटता है और रागपरिणत आत्मा नवीन द्रव्यकर्मोंसे नहीं छूटता। राग परिणत आत्मा आये हुए नवीन द्रव्य कर्मोंसे अथवा पुराने चलते आये हुए द्रव्य कर्मोंसे नहीं छूटता। वैराग्य परिणत आत्मा आस्रवसे भी छूटता और चिर संचित कर्मोंके बंधसे भी नहीं बँधता है। इससे यह निश्चय किया जाता है कि द्रव्य बंधका साधकतम राग परिणाम है। सो यह राग परिणाम ही निश्चयसे बंध कहलाता है। तथा यह जीव रागवश दीनताका दुःख भोगता है।

रागपरिणामसे व्यवहारमें भी बन्धन :—अभी अपनेमें ही प्रैक्टिकल देख लो, किसी जीवके सम्बन्धमें राग होनेसे वह उस जीवसे बँध जाता कि नहीं ? 'जीव बँध गया' से मतलव उस जीवको प्रसन्न करनेका विकल्प बनाने लगे, उस जीवसे कुछ अपनेको चाहनेका विकल्प वना लिया, इसीको कहते हैं कि यह जीव इस जीवसे बँध गया है। राग हुआ और बंधन हो गया। किसी वस्तुमें राग न हो तो कोई बंधन नहीं।

स्नेहबन्धनसे मुक्त पुरुषकी महत्ता :—प्रश्न—लोकमें बड़ा कौन है और छोटा कौन है। जो रागादिक विभावोंके बंधनसे अलग है, स्वतन्त्र है वह तो बड़ा है और जो रागादिकके बंधनमें जकड़ा हुआ है वह छोटा है। लौकिक यश, लौकिक सम्पदा, लौकिक कारणोंसे अपनेको बढ़ाकर यह जीव कब तक अपना गुजारा कर सकता है ? कल्पनाएँ मात्र भला गुजारा अधिक से अधिक इस जिन्दगीमें कर ले, पर इस जिन्दगीके बाद यहाँका नाम, यहाँ का परिचय यहाँकी करतूत क्या इस आत्माको कुछ मदद कर देगी ? नहीं। जितने क्षण शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूपकी अनुभूति होती है उन क्षणोंकी कीमत तीन लोकका वैभव भी मिलकर नहीं कर सकता। जीवकी प्रशंसा, तारीफ, उत्कृष्टताविरक्त रहनेमें है, सबसे परे रहनेमें है, अछूता उपयोग बनानेमें है।

मलिनतामें मलिनताकी श्रद्धाका भी महत्त्व :—यदि निःस्पृहता नहीं निभ

सकती है तो इतना तो मनमें विश्वास बनाये रहो कि ये विकल्प सब कूड़ा-करकट हैं। ये कूड़ा करकट न हट सकें तो इतनेपर भी इतनी बातका विश्वास तो मनमें बना रहे कि सब कूड़ा-करकट हैं, इनका विकल्प, इनकी प्रीति मल है, विकार है, व्यर्थकी चीज है। इतनी प्रतीति रहे तो भी कहा जायगा कि तुम अपने खूटासे बँधे तो हो और यह भी प्रतीति न रहे तो इसी के माने है आशक्ति। अनाशक्तिमें यह बोध रहता है कि ये विषय, ये भोग, ये संगम, ये संचय सब व्यर्थ हैं। इनसे मेरा पूरा नहीं पड़नेका है। ऐसी प्रतीति हो तो अनाशक्ति रह सकती है। और उससे भी अगर गये तो आशक्ति जगजाल, संसार भ्रमण ये सब बराबर बने रहेंगे।

निजकी आशा ही यथार्थ :— किसी भी जीवपर यह विश्वास न करो कि इन लोगोंमें यदि मैं ठीक कहलाऊँ तो मेरी उन्नति है। इस बातको बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। मैंने यदि अपने ज्ञानरसके अनुभवका आनन्द चखा है तो मेरी उन्नति होगी। यह काम बना है तो उन्नति है। हमने सारा ज्ञान कर लिया, कह लिया, चर्चा करली, इससे भी कुछ नहीं होगा। वह ज्ञानकी अनुभूति कुछ जनोंके बीच बैठे हुए भी हो सकती है। इस ज्ञानकी अनुभूति किसी जगह भी रहकर हो सकती है इसका साधकतम निजस्वभावका दृढ़ परिचय है। जिसको अपने स्वरूपास्तित्वका यथार्थ दृढ़ परिचय है उसको ज्ञानानुभूतिका जहाँ चाहे अनेक अवसर आ सकते हैं।

आत्मानुभूतिकी सरल पद्धति :— ज्ञानानुभूतिमें क्या कठिनाई है ? जैसे तुम बहुत चीजोंको जानरहे हो ना ? हम अमुकको जानते, अमुकको जानते, बहुत जानन बना रहता है ना, बजाय उन बहुतोंके जाननेके ज्ञानका स्वतः सिद्धस्वरूप क्या है, इसके जाननेका यत्न करें और जानलें तो ज्ञानानुभूति प्रकट होती है। न निर्णय हम बहुत पदार्थोंका करें, एक ज्ञानका ही निर्णय बनायें कि इसका स्वरूप क्या है, यह क्रियात्मक होता है। उस ज्ञानके स्वरूपको जाननेमें लगे तो ज्ञानानुभूति हो सकती है। इस ज्ञानानुभूतिके बिना जीव रागी बनता है, द्वेषी बनता है, मोही बनता है और उन परिणामोंके कारण नाना उपसर्ग और आपत्तियाँ आती हैं। इन राग परिणामोंमें हितबुद्धि न करें तो इन जीवोंका क्या बिगड़ता है ? वरन् सुधरता सब कुछ है। इन बाह्य पदार्थोंसे हमारा हित है, हमारी उन्नति है, ऐसे भाव न बनाएं और सही बात मान जायें कि भला तो हमारा तब है जबकि किसी भी पदार्थका विकल्प न करें, उपयोग न करें।

परसे अहित निजसे हित :—केवल अपने निजानन्द रसमें छके रहें ज्ञान रसका पान करते रहे, तो कैसी भी स्थिति हो भला ही है। यों उपयोगमें दृढ़ विश्वास रहना चाहिए। अन्य लोगोंका विश्वास करना एक बड़ा धोखा है। जैसे कुछ लड़नेके सम्मुख हुए दो जीवोंको थोड़ा सा छुछका कर लड़ाई, खेल देखते हैं और मौज मानते हैं इसी तरह ये जगतके जीव किन्ही जीवों को परमें लगाकर, भिड़ाकर, छुछकाकर, कुछ राग जताकर, बरबाद करा कर, देखकर मौज मानते हैं। यहाँ किसका विश्वास किया जाय ? यह मोही जीव जिसका विश्वास किए है, जहाँ इसको सुन्दरता जच रही है उससे बढ़कर भयकी चीज, खतरेकी चीज, बरबादीकी बात और कुछ नहीं है। यह मोही जीव अपनेको अकिंचन समझकर भय खाता है। यह न होगा तो मैं क्या करूँगा ? कैसे गुजारा होगा ? यह जीव आकिंचन होनेका भय खाता है मगर इसका कल्याण करने वाला तो आकिञ्चन्य ही है। यह मोही जिससे डरता है वही तो कल्याणकी बात है और जिसमें रचता है वही अकल्याणकी बात है। इन जीवोंका शरण आकिञ्चन्यभाव है, क्योंकि आकिञ्चन्यभावके माध्यमसे यह जीव ज्ञानानुभूतिकी ओर झुकता है।

भैया ! जो अपनेमें संकल्प विकल्प अलाय बलाय सब कुछ मानता रहे, यह मेरा है, यह मैं हूँ मैं इतने ऐश्वर्य वाला हूँ, इस प्रकार जो अपनेको विशिष्ट मानता रहेगा वह किसी प्रकार भी शुद्ध ज्ञानके रसका स्वाद नहीं पा सकता है। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं समा सकते हैं इसी प्रकार एक उपयोगमें योगकी बात और ज्ञानानुभूतिकी बात, दोनों ही नहीं समा सकती है। किसी पदार्थका विकल्प करना, खुश होना, किसी अन्य पदार्थसे भला मानना ये सब मनके भोग है। या तो भोग भोग लो या विलक्षण, अनुपम, स्वाधीन शुद्ध आनन्दरससे छक लो। दोनों बातोंमें व्यवहार करते हुए, यत्न करते हुए सिद्ध नहीं हो सकेंगे। मार्ग एक कोई सा चल सकोगे।

धर्मश्रम करनेसे पहिले धर्ममार्गका निर्णय आवश्यक :—सो भैया ! यह निर्णय करलो कि हमको शाश्वत लाभ लेना है एतदर्थ कैसा उपयोग बनायें कि हमें शाश्वत लाभ हो। ये तो सब बंधकी बातें हैं और अन्तरमें स्वभावलो-कन करना मोक्षका मार्ग है। जो रागी जीव होता है वह कर्मोंसे बँधता है और जो रागरहित आत्मा होता है वह कर्मोंसे छूट जाता है। अपने लाभ टोटेकी बात तो देखो। उपयोग भूमिकामें यदि राग विकल्पका आदर चल रहा है तो यही मर मिटनेकी निशानी है।

ज्ञानगवेषणा हितका प्रारम्भिक यत्न :—इस निज भूमिकामें यदि शुद्ध ज्ञान स्वरूपकी खोज हो रही है और उस शुद्ध ज्ञान स्वरूपकी खोजके लिए उतरा जारहा है तो यही एक प्रारम्भिक मोक्षका मार्ग बन गया। शान्तिके लिए बड़ा त्याग करना पड़ेगा। जितना राग है, विकल्प है, स्नेह है, प्रीति है, इन सबको ध्वस्त करना होगा, जलाना होगा तब शान्तिका मार्ग प्राप्त हो सकता है। मेरा कहीं कुछ नही है। मेरा मात्र मैं ही सत् हूँ। अहो ! इस सत्का कोई मित्र नहीं है, इस सत्का कोई शत्रु नहीं है। यह जब स्वयं गड़बड़में आता है तो दूसरे लोग शत्रु जचने लगते हैं।

स्वयंकी गड़बड़ीके परिणामका एक दृष्टान्त :—जैसे कभी कोई पुरुष किसी चिन्तामें बैठा हो, और गहरी आपत्ति वेदन कर रहा हो, किसीका सताया हुआ हो, बेचैनीमें पड़ा हो, तो ऐसी स्थितिमें अगर घरका बच्चा भी कुछ ढंगसिर न हो, या कहीं उठ खड़ा हो तो उसपर भी भुंझला जाता है, तू यों करता है, तू ऐसा क्यों नहीं करता है ? क्या उसमें परिणति उस बच्चेसे आ गई है ? नहीं। जिस विपत्तियोंके विकल्पोंमें डूबा हुआ है वह अपनी खुदकी गड़बड़ीसे ही डूबा हुआ है, स्त्री-पुत्रोंके प्रति भी क्रियाका कुछ दीख जाना उसे कुछ ऐसा लगता है कि ये लोग मुझे चिढा रहे हैं, ये लोग मुझे सतानेका कुछ उपाय कर रहे हैं। उन बेचारोंको कुछ पता नहीं कि ये बाबू साहब कुछ गहरी विपत्तिमें बसे हुए हैं, बाबू साहबको कुछ ऐसा जच रहा है कि देखो ये बच्चे भी लापरवाह होरहे है। मेरे दुःखमें जरा भी मदद नहीं करते और ये उल्टा चिढ़ानेका ही उद्यम कररहे हैं। सर्व बातें उसे विपरीत मालूम दे रही है। क्योंकि यह खुद गड़बड़में पड़ा हुआ है।

विशुद्धभावमें विशुद्ध प्रतिभास :—इसी प्रकार अपना भाव खुद गड़बड़ीमें हैं तो दूसरे लोग उसे दुश्मन जचने लगते हैं। 'इन जीवोंका दुश्मन कोई नहीं हैं। अन्य कोई किसीके दुश्मन हो ही नहीं सकते है। यह बात बिल्कुल ध्रुव सत्य है कि कोई भी जीव मेरी आत्माका बिगाड़ कर ही नहीं सकता है। हम बिगड़े हैं तो दूसरे जीव भी हमें यों दीखते हैं कि ये मेरा बिगाड़ करनेपर उतारू हैं। खुद भला बन जाय, खुदका हृदय स्वच्छ बनालें तो ये समस्त विपरीत कल्पनाएं समाप्त हो जावेंगी। तो अपने आपके भीतरकी सावधानीकी रचना करना अपने व्यूहको पक्का बनाना है। यदि यह भावना है कि मेरेपर कोई किसी प्रकारका संकट नहीं ढा सकता, और अपना अन्तरका ऐसा ग्रुप बनता है, अपनी ऐसी तैयारी करते हैं तो सर्वप्रथम अपने

भीतरके गंदे आशय व अभिप्रायको निकालकर अपने हृदयको शुद्ध बनाना चाहिए यही सब विपत्तियोंसे बचनेका सही उपाय है।

भावके अनुकूल दर्शन :—जो जैसा भाव लिए बैठा है वह अपने भावोंके अनुकूल दूसरोंकी चेष्टाओंका अर्थ निकलता रहता है। खुद यदि प्रसन्न है और स्वच्छ है तो भगवानकी मूर्तिके दर्शन करते हुए हमें यों मालूम पड़ेगा कि आज तो मूर्ति बड़ी शान्ति झलकाने वाली, बड़ी प्रसन्न दीख रही है। और रोनी सूरतमें भगवानके दर्शन करें तो ऐसा मालूम होता हैं कि आज भगवान भी रोते हुए दीखते हैं। सब कलाएँ अपने आपके चित्तके भीतरकी योग्यताओंकी हैं। यह रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मोंसे छूटता है। अपने अन्दर खोजो कि हमें कितने प्रकारके राग लग रहे हैं। जब तक राग है तब तक अपनेको सुरक्षित न मानों।

श्रद्धासे भी गये गुजरे होनेपर चिकित्सा असंभव :—भैया ! चाहिए तो यह कि उन रागोंको एकदम छोड़ें और न छोड़ सकें तो इतना तो मानते रहें साहब कि ये सब मेरी बरबादीके लिए कूड़ा-करकट तुल्य हैं, घूरा है। और इतना भी नहीं हो सकता है तो खुला हुआ मार्ग निगोद, तिर्यञ्च संसारमें भ्रमणका पड़ा हुआ है सो आनन्दसे करो। कोई रोकने वाला नहीं है। जैसे किसी एक लेखकने लिखा है सुना है कि भाई ब्रह्मचर्यसे रहो तो उसमें आनन्द मिलेगा। किसी गृहस्थने पूछा कि यदि हम ब्रह्मचर्यसे पूर्ण न रह सकें तो ? तो भाई सालमें एक दो बार भंग हो जाय तो हो जाय, पर शेष दिन तो ब्रह्मचर्यसे रहो। और इतना यदि नहीं बन सकता तो ? माहमें २०-२५ दिन ब्रह्मचर्यसे रहो। और इतना भी यदि नहीं रह सकते तो, सुनो ध्यानसे कफन पहिले खरीद कर अपने लिए रख लो और फिर जैसा मन चाहे वैसा करो। ब्रह्मचर्यकी दृष्टि न रखने का अर्थ मृत्युको शीघ्र बुलाना है।

अध्यात्मिक कर्तव्य :—योंही अध्यात्मकी बातको देखो, भाई करनेका काम तो यह है कि अपने चरित्रमें भी आकिञ्चन्य उतार लो। मेरा कहीं कुछ नहीं है मैं तो अपनेही स्वरूपास्तित्वमात्र हूँ। इतना ही हूँ। इतनेमें ही परिणमता हूँ। यही सर्वस्व है। आकिञ्चन्य वृत्तिरूप भाव बना लो किन्तु यदि इतना नहीं हो सकता तो ? आकिञ्चन्यके खिलाफ जो वृत्तियाँ जग रही है, राग उठ रहे हैं उन रागोंको बुरा तो मानते रहें, उन्हें कूड़ा-करकट तो मानते रहें। और क्यों साहब ! इतना भी नहीं बन सकता तो, फिर यह शरीर, चारों गति, चौरासी लाख योनियाँ ये सब सामने हैं तो डट कर इनमें भ्रमण करो।

इतनी बातमें भी तकलीफ है, कोई शरीरमें सुई नहीं चुभोई जा रही है, कोई पीट नहीं रहा है, कोई किसी प्रकारका संकट नहीं दिया जारहा है। जैसी बात है तैसा मानने भरके लिए कहा जारहा है। इतना भी यदि साहब अपने उपयोगमें नहीं उतारते तो फिर अब आगे इसका इलाज नहीं है।

मेरा वास्तविक मित्र और शत्रु :—सो भैया ! यह भावना, यह प्रत्यय तो निरन्तर बनाये रहना चाहिए कि मेरा शरण तो मेरे शुद्ध स्वरूपका अवलोकन है, आकिञ्चन्यभाव है, अध्यात्म ब्रह्मचर्यभाव है। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ तरंगें उठती हैं ये सब तरंगें मेरे लिए विरुद्ध कामोंको करती हैं, जैसे कि पलासके पेड़के लिए पलासमें लगी हुई लाख काम करती है। पलासके वृक्षमें लाख लग जाय तो वह लाख बढ़ती है और बढ़कर उस पलासके पेड़को सुखा देती है, ठूठ बना देती है। इसी प्रकार ये रागादिक मुझमें लगकर मेरे आनन्दको सुखा देते हैं और ठूठ बना देते है इसीको पंडित दौलत रामजीने लिखा है कि "लाख बातकी बात यही निश्चय उर लावो तोड़ सकल जग दंद फंद निज आतम ध्याओ। यदि इतनीभी डोर नहीं पकड़ सकते हैं तो यह निज पतंग हमारे हाथ नहीं रह सकती। धैर्य देने वाला, विपत्तियोंमें साहस देने वाला मित्र तो यह मेरा ज्ञानावलोकन है।

ज्ञानवृत्ति व रागनिवृत्तिके लिये प्रेरणा :—भैया ! सर्व काम कर डालें, वैभव बढ़ा लें पर उनमें कुछ भी तत्त्व न मिलेगा एक अपने आपके ज्ञानकी गहराईमें उतरें तो इसको सर्व वैभव मिलेगा सर्वानन्द मिलेगा। सो भैया, बंधन अपने आपके राग परिणामोंको ही जानो। ये अनन्ते द्रव्यकर्म लद गये हैं अनन्ते परमाणुवोंका समूह यह शरीर लद गया है, कहीं भाग नहीं सकते, कहीं निर्भार अनुभव कर नहीं पाते, यह सब आपदा हमने लगाई है तो अपने राग परिणाम करके लगाई है। इस कारण राग परिणाम मुझसे बाहर हों। ऐसा ही उपाय करने योग्य हैं। इस उपाय बिना इस संसारमें बराबर भटकनाएं बनती रहेगी और अकल्याण ही मिलेगा।

सृष्टि व परिणामोंसे द्रव्यबंध :— आत्माका जो भाव परिणाम रागकरके विशिष्ट है वह बिशिष्ट परिणाम अर्थात् जो रागदिद्रव्य बंधका साधकतम है। उसकी विशेषताओं सहित उन विशेषोंको प्रकट करते हैं।

परिणामादो बंधो, परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥१८०॥

बंध बिशिष्ट परिणामोंसे होता है। जैसा कि यह लोकमें भी कहा जाता

है कि यदि विशिष्ट परिणाम कर लिया तो उसके प्रति वह बँध जाता है। इसी प्रकार आत्मामें उपरक्त विशिष्ट परिणाम होनेसे वहाँ भी द्रव्यबंध हो जाता है। यह द्रव्यबंध विशिष्ट परिणामोंके कारण ही होता है। विशिष्ट परिणामोंका अर्थ परिणाम विशेषसे रंजित रहना है।

विशिष्ट परिणामोंके प्रकार :— वह परिणामविशेष क्या है? रागद्वेष और मोह। ऐसा बंध अथवा वह परिणामविशेष दो प्रकारका है, एक रागका अनुवर्तन करने वाला है और दूसरा द्वेषका अनुवर्तन करने वाला है। एक शुभरूप और एक अशुभरूप है। मोह, राग, द्वेष इन तीनोंमेंसे मोह और द्वेष तो अशुभरूप ही है और राग जो है वह अशुभरूप भी है और शुभरूप भी है क्योंकि राग कभी विशुद्ध परिणाम का अंग बनता है और कभी क्लेश परिणाम का। इस कारण रागके दो प्रकार है एक शुभराग और एक अशुभराग।

बंधका रूप व बंधचेष्टा :—शुभ और अशुभ परिणामोंके कारण जीवका और पुद्गल कर्मका परस्परमें विशिष्टतर अन्योन्यावगाहरूप बंध होता है यह बंधका प्रकरण बहुत पहिलेसे चला आरहा है। वस्तुतः बंध क्या है? बंध तो अपने राग द्वेष मोह विकार भावोंका ही है जो भी जीव किसी दूसरेके आधीन है वह वस्तुतः दूसरोंके आधीन नहीं है, किन्तु वह स्वयं अपने ही राग परिणामोंसे विवश होकर ऐसी चेष्टा करता है कि जिससे दूसरोंके बंधनमें आना कहलाता है। कर्म तबतक बँधता है जबतक उनमें राग परिणाम चलता रहता है। और जब रागके स्थानपर द्वेष परिणाम भाइयोंमें परस्परमें हो जाय तो क्या बंधन मिट जाएगा? नहीं मिटेगा। यहाँ पहिले रागरूपमें बंधन चलता था, अब यहाँ द्वेषरूपमें बंधन चलने लगा जब रागभाव था तो भाई भाईको अपने उपयोगमें लिए रहता था, अब द्वेषमें उसे लिए रहता है। रागमें अपने भाईको उपयोगमें लेकर रागी अन्य प्रकारोंके विकल्पोंसे दुःखी था अब द्वेषकी स्थितिमें भाई को उपयोगमे लेकर द्वेषोंके प्रकारोसे दुःखी होता है, विषय भ्राता नही बदला, किन्तु उनमे दृष्टि भेद हो जानेसे बंधका प्रकार बदल गया है, बंध नही हटा।

बंधकी पहिचान :—बंधन है इसकी पहिचान? इसकी पहिचान बंधन कर्ताकी स्वयकी बेचैनी है। रागके समय भी बेचैनी थी और अब द्वेषकी स्थितिमें भी बेचैनी है। बेचैनीका प्रकार और उसकी सीमा बदल गई है अब द्वेषमे बेचैनीकी सीमा व द्वेषके प्रकारमें बेचैनी आ गई है। बस, जहाँ बेचैनी हो रही है, वहाँ समझना चाहिअ कि नियमसे बंधन है। बंधन, बिना बेचैनीके

मोह ही बंधन :—मोह तो उससे भी अधिक बंधन है। उसमें तो पूर्ण बेचैनी हैं। बेचारोंको अपनी बेचैनीका पता भी नहीं पड़ता और बेचैनी सबसे अधिक रहती है। पता न पड़नेका अर्थ है कि यह बेचैनीका बेचैनी के रूपमें विवेक नहीं कर पाता कि यह मेरेमें बेचैनी हो रही है, सर्व प्रकारके बंधन प्राप्त हो रहे हैं। यह परिणाम रागद्वेष और मोहसे युक्त होता है।

समतामयी परिणति :—मोहके परिणाममें क्या होता है? जिनको कि अपना मान रखा है उनमें आसक्तता बढ़ जाती है, अन्य में नहीं। घर का कोई पुरुष बीमार हो गया, कोई कष्ट आ गया तो कैसा रो आता है, हाय! भाई! तू इस रोगसे दब गया। यह मोही उसके रोगको उसकी अवस्थाको अपने लिये कितना क्लेश मानता है और कितनी आसक्तता बढ़ जाती है। उसके सिरपर हाथ फेरते हैं, मुखपर हाथ फेरते हैं, गद्गद स्वरमें बोलते हैं। हाय भाई क्या हो गया, तेरा मुख कैसे कुमला गया, बेटा तुझे क्या हो गया तू कैसा था और कैसी दशा तेरी बन गयी क्या यह दयाका भाव है नहीं, नहीं, यह तो ममताकी वाणी है। मोहमें और क्या होता है यही तो होता है कि अपने इसको बहुत उन्नतिशील बना दिया जाय या ऊँचा बना दिया जाय, ऐसे परिणाम होते हैं मगर किसको ऊँचा बना दिया जाय, उन्नतिशील कर दिया जाय, धनी कर दिया जाय? उसे जिसमें कि ममता है अन्य से तो ईर्ष्यातिकका भाव हो जाता है।

ममताका ताण्डव :—भैया! जगतमें सबसे बड़ा संकट है तो ममताका संकट है। रहना कुछ साथमें नहीं, अब भी इसका कुछ नहीं है भिन्न-भिन्न अस्तित्वको लिए हुए पदार्थ हैं। जैसे वैद्य बीमार हो जाय तो वैद्यके रोगको समझने वाला दूसरा वैद्य होता है। इलाज भी दूसरे वैद्यसे किया जाता है। खुद स्पष्ट समझमें रोग नहीं आता। कैसे समझमें आये? थोड़ी देर बाद भूख लगेगी तो उड़दकी दाल और मिर्च खानेको जी ललचायेगा। तो फिर अपना रोग कैसे स्पष्ट समझमें आये? दूसरा वैद्य जब ठीक समझता है तब समझा देता है कि उड़द की दाल और मिर्च बिल्कुल न खाना होगा। अपने-अपने रोगको खुद कैसे समझ सकते हैं। खुद तो ऐसा जान रहे हैं कि हम बड़ी बुद्धिमानीका काम कर रहे हैं अपने ही तो बच्चे हैं, इन्हें अच्छी तरह से रखना है और इनको खूब पढ़ाना है, डबल एम० ए० तक पढ़ा दें। और अच्छी अच्छी चीजें पढ़ा दें, यह सब तो अपना कर्तव्य है।

मोह या कर्तव्य :—बहुत बड़ा कर्तव्य है भैया! पड़ोसीके लड़केपर ऐसा

कर्तव्य भाव क्यों नहीं जगता ? यह कर्तव्य नहीं, यह तो मोहका भूत है। मोही प्राणी ममतामयी परणतिको कर्तव्यकी खतौनीमें खताया कर अपनेको और अपने कर्तव्यको भूल जाय व मोहको कर्तव्य माने तब क्या वह कर्तव्य है। मोही निरंतर मोहका ही परिणाम किये जा रहा है। अपना राग रोग अपने समझमें कैसे आयगा ? दूसरेके रागको हम कितना जल्दी समझ लेते हैं। आपके मोहपर कुछ हमें हँसी सी लगती है, देखो तो कहाँ दिमाग लगाये हैं, किस जगह दिमाग बसाये हैं, कैसा व्यर्थका काम कर रहे हैं। पर खुदका मोह नहीं समझमें आता। यह मोह परिणाम इतनी बड़ी भूल है कि इस भूलके परिणाम-स्वरूप संसार व संसारका भ्रमण है, मोह तो सबसे अधिक अशुभ परिणाम है।

राग परिणति :—भैया ! रागकी बात देखो। यह जीव रागकी भूमिकामें अपने आपके स्वरूपकी भावनाकी भावनासे च्युत होकर आनन्दके निधान केवल ज्ञानचमत्कारके परिणमनसे शुद्धस्वरूप सर्वस्वसे, अपने उपयोगको बाहर निकालकर अन्य पदार्थोंमें यह उपयोग लगाता है, उनको इष्ट रूपसे मानता है। इसके फल स्वरूप वर्तमानमें उसे संक्लेश हो रहे है, अनेक कर्मो का बंध हो रहा है, भविष्यमें दुर्गतिका सारा प्रबंध कर रहा है। अंतमें रहेगा कुछ नहीं। सब कुछ बिछुड़ जायगा।

आत्मगति :—अमूर्त आत्मा इस शरीरसे निकल जायगा कि नहीं ? बिछुड़ जायगा कि नहीं ? किसीके रोके न रुकेगा। एकदम यहाँसे यह आत्मा प्रस्थान कर जायगा। कैसी ही कांचकी हवेली बनालो जिसमें हवातक जानेके की जगह न हो। ऐसी जगह पर भी मरने वाला रोगी जब मर जाता है तो काँच फूटता तक नहीं है, धक्का भी नहीं लगता है और यों ही आत्मा निकल जाता है। यह आत्मा अमूर्त है और इसकी निर्व्याघात गति है।

आत्मपरिणतिकी प्रेरणा :—इस मुझ अमूर्त आत्माका अगले भवमें कौन साथी होगा ? किसपर इतने नखरे बगराये जायेंगे। और इस वक्त भी शरीर का कौन साथी है ? सबके परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, सबका आशय जुदा-जुदा है। अपने आशय और कषायोंके अनुकूल जनोंकी प्रवृत्ति होरही है। कोई किसी दूसरेका कुछ नहीं कररहा है। यहाँ भी हम अकेले ही हैं। तब फिर किसकी ओर राग करके बरबादी की जाय ? यह राग परिणाम अशुभ है।

शुभ परिणति :—हाँ जब शुद्ध विकासकी, आत्माके स्वरूपकी भक्ति है, उसकी ओर अनुराग है और शुद्ध स्वरूपके विकासमें जो लग रहे हैं ऐसे साधु

संतोंकी ओर अनुराग है तो यह अनुराग शुभोपयोग है इस अनुरागमें भी शुभपना जब भली प्रकारसे होता है तब यह भी विदित होता है कि मेरे हित का साधन यह है और इन पंच परमेष्ठियोंने हितका साधन पाया है इसलिए ये पूज्य हैं। ऐसा हित मैं भी कर सकता हूँ वह हितका साधन दीखे जहाँ पर शुद्ध आत्माओंमें भक्ति जगे। तो इस भक्तिका शुभपना वास्तविक मानेमें शुभ-पने को धारण कर सकता है। सब जगह बात यही आयगी।

हिताहितनिर्णय :—आत्महितके लिए कि अपने .आत्माके सहज स्वरूप को जानो और उससे ही स्नेह लगाओ। और यह पक्का विश्वास बनाये रहो कि मेरे आत्मतत्त्वके अतिरिक्त जितने भी लोकमें पदार्थ हैं, भाव हैं, पर्याय हैं उन सबसे मेरा हित नहीं. वास्ता भी नहीं है। मैं अपने आपके स्वरूप को ही देखूँ और उसमें ही लिप्त होऊँ तो मेरा कल्याण है। यदि इतनी बात बन सके तो इसे सर्व वैभव मिलेगा। फिर किसी भी विभूति की अथवा किसी भी संग प्रसंग की आवश्यकता नहीं रहती।

द्वेष परिणति :—द्वेष तो सब अशुभ ही होता है। कदाचित यह कहा जाय कि साधु संत जन भी शिष्योंकी शिक्षा आदि व्यवहारके समयमें अपने शिष्योंपर क्रोध भीं करते हैं, कुछ डाट डपट भी करते हैं तो क्या यह द्वेष भी अशुभ नहीं है इसका समाधान यह है कि द्वेष वह है जो निज स्वार्थ पूर्ति की भावनासे हो किन्तु जो शिष्यके हितके लिये, भलेके लिये उत्पन्न रागके कारण हुआ है, उस द्वेषके मूलमें द्वेष नहीं है और न कोई निजी विषय कषायोंका स्वार्थ है। इस कारण वहाँ भी शुभ रागकी मुख्यता है वह राग परहितकी भावना वाला शुभ राग है। उस रागके रहते सन्ते जो प्रवृत्ति हुई वह शुभ रागकी प्रवृत्ति है। कल्याणके पथसे कुछ स्खलित हुए शिष्योंपर जो द्वेष होता है उस द्वेषके मूलपर दृष्टि दें तो वह बाह्यमें द्वेषरूप परिणति अन्तरमें परकल्याणरूप है, इससे शुभ कहा जाता है। पर वास्तवमें जितना अंश द्वेषका है उतना अंश भी अशुभ है और जो अन्तरमें शिष्यके कल्याणका अनुराग बसा है वह तो शुभ ही है उस प्रकार राग तो शुभ और अशुभ दो प्रकारके चलते है और मोह और द्वेष अशुभ ही हैं।

ज्ञायक स्वभाव आनन्दनिधानसे च्युत बृत्तिका फल विनाश :—भैया ! चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो, आनन्दनिधान ज्ञायकस्वभावमय निज स्वच्छ स्वरूपसे चिगकर जितनी भी बृत्तियाँ बनती हैं वे बृत्तियाँ मुझसे पृथक हैं। उनसे मेरा हित नहीं है। वे मेरे विनाश करनेके लिए उपस्थित होती हैं। उनसे वैराग्य होना वास्तविक वैराग्य है। किनसे राग हटाना है? कोई जीव

अन्य पदार्थोंसे राग नहीं कररहा। जो राग परिणाम किया जा रहा है, उसका आश्रयभूत, विषयभूत परपदार्थ हैं। इन परिणामोंकी उपजकी पद्धति ही ऐसी है कि किसी परपदार्थका विकल्प वनाते हुए ही रागादिक उत्पन्न होता है जिस पदार्थको विषयभूत वनाकर यह राग भाव उत्पन्न होता है उसको उस विषयका राग कहा जाता है।

रागसे राग या विभावसे राग :—वास्तवमें तो यह जीव पदार्थोंसे राग नहीं करता, किन्तु अपने आपमें रागका विचार उत्पन्न करता है। जब यह जीव किन्हीं पदार्थोंसे राग कर ही नहीं सकता तो पदार्थोंका राग छोड़ेगा ही क्या। यह तो अपने विभावोंसे राग करता है तो छोड़ना भी अपने विभाव को है और उस विभावके राग को है।

क्रोधादि कषायमें विवेकका अभाव :—अपने परिणामोंको सव जीव भला भला समझ रहे है। क्रोधमें आ. र किसी पर पदार्थके विगाड़नेका संकल्प होता है तो इस संकल्पको भी वह भला वना देता है जैसे कभी, या कभी क्या, सेठ चंद्रभानकी जीवनीकी ही एक घटना मेरे गुरुजी सुनाते थे कि जब चन्द्रभानकी माँ ने कहा कि घी थोड़ा रह गया, घी मगवावो तो उस समय सेठ जी वोले कि इतना घी खर्च किया जाता है ? अव घी तेज हो गया है। इतनी वात सुनते ही माँके हाथ में ३-४ सेर घीसे भरा हुआ डवला था सो उस डवलेको पटकर कहा, वस अव घरका नाश हो गया। गुस्सा आ गया। इतनी गुस्सा आनेका कारण था कि मांने सोचा कि सेठ जी में इतनी अनुदारताका भाव कैसे आ गया ? इससे माँ को क्रोध आया तो उसने सामने ४ सेर घीका डवला फोड़ दिया। उसे अविवेक नहीं मालूम पड़ा। और भी देखो। जव किसी पुरुषके क्रोध बढ़ जाता है तो दूसरोंकी जान लेने तकका संकल्प करते हैं। और इतना क्रोध करने पर भी यह नही मालूम होता कि हम गैर ठीक कर रहे हैं। उसे तो यही जचता कि मैं जो करता हूँ वह ठीक करता हूँ।

मानादि कषाय की विडम्बना :—इसी तरह घमंडकी वात ले लो। अभिमान में आकर कितनी ही वातें यह वक देता है और अपने शरीरकी कैसी-कैसी चेष्टाएँ कर लेता है। जिन्हें देखनेवाला उसे वेवकूफ समझता है। पर अभिमानके आवेशमें आया हुआ पुरुष यह समझता है कि मैं यह ठीक काम कर रहा हूँ। इस जीवके जव कषाय जगती है तो यही समझता है कि मैं जो प्रवृत्ति कर रहा हूँ वह ठीक कर रहा हूँ। माया और लोभमें वर्तते हुए

भी यह अपनी प्रवृत्तिको बड़ी बुद्धिमत्ताकी बात समझता है। हाय, अपने ज्ञायक स्वरूपकी भूलसे कितनी विडम्बनायें होती हैं। अज्ञान ही रोग है। उस रोगको वह अज्ञानी नहीं समझ पाता। ये राग द्वेष और मोह कर्मबंध के साथ खतम हैं। इसलिए कर्मबंधसे जिन्हें बचना है, मुक्तिका मार्ग जिन्हें लेना है, वे यदि घरके चार-छह जीवोंसे ही राग करते हैं तो वे ठीक काम नहीं कर रहे हैं। जगतमें जैसे अनन्ते जीव हैं वैसे ही ये जीव हैं, और जीवों से इन जीवोंमें कोई खास विशेषता नहीं है। कितनी अज्ञानताकी बात है कि उन अनन्ते जीवोंमें से व्यर्थमें कुछ जीवोंको छांट लिया कि ये मेरे हैं। अब सारा परिश्रम उनके लिए ही हो रहा है। सो यदि विवेक नहीं किया जायगा, बरबाद कौन होगा ? मोहमें ही यदि मस्त रहे तो इसका परिणाम बहुत ही कठिन होगा। निम्न गति हो गई तो कल्याणका फिर अवसर कब मिलेगा ?

नरजन्मकी दुर्लभता:—भैया ! यह नरजन्म बहुत दुर्लभ है। कहाँ तो निगोदिया अवस्था जिसकी जड़ जैसी अवस्था मालूम होती है और कहाँ यह नरजीवन। निगोद भवमें एक शरीरके अनन्त निगोदिया जीव स्वामी है, जिनका एक सेकिण्डमें २३ बार जन्म मरण होता है। न कुछ जैसी दशा है, ऐसी निगोद अवस्थामें अनन्त काल बीते। किसी प्रकार सुयोगवश वहाँ से निकले स्थावरोंमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पतियाँ इनमें कितने कितने प्रकारके शरीर हैं, स्थितियाँ हैं, उनमें उत्पन्न हुए, वहाँसे निकले तो दो इन्द्रिय हुए, अब जीभ मिली अब पदार्थोंका स्वाद लेनेकी ताकत मिली, स्थावरमें तो रसका स्वाद लेने तकका भी साधन न था। फिर तीन इन्द्रिय हुए, चार इन्द्रिय हुए, असैनी पंचेन्द्रिय हुए। यहाँ तो उपाय ही क्या है। कुछ विवेक ही नहीं जग सकता है। मन भी प्राप्त नहीं है। कभी संज्ञी जीव हुए तो कुत्ता बिल्ली बन गये, गधा, सूकर हो गये तो वहाँ क्या दशा है, देखते ही हो। सूकरोंको बाँधकर भालोंसे छेद कर मार डालते हैं। यह बात और की क्या सोचें, खुद की भी ऐसी दशा हुई और अब भी नहीं चेते तो अब ऐसी दशायें होनेमें कोई बाधा नहीं आयगी।

नरजीवनमें कर्तव्य:—अनेक कुदशाओंमें भ्रमण करते-करते आज मनुष्य हुए हैं। पहिले भी कभी मनुष्य हुए थे तो वहाँ भोगोंमें रत होकर जीवन निष्फल बनाया था। तो आज भी विषय कषायोंको लेकर जीवन निष्फल बनाया जारहा है। इसमें बुद्धिमानी क्या है। अब चेतें और इस विभाव बुद्धिसे विरक्ति लें और ज्ञानरसका स्वाद लेकर अपने आपकी प्रभुतामें छकें

रहें। प्रभूके हम रोज दर्शन करने आते हैं और घरसे ममताका विष भरे हुए आते हैं, अपनी दयनीय दशापर रुदन नही होता है? प्रभूके आगे दर्शन करते हुए, शेख चिल्ली की जैसी धुनमे बाह्य पदार्थोमें ही उपयोग लेते हुए रटी रटाई विनती पढ़कर चले जाते है तो अपने प्रभूका दर्शन क्या किया।

निज प्रभुताके दर्शनमें प्रभुका दर्शन :—प्रभूके दर्शन मंदिरमें नही मिलते। मंदिर तो साधन है। घर तो है विषयोंका साधन तो वहाँ प्रभूके दर्शनका उपयोग बनाना कठिन है। सो घर छोड़कर एक साधनाकी स्थितिमें आते हैं, प्रभूके दर्शन मूर्तिमें नहीं मिलते, मूर्तिके दर्शनका साधन है। बच्चोंको, मित्रोंको, स्त्रीको, देखकर विषय कषायोंके परिणाम निकलते निकलते प्रकट हुए थे तो उन जीती जागती अशुभ मूर्तियोंका दर्शन छोड़ कर प्रभुकी स्थापित मूर्तिके आगे प्रभुका स्मरण करने, प्रभुके दर्शन करने मैं आता हूँ। इस प्रभुके दर्शन अपने आपमें मिलेंगे। कदाचित् समवसरणमें भी पहुच जायें और साक्षात् अरहंत देव विराजमान हों, उनके दर्शनके अवसरमें भी हमें प्रभुके दर्शन उनमें नहीं मिलेंगे। वहाँ भी जो कुछ देख पाया, समझ पाया उस अवसरमें भी प्रभुके दर्शन हमें अपने आपमें मिलेंगे। सो धैर्य करके, उद्दण्डता छोड़कर विश्राम लेकर अपने आपमें आना चाहिए, और अपने प्रभु स्वरूपके दर्शन करके संतुष्ट रहना चाहिए।

राग द्वेष मोहको विशिष्ट परिणाम कहते हैं और राग द्वेष मोह रहित होकर ज्ञाता दृष्टा मात्र रहनेको अविशिष्ट परिणाम कहते है। इसको कारणमें कार्यका उपचार करके कार्यरूपका निर्देशन करते हैं।

> **सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणिमगण्णेसु।**
> **परिणामोणण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ १८१ ॥**

शुभ परिणाम पुण्य है व अशुभ परिणाम पाप है, और अपने आपके अनन्य आत्मतत्त्वमें लगा हुआ परिणाम दुःखोंके क्षयका कारण है। ऐसा आगममें कहा गया है।

परिणामके दो भेद :—शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम किसी पर द्रव्यमें प्रवृत्त होनेपर ही हुआ करते है। इसलिए परिणामोंमें दो भेद करलें एक परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम और एक स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम। जैसे पहिले कभी कहा था कि जीव और अजीव, इस प्रकार के दो द्रव्य बतानेका प्रयोजन यह है कि हमें अजीवसे अलग होना है और जीवमें लगना है इसी प्रकार परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम इस

प्रकारके दो भेद करनेका प्रयोजन यह है कि परद्रव्यप्रवृत्त जितना भी परिणाम है वह विकार है। उसकी रुचिसे आत्माका कल्याण नहीं है। स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम ही मेरा रक्षक है, गुरु है, बंधु है, शरण है, देव है, प्रभु है। परद्रव्यप्रवृत्त परिणाममें प्रत्येक पदार्थोंसे उपरक्त करके परका विषय बनाकर अनुराग किया जाता है। इस परिणामको कहते हैं विशिष्ट परिणाम, किन्तु स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम कैसा है कि उसमें परकी उपरक्तता रंच भी नहीं है।

अतुल वैभव अपने आपमें :—इस जीवका सारा वैभव अपने आपके आत्मतत्त्वमें है। आनन्द कहीं बाहरसे नहीं लाना है। आनन्दमय तो यह स्वयं ही है। आनन्द स्वरूपको अलग कर दिया फिर इसमें रहा क्या ? ज्ञान और आनन्द भावका ही नाम आत्मतत्त्व है। यह आत्मा भावात्मक पदार्थ है। इन भावोंका आधार अवश्य है। वह आधार कुछ अन्य चीज नहीं है किन्तु ज्ञान और आनन्द जैसे अनन्त गुणोंका जो समूह है वह समूह ही आधारभूत है। कहीं आत्मतत्त्व पृथक चीज हो और उसमें ज्ञान और आनन्द फिर किसी प्रकार भरा जाता हो ऐसा नहीं है।

शुद्ध उपयोगकी साधना :—भैया ! यह शुद्ध तत्त्वका उपयोग बहुत बड़ी सुभवितव्यतासे प्राप्त होता है। इस प्रकारके निर्माणके लिए बाह्य साधन कितना पवित्र रहना चाहिए। एक पवित्र प्रभूकी सेवा कैसे पवित्र वातावरण में हो सकती है सो इसका अनुमान वही लगा सकता है जिसने इस शुद्ध उपयोगके दर्शनके लिए अपनी कमर कस ली है। अनेक घटनाएँ इसका बाधक कारण बन जाती हैं। अभी ही अभी देखो कि जिसकी चर्चा मात्रके प्रसंगमें इस तखतसे लगी हुई चौकीके निमित्तसे बाधा होगई। हमने देखी तो नहीं थी पर इसके संयोगका थोड़ा हलन भी बाधक निमित्त बन गया और बिना देखे ही बता दिया कि इस तखतसे कुछ लगा है क्या ? अभी घन्टोंका बजना और अटपट रूपमें लोगोंका आना जाना यह तो इस चर्चामें कितना अधिक मेरा बाधक बना होगा ? जो इस चर्चाको रुचि पूर्वक चाहता है, वह अनुमान कर सकता है। और अन्यत्र भी इस परम ऐश्वर्यशाली निज आत्मदेवकी उपासनाके लिए कितनी साधनाकी इसको आवश्यकता है ? उसका निर्णय करके उस प्रकारके यत्नमें लगा जाय तो इस दुर्लभ नर जीवनमें कुछ फल पाया समझो।

अनादि कालसे संस्कारवश जो किया उसके स्थान पर जो नहीं किया उसे करनेकी

प्रभुकी प्रेरणा :—विषय और कषायोंके परिणाम तो इन जीवोंने कुत्ता, सूकर गधा, घोड़ा बनकर भी बहुत-बहुत कर डाला है। यदि विषय कषाय ही इस जिन्दगीका प्रयोजन है तो कृपा करके अपने आपपर दया करके अपने अन्तरसे इसका निष्कर्ष तो निकालो कि इसने जी करके क्या लाभ उठाया ? इसकी योग्यता अभी उत्कृष्ट नहीं है। लेकिन उत्कृष्ट बननेका उपाय उत्कृष्ट चेतनके दर्शन करना होता है। हम अपने आपको ऐसा ही सोचते रहें कि यह कल्याणका काम तो प्रभुका था सो उन्होंने कर लिया या अमुक-अमुक परमेष्ठियोंका है सो वे करते है। हम तो गृहस्थ हैं, श्रावक हैं, हमारा काम तो यही है कि कमाना और जिनसे ममता है उनके लिए खर्च करना इतना ही हम लोगोका कर्तव्य है। यदि यहाँ तक ही सीमित रहे तो ऐसा उत्कृष्ट नरजीवन पाकर भी अपने प्रभुपर यह अन्याय किया समझिये। जो अवसर सदाके लिए दुःखोंसे छूटनेका उपाय करनेको मिला है वह अवसर यदि विषय कषाय जैसे मलिन परिणामोंके लिए ही लगा दिया तो अनादि अनन्त संसारमें इतने विस्तृत लोकक्षेत्रमें मेरा क्या हाल होगा। इसका विचार भी तो करना चाहिए।

अध्रुवकी प्रीतिका निषेध :—भैया ! अपनी इन्द्रियोंको संयत करके जरा मनको सब जगहसे हटाकर अपने आपके कल्याणकी भावनामें लगायें। बहुत समय तो होगया लोगोंको पूछताछ करते हुए वहुत-बहुत समय तो गुजर गया, जिनमें ममता है उनको प्रसन्न बनानेके लिए। हाथमें तो आज कुछ भी नही है। यह आत्मा तो ज्योंका त्यों उन सबसे अछूता, और जैसे कि पहिले व्याकुल थे उस ही प्रकारसे व्याकुल है। जब यह शरीर भी न रहेगा तो अन्य और जड़ वैभव की तो बात ही क्या ? इस भवके निकल जाने पर क्या किसीने देखा है कि कुछ विभूति साथ गई हो। प्राण निकल जानेके बाद यह शरीर भी पड़ोसियोंको सुहाता नही है। मरनेका जैसा ही नाम सुनते है, एकदम तुरंत ही जुड़ कर वे उस शरीरको ले जाकर फ़ुकनेकी धुनमें रहते हैं। चाहे अन्य कामोंमें देर हो जाय पर इस शरीरके फ़ुकनेमें देर नहीं की जाती है। मेरा इस जगतमें कहीं कुछ नहीं है, तब पर द्रव्योंमें लगा हुआ परिणाम क्या मेरे नाश करनेपर उतारू नहीं है।

विशिष्ट परिणामके भेद :—यहां परिणामोंके दो भेद किये गये है। एक परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम और एक स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम। परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम विकार है। किसी भी विकारसे आत्माका हित नहीं है। शुभ परि-

णाम तो एक अल्प दंड है और अशुभ परिणाम महादण्ड है। जैसे किसी पर एक लाख रुपयाका जुर्माना किया गया है तो वह कोशिश करके १ हजारका जुर्माना रखा लेता है और उस मुकाविलेकी दृष्टि होनेसे १ हजार रुपया अदा करनेमें वह प्रसन्न दिखता है। पर उसके अन्तरमें पड़ी हुयी गुप्त आवाजको देखो तो क्या वह एक हजार रुपया भी शुद्ध आशयसे देना चाहता है। एक लाख जुर्मानाके आगे एक हजार रुपयाका दंड अल्प है, सो उस अल्पमें कुछ सुखका अनुभव करता है। पर उस अल्प दंडको भी वह धनिक नहीं देना चाहता है।

मंद पीड़ाको भला कहनेमें व अन्तरमें उसे न चाहनेमें रोगीका दृष्टान्त :—और भी देखो, जैसे कोई रोगी बुखारसे पीड़ित है, अभी १०४ डिग्री बुखार था जिससे वह विह्वल था, परेशान था, वेहोश था। अब उसका बुखार उतर कर १०० डिग्री रह गया। मित्रजन आते हैं। पूछते हैं कि भाई अब कैसी तवियत है ? रोगी कहता है अब बहुत ठीक है, अभी २-३ डिग्री बुखार चढ़ा है लेकिन उत्तर यह निकलता है कि अब तवियत ठीक है। और, सुखपूर्वक भी वोलता है पर उससे कहा जाय कि भैया तवियत ठीक है ना, तो अब ऐसे ही बने रहो। तो वह वैसा बना रहना नहीं चाहता। और उत्तर देता है कि दो-तीन डिग्री बुखार अभी बाकी है उसको तो निकालना ही पड़ेगा।

मंद कषायकी वृत्तिमें प्रसन्नता व अरुचि :—इसी तरह परद्रव्यप्रवृत्त ज्ञानी पुरुष भी प्रयोजनवश जब पर द्रव्योंमें प्रवृत्त होता है, वह जब शुभ रागमें है, परमेष्ठिभक्तिमें है, अन्य-अन्य सब प्रसंगोमें है, उस समय उसकी वृत्तिको देखा जाय तो शुभ प्रसंगोंमें अपने भावोंसे लग रहा है, प्रसन्न भी है, खुश भी होता है, लेकिन देखो उस ज्ञानीके अन्तरकी आवाज, जिस ज्ञानीने शुद्ध ज्ञायक स्वभावके अनुभवका आनन्द रस पी लिया है उस ज्ञानीके इस प्रसंग में जो वृत्ति जग रही है वह इसमें प्रसन्न भी है, तो भी उसके अन्तर की आवाज यही निकलती है कि यह भी एक अल्प दंड है क्या तुम इसमें रहना चाहते हो ? नहीं, नहीं। इस घरको छोड़कर अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुभव गृहमें आनेको वह उत्सुक है। परद्रव्यप्रवृत्त परिणाममें ज्ञानीको रंच भी रुचि नहीं है। प्रभुका दर्शन करते हो, जो प्रभुका स्वयं शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप दीख रहा है और उस शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूपकी रुचिमें प्रसन्न हो रहा है वह उस शुद्ध प्रभुकी रुचिसे रुचि करेगा या निज ज्ञानमात्र स्वभावसे रुचि करेगा ?

परिणामोंके प्रकार :—परिणाम दो प्रकारके हैं, १—परद्रव्यप्रवृत्त परि-
णाम और २—स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम। परद्रव्यप्रवृत्त परिणामके फलमें यह
वंध है, यह संसार है, यह जगजाल है, और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम चूँकि
अविशिष्ट परिणाम है इसलिए इस परिणाममें विशिष्ट कार्य नहीं हो
सकता। विशिष्ट कार्य क्या है? संसार और अविशिष्ट कार्य है असंसार।

"मुक्ति" शब्द ध्येयभूत आनन्दरसका अव्यञ्जक :—मुक्ति शब्दमें यह अर्थ
ध्वनित नहीं होता। मुक्तिका परिणाम इन शब्दोंसे कहनेपर आनन्दरसका
आधार यह एक भाव है यह भाव व्यक्त नहीं हो पाता है। मेरी मुक्ति हो
अर्थात् मैं छूटूँ, यह व्यावहारिक अंश आता है। मैं छूटूं, किससे छूटूं? उस
छूटनेका यह आशय कुछ असरल आशय है, और यह असंसार परिणाम,
अविशिष्ट परिणाम यह सवसे सीधे सहज स्वरूपपर दृष्टि पहुँचाता है।
अविशिष्ट परिणाम तो परमें अनुपरक्ततामें और विशिष्ट परिणाम परमें
उपरक्ततामें होते हैं।

स्ववृत्तियोंके निर्णायक बननेकी प्रेरणा :—भैया! हम कितने परद्रव्यप्रवृत्त हो
रहे हैं इसपर निगाह देकर, अपनी त्रुटि सोचकर, उन त्रुटियोंसे वाहर
होकर अपने आपके कल्याणकी हमें शिक्षा लेना है। इस असार संसारमें,
इन झूठे व्यवहारोंमें, इन मायामय पर्यायोंके मध्यमें मुझे कोई लाभ नहीं
होगा। इसके द्वारा प्रवृत्त भावका कोई श्रेय मुझे न मिलेगा, ऐसा निर्णय
करके पर द्रव्योंसे कुछ चाहनेकी आशाको समूल नष्ट करना चाहिए। इस
वाह्य स्थितिमें पिटते हुए भी हमें अपने अन्दरका स्वरक्षादुर्ग दृढ़ वनाए
रहना चाहिए यदि अपना आधार अपनी शरण अपने एक मात्र प्रभुसे विमुख
होकर हम परद्रव्यप्रवृत्त वने रहे तो जिनमें विश्वास है, जिनमें हित माना
जा रहा है वे सव पदार्थ इसके यदि कुछ काममें निमित्त वन सकेंगे तो केवल
ढकेलनेमें ही निमित्त वन सकेंगे।

विशिष्ट परिणामोंका जाल :—परद्रव्यप्रवृत्त परिणाममें हम कितना विकट
विश्वास वनाए हुए हैं, विषयोंके उपयोगको रातदिन वसाये हुए हैं। कभी
भी ऐसा अनुभव नहीं करना चाहते कि मेरा न कहीं घर है, न कहीं परिवार
है, न कहीं वैभव है, मेरा तो मात्र यह मैं चेतनतत्त्व हूँ जव तक अपना शुद्ध
एकत्व अपनी दृष्टिमें न आ सके तव तक कल्याणकी आशा ही करना व्यर्थ
है। किसको सुखी करना चाहते हैं? कौन सुखी होना चाहता है? किसका
कल्याण करना है? ऐसे अपने आपकी ही जवतक पहिचान न होगी तव

तक अन्य प्रोग्राम वनेगा ही क्या। जव निजमूलमें ही सारी भूल पड़ी है तो चलनेकी दिशा कैसे मिल सकती है? कुछ धर्मका काम कर देनेकी वात तो दूर है,। यथार्थ व्यवहार भी नहीं वन पाता।

मोह निर्मोह भावकी व्यक्ति अव्यक्ति क्षेत्रजन्य नहीं :—गृहस्थ भी उतना ही निर्मोही हो सकता है जितना कि निर्मोही साधु परमेष्ठी होता है। निर्मोहता में अन्तर नहीं होता। अन्तर तो राग और द्वेषोंकी डिग्रियोंमें होता है। कल्याणशीलता तो यथार्थ ज्ञानके वलसे प्रकट होती है। उसके लिए तो यथार्थ ज्ञान चाहिए। यथार्थ ज्ञान उसही को कहते हैं कि जो कुछ वस्तुमें है, जैसा स्वरूपास्तित्व है, जैसी सत्ताका पदार्थ है उसही प्रकारका अछूता केवल दिख सके, ज्ञानमें आ सके तो उसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान। भगवान परिपूर्ण सम्यग्ज्ञानी है। वे पर पदार्थ जव जिस पर्यायसे परिणत होते है उन-उन पर्यायोंरूप परिणतिको जानते है और कैसा क्या है? किस कारण क्या होता है? यह सव निर्णय श्रुत ज्ञानका विकल्प है।

अविशिष्ट और विशिष्ट ज्ञानकी प्रवृत्ति व परिणाम :—केवलज्ञानमें कल्पना नहीं है। केवलज्ञान तो भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी यूनिटमें, एकत्वमें रहते हुए अशुद्ध हो तो, शुद्ध हो तो, ज्ञाता मात्र होता है। भाईने गाली दिया इसलिए वह दुःखी हो गया, ऐसा ज्ञान प्रभुके नहीं होता। वे तो उस प्रकार देखते हैं, जानते हैं जैसे कि हम आप निश्चय दृष्टिसे सव पदार्थों को जाना करते हैं। केवल पद्धतिकी वात कह रहे हैं। यह नहीं कह रहे कि हम उस भगवान की तरह जान चुके हैं मगर निश्चयदृष्टिकी पद्धतिकी तरह वे पदार्थोंमें पदार्थोंके पदार्थगत तत्त्वको, उस प्रकार स्थित पदार्थको जानते हैं। तो आप यह कह सकेंगे कि हम कई मामलोंमें सिद्ध भगवानसे भी वढ़े चढ़े ज्ञानी है। हम तो रात दिन खूव अच्छी तरहसे जान रहे हैं कि यह मेरा घर है, ये मेरे घरके लोग हैं, इतना मेरा वैभव है, इतना मेरा यश है, वह सिद्ध भगवान तो इतना नहीं जान पाता है। हम कई मामलोंमें तो प्रभुसे भी अधिक वढ़े चढ़े ज्ञानी हो गये हैं। भाई, प्रभुसे वढ़कर ज्ञानी नहीं हुए है किन्तु प्रभु सिर्फ ज्ञानी भर हैं, वे अज्ञानी नहीं है। तू अपने प्रभुसे वढ़कर यों है कि तू अज्ञानी वनरहा है जो वात प्रभुमें नहीं है उन वातोंसे तू अपनेको वढ़ा चढ़ा ज्ञानी समझरहा है। ये दो प्रकारके जो परिणाम कहे गये हैं १—परद्रव्य प्रवृत्त और २—स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम, उनमेंसे विशिष्ट परिणाम है परद्रव्य प्रवृत्त। उस विशिष्ट परिणामके दो भेद हैं। एक शुभ परिणाम और दूसरा

अशुभ परिणाम। ये शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम क्या चीज है? कैसे होते हैं? क्या ढंग है? इसका भी अब विचार कीजिये।

पुण्य व पाप स्वय क्या और क्यों ? :—विशिष्ट परिणामके दो भेद हैं। (१) शुभ परिणाम और (२) अशुभ परिणाम। शुभ परिणाम तो पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है। इस शुभ परिणामका नाम पुण्य क्यों रखा और अशुभ परिणामका नाम पाप क्यों रखा? इसका कारण बताया है कारण में कार्योंका उपचार करना। शुभ परिणाम पुण्यरूप पुद्गल बंधके कारण होते हैं इस कारण पुण्यरूप पुद्गलबंधके कारण होनेसे शुभ परिणामोंको भी पुण्य कहा गया है और पापरूप पुद्गलबंधके कारण होनेसे अशुभ परिणामको पाप कहा गया है। स्वयं ये सब क्या हैं? ये तो एक परिणाम हैं और हैं भी विशिष्ट परिणाम।

अविशिष्ट व विशिष्ट परिणमन :—आत्माके निरुपाधिक सहज स्वभावका जो परिणमन है वह तो हुआ अविशिष्ट परिणमन और उससे चिगकर जितने भी कुछ अन्य-अन्य ढंगके परिणाम है वे सब हैं विशिष्ट परिणमन। न आत्माके परिणामोंको आत्मीयताके नातेसे देखा गया तो इन परिणामों में इसी प्रकारका द्वैधीकरण हुआ कि ये सब विशिष्ट परिणाम हैं, और अविशिष्ट परिणाम वह है। आत्मीयताके नाते पुण्य और पाप ये भेद नहीं निकले कि यह परिणाम तो पुण्य है और यह परिणाम पाप है। यहाँ तो इतना ही ज्ञात हुआ कि यह तो है अविशिष्ट परिणाम, मेरी आत्माका स्वरसतः होने वाला परिणाम और ये हैं सब विशिष्ट परिणाम। अविशिष्ट परिणाम एक ही होता है और विशिष्ट परिणाम नाना प्रकारके होते हैं। जैसे किसी पूछे हुए प्रश्नका उत्तर जो सही है वह एक ही होता है और जो गलत हैं वे नाना प्रकारके होते है। इसी प्रकार आत्मामें स्वरसतः होने वाला परिणाम एक ही है। वह है ज्ञाता द्रष्टा मात्र।

अविशिष्ट व विशिष्टमें भेद :—केवल जाननरूप वर्तन हो, वह तो है अविशिष्ट परिणाम। और जितने नैमित्तिक औपाधिक परिणमन हैं वे विशिष्ट परिणमन हैं। अविशिष्ट परिणाम ही मेरे लिए शरणभूत है, क्यों कि यह आत्माका, यथार्थ स्वरूप है। और, विशिष्ट परिणाम मेरी भूलसे अनेक विडम्बनाएं बनानेके कारणभूत हो गये हैं। अब उन विशिष्ट परिणामोंके ये दो भेद करें कि यह पुण्यरूप परिणाम है और यह पापरूप परिणाम है। यह भेद कारणमें कार्यका उपचार करके निकला है। अर्थात्

शुभ परिणाम तो है पुण्यरूप पुद्गलबंधका कारण और अशुभ परिणाम है पापरूप पुद्गल वंधका कारण।

पुद्गलबंधमें असमानता :—ये पुद्गलवंध कोई पुण्यरूप कहलाते हैं और कोई पापरूप कहलाते है। ये विभाग कैसे हुए ? तो पुण्य रूप पुद्गल कर्मो के विपाकके निमित्तसे लौकिक जीवोंको सुहावनी बातें मिलती है उनको इन्द्रियज व मानसिक आनन्दके साधन प्राप्त होते हैं इसलिए सातावेदनीय आदिक कर्मोको पुण्य कर्म कहा है और पापरूप पुद्गलकर्मोके विपाकसे इन जीवोंको दुःखका बंधन मिलता है, इन्द्रिय और मनको असुहावना लगे, ऐसा वातावरण प्राप्त होता है इस कारण उस पुद्गल कर्मको पाप कहा है।

पुद्गलवंधमें असमानताकी मान्यता क्यों व किसकी ? :—पुण्य और पापका भेद लौकिक जनोंके सुहावने और असुहावने लगनेकी अपेक्षासे है। और, आत्माके गुणोंका घात करनेके कारणभूत होनेसे उन ज्ञानावरणादिक घातिया कर्मोको पापरूप कहा गया है। स्वकी ओरसे देखते है तो शुभ परिणाम स्वयं पुण्य कहलाता हो और अशुभ परिणाम स्वयं पाप कहलाता हो, यह बात इसके आत्मीयताके नातेसे घटित नहीं होती। ये जो जितने विशिष्ट परिणाम है वे सब निर्विकल्प समाधिसे च्युत करनेकी दशा वाले हैं। इस कारण वे सब अहितरूप है,किन्तु अविशिष्ट परिणाम हितरूप ही है।

कारणमें कार्यका उपचार :—पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओंमें कर्म नाम जो पड़ा है वह तो जीवविभावरूप कारणमें कार्यका उपचार करके पड़ा है। अर्थात् कर्म तो जीवका विभाव है, जीव जो करे सो कर्म याने जीवने भाव किया तो कर्म हुआ जीवका विभाव और उस कर्मका निमित्त पाकर जो पुद्गल वर्गणाओंमें अवस्था हुई उस अवस्थाका नाम फिर व्यपदिष्ट हुआ कर्म। तो वह तो आत्मविभावरूप कारणमें कार्यका उपचार करके कहा है और शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है ऐसा यह विभाग पुद्गल कर्मरूप कारणमें कार्यका उपचार करके कहा है। अर्थात् चूँकि शुभ परिणाम पुद्गल कर्मके बंधका कारण है इसलिए पुण्य है और अशुभ परिणाम पापरूप बंधका कारण है इसलिए अशुभ परिणाम पाप है।

शुद्ध अभेद :—अविशिष्ट परिणाम क्या है ? उसका भेद ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह शुद्ध है। अशुद्धका भेद होता है शुद्धका भेद नहीं हो सकता। यह कपड़ा कम गंदा है, यह ज्यादा गंदा है। कपड़ेमें गंदगीका भेद अशुद्धताके कारण ही है और जो शुद्ध हो वह एक ही स्वरूप है। उस में भेद

किस बात का है। अविशिष्ट परिणाम चूँकि शुद्ध है, एक स्वरूप है अतः उसमें विशेष नहीं होता। वह अविशिष्ट परिणाम तो स्वयं ही अपने समयमें संसार के दुःखोंका कारणभूत कर्म पुद्गलके क्षयका कारण होनेसे मोक्ष स्वरूप ही है। हम सब जीवोंका इष्ट है सुख व आनन्द। जितनी भी हम चेष्टाएँ करते हैं वे सब आनन्दके लिए करते हैं। उस आनन्दका उपाय क्या है?

निमित्त और उपादान दृष्टिसे वस्तुका अवलोकन :— निमित्तदृष्टिसे देखो तो उस आनन्दका वाधक निमित्त कारण कुछ अन्य ही हैं, जिन्हें कहते हैं कर्म। उन कर्मोंका क्षय हो तो आनन्द मिले। और उपादानपद्धतिसे देखो तो आत्माके आनन्दका बाधक है यह विकल्प। सो इन विकल्पोंका क्षय हो तो आनन्द मिले। इस दोनों ही बातोंका कारण क्या है? अविशिष्ट परिणाम।

वस्तुकी स्वतंत्रतामें चेष्टाएँ असफल :— वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जान लो, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र-स्वतंत्र है, अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्वमें हैं। किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थके साथ रंच भी सम्बंध नही है। न द्रव्य, न गुण, न पर्याय कुछ भी किसीका किसी अन्यमें पहुँचता नही है। जैसे कि गेंद खेलते हुएमें कोई गेंद लुढ़क कर दूर जाकर नालीमें गिरने को होती है तो बालक कुछ दूर तक तो गेंदके लिए दौड़ता है, जब उसके समीप नहीं पहुँच पाता तो नालीके सम्मुख जाते हुए गेंदके प्रति वह बालक ऐसी चेष्टा करता है जैसे कि कोई तांत्रिक लोग हाथकी चेष्टा करते हैं कि वह गेंद नालीमें गिरनेसे बच जाय। पर क्या इस उपयोगसे बालकके हाथ की चेष्टाके कारण वह गेंद नालीमें गिरने से बच जाय। पर क्या इस उपयोगसे बालकके हाथकी चेष्टाके कारण वह गेंद नालीमें गिरनेसे बच जाती है? नहीं! हम कितने ही परिणमनोंके प्रति अपना विकल्प बनाया करते हैं, क्या मेरे उन विकल्पोंसे पर द्रव्योंका कुछ परिणमन अनुकूल बन जाता है? परपदार्थ स्वतन्त्र हैं। कदाचित कुछ मेरे भावोंके अनुकूल परिणम भी जायें तो वह स्वयं ही मेल बैठ गया। अथवा उदयका निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर उसके विकल्पके कारण किसी पदार्थका कोई परिवर्तन होता हो, हो सकता हो ऐसा त्रिकाल भी सम्भव नहीं है। किन्तु, जैसे बच्चे लोग खेलते-खेलते मन बिगड़नेपर दोस्ती तुरन्त कट्ट देते हैं ऐसे ही सब वस्तुओंके बीच रहते हुए हम इन पदार्थोंसे मित्रता तुरन्त कट्ट दिया करें ऐसी कला जगी नहीं है। वस्तुस्वातन्त्र्यका स्पष्ट परिज्ञान जब तक नहीं होता तब तक ममतामें अन्तर नहीं आ पाता।

वस्तुस्वतन्त्रताके परिज्ञानसे रहित वैराग्य :— भले ही ऊपरी वैराग्यमें

अथवा आत्मज्ञानके अभावमें और संसारके जीवोंके दुःखोंको देखकर उठे हुए वैराग्यमें महान् व्रत भी मिल जाय, घर कुटुम्ब आदिका भी त्याग हो जाय, महाव्रतका भी ग्रहण कर लिया जाय तथापि किस रूपमें ममता भीतरमें जमी हुई है इसका पता वह खुद भी नहीं जान पाता है और न दर्शक लोग ही समझ पाते हैं। ज्ञानका मर्म यदि महान् है तो इस मोहका मर्म भी महान् है। व्रत, साधन, तप साधन करते हुए मोह किस प्रकार अग्निके कणकी तरह छिपा हुआ है इसका पता उस कल्याणार्थीको स्वयं नहीं हो पाता है और न दर्शकोंको हो पाता है वह भी विशिष्ट परिणाम है।

लोकोत्तर सम्पत्ति :—संसारके दुखोका क्षय होनेका कारण तो आत्मनुभव है किसी भी प्रकार तन, मन, धन, वचन न्यौछावर करके भी यदि आत्माके शुद्ध जाननमात्रकी स्थितिका अनुभव हो जाय तो समझिए कि अनुपम लोकोत्तर एकमात्र सम्पत्ति इसने प्राप्त करली। और यही पुद्गल कर्मो के क्षयका हेतुभूत बड़ा करण प्राप्त कर लिया। हमें दुःखोंसे छूटनेके लिए धर्म करना चाहिए।

चर्मचक्षुगत पदार्थोंमें धर्म नहीं—धर्म स्वयं सिद्ध भाव :—धर्म तो स्वयं सिद्ध भाव है, उसको तो जानते नहीं और चर्मचक्षुवोंसे दिखने वाली चीजोंमें धर्म की खोज करते तो इस पद्धतिसे धर्मका अंश भी नहीं प्रकट हो सकता है। धर्म तो वस्तुके स्वभावको कहते हैं।

पदार्थः आत्मनि यत् स्वरूपं धत्ते स धर्मः :—पदार्थ अपने आपमें जिस स्वभावको रखता है उसको धर्म कहते हैं। आत्मामें जो आत्माका स्वभाव हो वह आत्माका धर्म है। वह स्वभाव है चैतन्य। यह चैतन्यस्वभाव प्रतिसमय आत्मामें रहता है, इसलिए आत्माका धर्म सदा आत्माके साथ बना रहता है। उस धर्मको जब दृष्टिमें लाते हैं उस स्वभावका जब हम आश्रय करते हैं तो उसका नाम कहलाता है धर्मका पालन।

धर्मका पालन :—धर्मको करना नहीं है। धर्म तो स्वतः ही प्रत्येक जीवमें मौजूद है, और महाव्रती मुनिमें भी धर्म पूराका पूरा वैसा ही मौजूद है जैसा कि निगोदियाकी अवस्थामें रहने वाले जीवोंके है। धर्म किया नहीं जाता, किन्तु धर्मकी सिद्धि की जाती है। धर्म तो स्वतः सिद्ध परिणाम है। इस आत्मस्वभावरूप धर्मका आलम्बन हो, दर्शन हो, लक्ष्य हो, इसकी ओर झुकाव हो तो धर्मका पालन होता है। पूजनके समय, सामायिकके समय जितने क्षण आत्मधर्मका दर्शन है, लक्ष्य है, आलम्बन है, इसकी ओर

झुकाव है उतनी क्षण तो धर्मका पालन हो रहा है और जितनी क्षण इस आत्मधर्मकी दृष्टिसे अलग होकर किसी पर भावमें परपदार्थमें दृष्टि लगाते है, लक्ष्य करते हैं उतने क्षण हम धर्मके पालनसे रहित हैं।

धार्मिक वातावरण और धर्म :—धर्मपालनके परिणामके लायक हम जो वातावरण बनाये रहते है उस वातावरणको कहते हैं व्यवहारधर्म। पच परमेष्ठियोंके स्वरूपमें इतना अनुराग रहता है कि पवित्र स्वरूपका हम जब ध्यान रखते हैं तो ऐसी स्थिति हमें निश्चय धर्मके पालन करनेके लिए पात्रता बनाती है, किन्तु जब किसी विषयमें कषायमें उपयोग रहता है तो वह उपयोग हमें शुद्ध धर्मकी पात्रताके अयोग्य बनाए रहता है। सो व्यवहार धर्म चूंकि हमें धर्मपालन करनेके लायक एक अवसर देता है इस कारण धर्म है और यह विषय कषाय हमें धर्मके पालनके योग्य ही नहीं रहने देता। इस कारण ये सब अधर्म हैं। निश्चयसे धर्म तो यह अविशिष्ट परिणाम ही है और यह अविशिष्ट परिणाम मोक्षका मार्ग है और मोक्षरूप है, इसी प्रकार विशिष्ट परिणाम और अविशिष्ट परिणामोंका निर्देशन करके जिस प्रकार स्वद्रव्यमें प्रवृत्त हो जाय और परद्रव्यसे निवृत्त हो जाय उस भावसे स्व और परमें विभाग देखना है कि स्वमें क्या है और परमें क्या है ? इससे पहिले यह भी जान लें कि पूर्व गाथासे सम्बन्धित परद्रव्यप्रवृत्त परिणाममें जो शुभपना है, अशुभपना है यह किस जगह रहा करता है।

शुभ अशुभ परिणामोंकी भूमिकाओंका निर्देशन :—पहिलेके तीन गुणस्थानों में तो तारतम्य रूपसे अशुभ परिणाम रहता है। मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र, इन तीन गुण स्थानोंमें अशुभ परिणाम है। मिश्रमें जितना अशुभ है उससे अधिक सासादनमें अशुभ है। सासादनमें जितना अशुभ है उससे अधिक अशुभ मिथ्यातत्वमें है, और चौथे पांचवें और ६वें गुण स्थानोंमें तो तारतम्यरूपसे शुभ परिणाम कहा गया है और चौथेसे ५वें तक शुभ परिणाम कहा गया है। चोथेसे ५वें में शुभ परिणाम अधिक है, ५ वें से छटवें में शुभ परिणाम अधिक है और ७वें गुण स्थानसे लेकर १२वें गुण स्थान तक तारतम्यरूपसे शुद्धोपयोग कहा गया है। तो नयोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर १२वें गुणस्थान पर्यन्त जो यह वर्णन है यह सब निश्चयनयका रूप है।

शुद्ध निश्चयनयके प्राप्तिका मार्ग :—अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि शुद्ध निश्चयनय कैसे प्राप्त किया जा सकता है। भाई निश्चयनयका मतलब यह है कि पदार्थों के एकत्वकी दृष्टि करना एक नय है यह एकत्व शुद्ध

गाथा १८२, दिनाङ्क २-३-६३]

तत्त्व है शुद्ध आत्माका आलम्बन बन जानेसे शुद्धका ध्येय हो सकनेसे वह शुद्धोपयोग प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ यह समझना है कि रागादिक विकल्प उपाधिरहित पर्यायरूप जो शुद्ध उपयोग है वह तो मुक्तिका कारण है और शुद्ध आत्माके ध्येयसे जहाँ च्युत होते हैं वे सब परिणाम संसारके कारण हैं। यद्यपि ये चौथे पाँचवें छटवें गुणस्थानोंमें शुभोपयोग तारतम्य रूपसे कहा गया है फिर भी शुद्धोपयोग आंशिक रूपसे प्रकट अवश्य होता है अन्यथा स्वरूपाचरण चरित्र हो नहीं सकता। स्वरूपाचरण चरित्र चौथे गुणस्थानमें भी है और स्वरूपाचरण तो अरहंत और सिद्ध अवस्थामें भी बना रहता है। चरित्र तो स्वरूपाचरण चरित्र ही है। उसमें जो विकास चलता रहता है उन विकासोंका नाम है अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और यथाख्यात चरित्र। बीचमें जो परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम अर्थात् परद्रव्यमें लगाने वाला परिणाम होता है वह परिणाम न हो, तो हमारी रक्षा है। तो परद्रव्य कौन है? परभाव क्या है? यह जाननेपर हमें विशेष साहस मिलता है कि हम उस परद्रव्यसे अलग हो जायें, उस ही को इस गाथामें कह रहे हैं।

भणिया पुढविप्पमुहा जीवनिकायाथ थावरायतसा।
अण्णा ते जीवादो, जीवोवि य तेहिं दो अण्णो ॥१८२॥

जीव क्या? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस ये जितने जीव कहे गए हैं वे जीवसे अन्य हैं। और, यह जीव भी उन सब जीवनिकायोंसे अन्य है। यह शरीर भी त्रसकायमें शामिल है। ये त्रस और स्थावर भी जीवसे अन्य हैं। इस शरीरमें ठहरा हुआ कोई ऐसा अगृहीत पदार्थ जो ग्रहण में नहीं आता किन्तु जाननमें तो आ ही रहा है, जो सुखी दुःखी होनेका विकल्प मचा रहा है ऐसा मैं हूँ ना? वह मैं इस शरीरसे जुदा हूँ। और जो विकल्प मचा रहा ऐसा विशिष्ट परिणाम भी मैं नहीं हूँ किन्तु जो शुद्ध बुद्ध, ज्ञायकस्वरूप है, जाननकलामय है, ऐसा मैं अमूर्त आत्मतत्त्व हूँ। मैं छहों प्रकारके जीवनिकायोंसे पृथक् हूँ। ये छहों प्रकारके जीवनिकाय मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, परद्रव्य हैं।

विश्व जीवकायका प्रदर्शन :— जिन्दा जीवनिकाय और मुर्दाकाय बस यही तो सबको दीख रहा है। भींट है, सीमेन्ट है, चूना है, पत्थर है ये सब भी पृथ्वीकाय हैं, मुर्दाकाय है। और जो कुछ भी ये स्कंध आदि दीखरहे हैं सब जीवोंके द्वारा कायरूप बने हुए थे, अब ये अजीव हैं। ऐसे कोई दीखने वाले पदार्थ नहीं हैं जो जीवका शरीर न बना हो। कंकड़ देख लो, तिनका

देख लो, दरी देख लो, कागज देख लो, जो भी देख लो वही जीवका काय है, त्यक्त हो या युक्त हो। यह दरी वनस्पति वनी थी, कपास वनी। ये रंग कहांसे वने? यह पृथ्वीकाय थी। उसीसे ये रग वने। जो कुछ भी आंखोसे दीखता है वह सव जीवोंका काय है। यह जीव द्वारा अनधिष्ठित काय हो गया। और यह आपका शरीर आपकी आत्मा द्वारा अधिष्ठित है पर काय-काय एक है,जैसे यह मुर्दाकाय है वैसे यह जिन्दाकाय है। शरीरके समूहको देखो सब काय परद्रव्य है।

शरीर, देह और कायके पृथक् अर्थ :—शरीर और देह और काय ये तीन अलग-अलग अर्थ रखने वाले है। कायका तो अर्थ है जो वटोरा जाय सो काय है। देहका अर्थ है जो वढ़े सो देह है। और शरीरका अर्थ है जो क्षीण हो वह शरीर। इस व्याख्यामें वच्चोंका जो शरीर है, वह तो देह है, वढ़ने वाला है। और आधी अवस्थासे आगेका जो शरीर है वह शरीर है काय सब कहलाते है इसी कारण प्रायः शरीर और देह शव्दका वर्णन न करके आगममें इसका काय शव्दसे किया। ये सब काय परद्रव्य हैं।

विशिष्ट परिणामजनक प्रवृत्ति :—इन परद्रव्योंमें जो प्रवृत्ति होती है, जिन का लक्ष्य करके जो परिणाम वनता है वह विशिष्ट परिणाम है। समवशरणमें पहुँच कर गधकुटीके सिंहासनपर विराजमान सकल परमात्माको देखकर जो गद्गद परिणाम हो जाता है उस परिणामका कारण क्या है? वह परिणाम किस द्रव्यसे प्रवृत्त होकर हुआ है? यह परिणाम भी कायमें प्रवृत्त होकर हुआ है। भगवानका भी परमौदारिक शरीर है, पर है, वह काय है। और जिन्होंके सिद्धोंके स्वरूपोंकी दृष्टि हुई है, और यों नजर आता है जैसे कि यहाँ पुरुषोंकी आत्मा जिस सकलमे है शरीर रहित दृष्टिमें भी कितना लम्वा चोड़ा मूर्तिके ढगका निरखा जाता है। यों सिद्धोंका जो ध्यान होता है उस ध्यानके समयमें जो परिणाम वनता है वह परिणाम भी विशिष्ट परिणाम है। उस विशिष्ट परिणामका भी प्रयोग एक काय पर होता है। यद्यपि वे काय नहीं है पर कायके कारण होने वाले आकार पर दृष्टि देकर जो परिणाम होता है वह परिणाम भी विशिष्ट परिणाम है। परमात्माके इस प्रकारके ध्यान होने पर विशिष्ट परिणाम वनता है। निराकार, निर्विकल्प चिन्मात्र आत्मतत्त्वका ध्यान होने पर अविशिष्ट परिणाम वनता है, जहाँ पर परमात्माका विषय भी नहीं रह पाता है। एक शुद्ध जानन वृत्तिका अनुभव होता है। यह अविशिष्ट परिणाम हम आपके

कल्याणका कारण है।

जीवनिकायकी परद्रव्यता :—अब पुनः जीवनिकायकी परद्रव्यताका विचार कीजिये। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस काय, इस प्रकार ६ कायोंके रूपमें विभक्त यह जीव समूह त्रस और स्थावरके भेदसे माने गये हैं, वे सब अचेतन हैं। यहाँ प्रकरण चल रहा है कि स्वद्रव्यमें प्रवृत्त परिणाम अविशिष्ट परिणाम और परद्रव्यमें प्रवृत्त परिणाम विशिष्ट परिणाम होते हैं। जिन जिनका लक्ष्य होने पर परिणाम विशिष्ट हो वे सब पर द्रव्य हैं। प्रकरणकी पहिचान और उत्कृष्ट सहज स्वभावकी रुचिपूर्वक इस वर्णनको निरखिए। ये कुन्दकुन्दाचार्य भगवानके वचन हैं अमृतचंद सूरिने जिनकी व्याख्याकी है। उनके ही शब्दों में ये बातें कही जा रही हैं। ये सब जीव निकाय जीव समूह जो त्रस और स्थावरके भेदोंमें माने गये हैं वे सब अचेतन होनेके कारण जीवसे अन्य हैं और जीव भी चेतन होनेके कारण उन सब जीवनिकायोंसे भिन्न है।

परमार्थ जीवस्वरूप व व्यवहार जीवत्वका कारण :—यहाँ स्वतः सिद्ध अपने आप स्वरसत होने वाले भाव और स्वभावको जीव कहा है। टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञायक स्वभावरूप परमात्मतत्त्वकी भावनासे रहित होकर इन जीवोंके निमित्तसे त्रस स्थावर नामक अनेक प्रकारके कर्म उपार्जित होते हैं और उन त्रस स्थावर नामक कर्मों के उदयसे जो कुछ होता है वह जीव नहीं है। ऐसा समयसारमें जीवाजीवाधिकारके प्रकरणमें खूब कहा है। कर्मों के उदयसे होने वाले भाव और उसमें भी विशेष करके यह द्रव्य यह जीव नहीं है। जीव वह है जिसमें प्रवृत्त होने पर अविशिष्ट परिणाम बनता है। यह परम कल्याणके लिए पहुँचाया जाने वाला तत्त्व है। ये त्रस और स्थावर जीव समूह जीव नहीं, इन बातोंको समझानेका और कोई वचन नहीं था। अतः व्यवहार जीवको जीव कह कर जीवका निषेध किया जाता जैसे जो घीके भरे हुए घड़ेको घीका घड़ा मानते चले आये हैं ऐसे उपयोगोंको समझानेके लिए और कोई वचन नहीं मिलते, तब ऐसा ही कहना पड़ता है कि देखो भाई जो यह घीका घड़ा है ना, सो परमार्थसे घीका नहीं है, वह मिट्टीका है। इसी प्रकार केवल जीवनिकायोंमें इस जीवका बोध रखने वाले आत्मोंको समझानेके लिए इन शब्दोंमें कहा जा रहा है कि देखो, जो यह जीव समूह है ना, सो परमार्थसे जीव नहीं है।

अविशिष्ट परिणामका आश्रय ज्ञानस्वभाव :—भैया! परमार्थसे तो जीव

एक ज्ञानस्वभावमात्र चित्स्वरूप है। जिसके आश्रयसे अविशिष्ट परिणाम होते हैं। आप अपने कल्याण, सुख, आनन्द आदिका निर्णय तो स्वयं कर सकते है। जितने भी सुख दुःख क्लेश और आनन्द आदि होते हैं वे सब इस उपयोगकी कलापर निर्भर हैं। हम स्वतत्त्वमें उपयोग लगायें तो मुझमें क्या गुजरता है और कहाँ कैसा लक्ष्य बनाएँ तो क्या गुजरता है, यह आप देख ही रहे हैं।

स्वतत्त्वके आश्रयमें विवाद नहीं :—कभी हमारी आपकी, किन्हींकी आपसमें धर्म विषयको लेकर चर्चा हो रही हो और चाहे इन रागादिक भावों पर ही चर्चा हो, कोई कहता है कि ये रागादिक भाव जीवके नहीं है, कोई कहता है कि ये रागादिकभाव जीवके हैं, कोई भी ऐसी चर्चा हो, इस चर्चाके प्रसंगमें कभी बात बढ़ जाती है, विवाद हो जाता है तो अपनेसे अन्य बातोंको पकड़ा इसलिए विवाद हुआ। तो जिनका ग्रहण करनेसे विवाद हो जाता वे परद्रव्य हैं या स्वद्रव्य हैं? परद्रव्य हैं, परभाव हैं, परतत्त्व हैं। एकने अपना पक्ष ग्रहण किया; दूसरेने अपना पक्ष ग्रहण किया। यह धर्मकी चर्चा भी जब ऐसा रूप रख लेती है तो समझो कि जिसने विवाद किया सो उसने परतत्त्वको लक्ष्यमें लिया। स्वतत्त्वमें विवादका अवकाश ही नहीं है। अभी बड़ी शान्तिसे कहा जा रहा है, सुना जा रहा है, बीचमें कोई भाई कुछ बात अगर छेड़ दे और उस प्रसंगमें बोलने वाला या कोई सुनने वाला किसी क्षोभमें आता है तो यह निर्णय करना चाहिए कि क्षोभ करने वालेने परतत्त्वका आश्रय लिया। परके लक्ष्य बिना क्षोभ नहीं होता।

यहाँ स्वद्रव्यसे प्रवृत्त कराना अभीष्ट है और परद्रव्यसे निवृत्त कराना अभीष्ट है। तो यह बताना परमार्थसे आवश्यक हो गया है कि वह चीज क्या है जिससे हमें निवृत्ति होती है व जिसमें हमें प्रवृत्ति होती है। हम धर्मके लिए कितना श्रम कर रहे हैं। इतनी धार्मिकता कि धर्मकी बात पर हम आप हजारों रुपया भी खर्च कर सकते है, धर्मकी बात पर हम अपनी जान तक भी आपत्तिमें डाल सकते हैं। धर्मके प्रेमकी कमी तो इस कलिकालमें भी, ऐसे समयमें भी नहीं है। ऐसे समयमें भी धर्मके लिए अनुराग प्रवृत्ति है। यदि प्रेम न होता तो ऐसे मंदिर कैसे बना लेते। ऐसी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ कैसे करली जाती। फिर भी यदि स्वभावदृष्टि रूप धर्म नहीं है तो मुक्ति मार्ग नहीं मिला।

भावमें धर्म व प्रभु दर्शन :—और भी देखो भैया! धर्मका आन्तरिक

व्यवहाररूप बनानेके लिए हम पूजन भी करते हैं। अहो पूजा करते-करते भी पूजामें भगवानके उस ज्ञानस्वरूपकी भक्तिके कारण अन्य विकल्प छूट जाते हों और वह ज्ञानस्वरूप ही एक दृष्टिगत रह जाता हो, जिसकी दृष्टि होनेसे मैं जो कुल बोल रहा हूँ तंदुलका या पुष्पका छद वह भी गड़बड़ हो जाता या बोलना बन्द हो जाता, तो हे प्रभू वह आपकी पूजा बोलने चालने से बढ़कर हो जाती। भगवान भावोंमें भरा है उस भगवानके स्वरूपके अनुरागसे ये सब संकट टल जाते हैं। सकट क्या हैं? केवल संकल्प विकल्प ही संकट हैं और इनसे ही आकुलता है।

निराकुलता ही परम वैभव :—जिस उपायसे विकल्प मिटें वही उपाय शाश्वत वैभवके व ऐश्वर्यके लाभका है। लाखोंका धन आये और विकल्प न मिटें तो वह वैभव नहीं है। और चाहे हजारोंका टोटा पड़ जाय, कभी २०-५० हजारका धन कोई चोर चुरा ले जाय, कैसी भी स्थितियाँ हों किन्तु ज्ञानबल बराबर बना हुआ है तो उसके कारण विकल्प और क्षोभ नही उत्पन्न होता है, यह ही है उसका बड़प्पन। लोग बड़े क्यों बनना चाहते हैं? शान्ति प्राप्त करनेके लिए, आनन्द पानेके लिए। जो हजारों लाखों, करोड़ों का वैभव होकर भी और अधिक वैभव चाहते हैं तो क्यों चाहते है? आनन्द के लिए, शान्तिके लिए। आपका बड़प्पन किसमें रहा? उस आनन्दमें ही तो रहा। उस आनन्दका उपाय कोई कुछ समझता है, कोई कुछ समझता है, कुछ भी समझो, बड़प्पन तो आनन्दके अनुभवमें है ना, ऋषि संतोंने, जिनकी कि वाणी सुनकर उनके बड़प्पनका हम अनुमान करते हैं, उन ऋषि संतोंने कितना आनन्द पाया होगा। तो बड़े वे हैं। बड़ोंका बड़प्पन इसीमें है कि उदारता हो, धीरता हो, शान्ति हो, सबको क्षमा करनेका परिणाम हो। यह सब अपने आपमें स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति करानेकी पात्रता बनाना है।

परोपकारमें स्वोपकार :—परोपकार करो तो परके लिए न करो किन्तु विषय कषायोंसे बच जानेके कारण मैं स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिके योग्य बना रहूँ, इन भावोंसे परका उपकार करें। परका उपकार निम्न स्थितियोंमें होता है। जब तक ज्ञानवृत्तिरूप उत्कृष्ट स्थिति नहीं आती कि हम निज ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वमें प्रवृत्त हों तब तक उन शत्रुवोंसे बचनेके लिए जो कि अनादि अनन्त परम्परासे ऊपर लदे चले आ रहे हैं, हम शुभोपयोगके काम, धर्मके काम, परोपकारके काम करनेमें लगें।

जीवके पीछे लगे हुए चार शैतान :—कोई कोई कहते हैं कि इस इन्सानके

दोनों कंधोंपर दो शैतान बैठे हैं। वे दो शैतान कौन है जो इस इन्सानके कंधेपर बैठे हैं ? वे है राग और द्वेप। कोई कहता है कि दो शैतान और भी लगे हैं एक आगे और एक पीछे। वे दो शैतान हैं आशा और भय। आशा का शैतान आगे चल रहा है हम आगे जो चीजें देखते हैं उसका आश्रय करके आशा बढ़ाते हैं। और भयका शैतान पीठ पर लगा है तभी तो चोरी करके भगने वाले व्यक्तियोंको पीछेसे किसी पत्तेकी भी आहट सुननेमें आ जाये तो डर लगता है, यह भयका शैतान पीछे लगा है। ये चार शैतान मेरे जीवको जकड़े हुए हैं। आशा, भय, राग और द्वेप। इस लोकमें विरला ही प्राणी ऐसा हुआ करता है जो इन चार शैतानोंके चंगुलमें न फँसा हो। और ऐसे भी लोग होते हैं कि इन चारोंके बीचमें रहते हैं, फिर भी इन चारोंमें नहीं फंसते हैं।

परद्रव्यवृत्तिका निषेध :—भैया ! यह प्रकरण चलरहा है परम कल्याण के उपायका, विज्ञानका नहीं। वहुतसी बातें समझनेकी आवश्यकता नहीं है किन्तु सीधे चुपचाप यथार्थ मर्म जरूर जान लेना चाहिये। हम ज्यादा व्याकरण जानते नहीं, ज्योतिष तर्क जानते नहीं। हमें तो सीधी सादी भाषा में यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि हम अपने इस उपयोगको कहाँ पटक दे कि हमें विश्राम मिले। अब तक मैंने इस उपयोगको जहाँ जहाँ पटका, हमें धोखे ही मिलते रहे। स्त्री पुरुषोंको अपना माना तो इस अपनायतमें मुझे क्लेश ही मिलते रहे। धन्य है वह परिवार, जिस परिवारमें रह करके भी तुम्हारे हम नहीं, हमारे तुम नहीं, इस प्रकारकी प्रतीति रखते हुए सब साथ वसते हैं, वह परिवार धन्य है। यह देखिये जो कुछ भी नजर आ रहे हैं ये सब परद्रव्य हैं और यह जो मेरा शरीर नजर आरहा है वह भी परद्रव्य है। और वोलने चालने वाली, प्रवृत्ति करने वाली जो कुछ भी पर्याय ज्ञात हो रही है वह परद्रव्य है। परद्रव्यमें उपयोग प्रवृत्ति न करो यह भगवानका कल्याणमय उपदेश है।

अनुभूत तत्वकी स्मृतिकी अवधिके सम्बन्धमें एक दृष्टान्त :—भैया ! जैसे तिजोरीके बीच सन्दूक है, सन्दूकके अन्दर छोटी-छोटी सन्दूक हैं। उनमेंसे किसी सन्दूकमें छोटी-छोटी थैलियाँ हैं, उन थैलियोंमें छिपा हुआ हीरा कितने ही आवरणोंके मध्यमें पड़ा हुआ है। इतने आवरणोंके बीच पड़ा हुआ हीरा हमें कितनी देरमें ज्ञात हो सकता है ? एक सेकेन्डमें एक सेकेन्ड भी बहुत सा समय है। भीतरकी वृत्तिसे तुरंत जान लिया जाता है। घरमें

कितने भीतर वह हीरा रखा है पर उसे जाननेमें कितना समय लगता है। जाननेमें कुछ भी तो विलम्ब नहीं लगता। इतनी तहोंके बीच रत्न पड़ा है, तिजोरी है, उसमें छोटी पेटी है, उसके अन्दर गुदड़ियों की छोटी छोटी थैलियां हैं उनमेंसे किसी थैलीमें रत्न पड़ा हुआ है उसे जाननेमें कितनी देर लगती है? उसे तुरत जान जाते हैं कि यह हीरा वहाँ है।

इसी प्रकार यहाँ देखिए। यह शरीर, चमड़ा मांस, हड्डी, पीप, इस शरीर के भीतर विस्रसोपचित पुद्गल कर्म, और उनके भीतर यह जीव पर्याय, उसमें भी पड़ा हुआ यह क्रोधादिक पर्याय, उन पर्यायोंका भी स्रोत रूप वह शुद्ध ज्ञान स्वभाव निज परमात्मा कितने पर्दोंके भीतर पड़ा है। वह पर्दा भौतिक पर्दों की तरह नहीं है। एक क्षेत्रावगाहके पर्दों की तहमें शरीर व द्रव्य कर्म के बीच कितने भीतर पड़ा यह परमात्मतत्त्व है पर इसे जाननेके लिए जिन को खबर है, जिसने इस परम सुधारसका अनुभव किया है, उसे समझनेमें कितना समय लगता है? शीघ्र अनुभूत होता है, कोई परतत्त्व उसमें बाधक नहीं हो सकता।

यथार्थ जीवस्वरूपके निर्णयका बल :—परम कल्याण इसीमें है कि परद्रव्यों से तो निवृत्ति हो और स्व द्रव्यमें प्रवृत्ति हो। वह स्व द्रव्य क्या है जिसमें लगनेसे जिसकी प्रवृत्तिसे सारे संकट समाप्त हो जाते हैं? वह स्व द्रव्य है एक ज्ञानस्वभावमात्र आत्मतत्त्व। ये त्रस स्थावर, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदि जितने जीवनिकाय हैं ये सब जीवसे अन्य हैं। और यह जीव चूंकि चैतन्यमय है, चेतन है, चेतनस्वभावी है इसलिए वह इन सबसे भिन्न हैं, देखिए जैसे किसीके चंगुलमें फसा हुआ पुरुष अपने शरीरको सिकोड़ कर चंगुलमें से निकलना चाहता है, इसी तरह ज्ञानी अपने ही पर्यायके मध्यमें फसा हुआ उस चंगुलमें से निकलनेके लिए सिकुड़ करके चलरहा है। ये त्रस, स्थावर, मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च, देव ये कीड़े मकोड़े पेड़ वगैरह जीव नहीं हैं। यह किस प्रयोजनके लिए कहा जारहा है? निज जो ज्ञायक स्वभावमय परमात्मतत्त्व है उसमें लीन होनेके अर्थ जनसे कहा जारहा है। इस प्रयोजनका यदि ध्यान न रखें तो यह बात अटपट लगेगी।

परमार्थ और व्यवहार जीवके बतानेका प्रयोजन :—वाह, वाह! बालबोधमें लिखा है, खैर वह बच्चोंकी किताब है, मगर बड़े-बड़े ग्रंथोंमें लिखा है कि ये जीव दो तरहके है (१) त्रस और (२) स्थावर किन्तु यहाँ कहा जारहा है कि त्रस स्थावर अचेतन हैं। लिखा है, ठीक है, मगर त्रस और स्थावर

आदि जाननेका प्रयोजन क्या है और एक शुद्ध चैतन्यमात्र जीव है ऐसा
जाननेका प्रयोजन क्या है ? जबतक प्रयोजन निर्णीत नहीं तबतक इन दो
कथनोंमें विरोध नजर आता। यहाँ यह प्रयोजन कहा जारहा है कि स्व
द्रव्यमें प्रवृत्ति हो और पर द्रव्यसे निवृत्ति हो।

एक उपाय द्वारा सर्वसे निवृत्ति :—जरा बतलावो तो सही, कितनोंसे तुम्हें
निवृत्त होना है, तब तुम्हें मोक्षका मार्ग मिले। तुम तो १०-२० दूकानों और
कम्पनियोंके काममें पड़ गये, उनसे निवृत्त होना जरूरी है या नही मुक्तिके
लिए ? संसारके जन्म मरणके चक्रोंको समाप्त करनेके लिए, शुद्ध निज
आनन्द लेनेके लिए उन कम्पनियोंसे पृथक होना जरूरी है या नहीं। जिस
धन वैभवके पीछे लगे हो उससे निवृत्त होना जरूरी है कि नहीं ? मोक्षके लिए,
निज आनन्दके अनुभवके लिए उन पर द्रव्योंसे निवृत्त होना जरूरी है. और
जो ऐसी दृष्टि लगाये हुए हैं, ये मेरे चाचा हैं, ये मेरे पिता है, यह मेरी स्त्री
है, ये मेरे बंधु है, इनसे भी निवृत्त होनेकी आवश्यकता है कि नहीं है ?
अपने खुदके शरीर और जिन जिनमें तुम्हारा व्यवहार चलता है उन सबसे
निवृत्त होनेकी आवश्यकता है कि नही ? सबसे निवृत्त होना है, तब तुम्हे
क्या करना चाहिए। यह सब कुछ न करना चाहिए। शांतिके लिए करना
कुछ नहीं है किन्तु जो करते आये हैं उस करनेसे अलग होना है सबसे अलग
होनेका उपाय एक स्वभावका आश्रय है।

भैया ! अलग होना भी एक काम हो गया। याने कितनी विचित्र बात
है कि करना तो करना है पर अलग होना भी एक काम बन गया है। वह
कुछ काम तो नही है। न करो, ज्ञाता, द्रष्टा रह जावो, यह कोई काम है
क्या ? यह तो विश्राम है, आराम है स्वयंके स्वतः विकासकी बात है वस्तुगत
परिणमन है, मगर उसके लिए भी उद्यम करना आवश्यक हो गया है।
जितनी लम्बी भूलमें चले गये है। उतना तो वापिस लौटना आवश्यक ही
हो गया है।

व्यवहार धर्मके आश्रयका प्रयोजन :—ये सब जीवनिकाय निज परमात्म-
द्रव्य नही होते। उनमें प्रवृत्ति होना विशिष्ट परिणाम है। विशिष्ट परिणाम
से कर्मका बंधन है और एक शुद्ध ज्ञानमात्र सहज स्वभाव अपने आपमें कई
तहोंके बीचमें प्रकट विराजमान इस परमात्मतत्त्वमें यह मैं हूँ ऐसा आश्रय
करना है, दर्शन करना है। इस कामके करनेके लिए ही हम आप इस व्य-
वहार धर्मका आश्रय लेते है। मंदिर जाना, पूजा करना, गुरुवोंकी उपा-
सना करना, और-और ज्ञान करना यह इसने अपने आपमें बसे हुए पर-

मात्माके दर्शनका आनन्द पानेके लिए किया है। सो इन व्यावहारिक धर्मके काममें अपना लक्ष्य नहीं भूलना चाहिए। नहीं तो, लक्ष्य भूले, कि लो विचित्र शरीरमय विडम्बना तैयार ही है।

उद्देश्यके भूलमें विडम्बनाका एक लौकिक दृष्टान्त :—जैसे किसीके यहाँ विवाह शादी होरही थी तो एक बिल्ली बार-बार बीचमें से निकले। वह तो लोकदृष्टिमें असगुन है ना भैया, और विवाह सगुन है ना लोकव्यवहारमें, वस्तुतः तो जिन-जिन पद्धतियोंमें. उपायोंमें ज्ञानस्वभावमात्र परमात्मतत्त्वके दर्शन हो सकें वह तो है सगुन और जिन उपयोगोंमें रागद्वेषकी वृत्ति हो वह है असगुन, लेकिन लोकव्यवहारमें तो विवाह सगुन माना जाता है। तो बिल्ली असगुन न कर सके इसलिए एक पिटारेमें उसे ढक दिया उसे बच्चोंने देख लिया। तो अब बच्चोंने भी भावी अवसरमें शादीके मौकेमें कहा ठहरो, एक बिल्ली ढूंढ़कर ले आओ, उसे पिटारेमें ढक दो। वह बिल्ली पकड़ने और उसे पिटारेमें ढकने चला। लेकिन बिल्लीको पकड़ना आसान है क्या? बात क्या थी? इतनी चीज चित्तमें न उतरनेके कारण इतनी विडम्बनाकी बात उस अवसरमें हो गई।

प्रभुके दर्शनमें रुदन व आनन्दका मिश्रण :—प्रभुकी मूर्ति निरखकर गद्गद होकर रुदनसहित, आनन्दसहित जबतक प्रभुसे बात नहीं हो जाती है, जैसे हे प्रभो! हम और आपमें अन्तर क्या है? अन्तर क्या था? तुम एकदम भग गये हो, तुम सिद्धस्वरूपमें चले गये। हमारा तो यह शुद्ध स्वरूप हमसे दूरसा हो गया ना? तो छोड़कर दूरकी जगहमें जानेका नाम भगना है, प्रभो! तुम हमें छोड़कर चले गये। हे प्रभो! हम तुम यहीं तो थे। तुम तो शुद्ध स्वरूपमें चले गये, अच्छा, चले जावो। यह मैं भी आपके सदृश ही पदार्थ हूँ। अन्तर कुछ नहीं है, तो यह मैं भी आपके समीप आने वाला हूँ अब हमारी किन्हीं भी अशुद्ध चीजोंमें मलिन पर्यायोंमें त्रस स्थावर इन जीव निकायोंमें ममता नहीं रही। सब कुछ पहिचान लिया। मूलतत्त्व क्या है? परमार्थ क्या है? अपनी विपत्तियोंको देखकर भगवानके सामने रोना आ जाय और भगवान के स्वरूपको देखकर और उसके ही सदृश मैं हूँ और ऐसा मैं हो सकता हूँ, इस भावनाको जानकर आनन्द बरस जाय ऐसे रुदन और आनन्दका मिश्रण जब तक प्रभुके दर्शन करते हुए न हो सके तो वह प्रभुका दर्शन क्या है? हम पर द्रव्योंमें प्रवृत्त हैं इस कारण दुःखी हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम स्व द्रव्य में प्रवृत्त हों और पर द्रव्यसे निवृत्त हों।

स्वका आश्रय ही कल्याणका हेतु :—यह स्व है सबसे अछूता, सबसे निराला इस शरीरसे भी परे और इन रागद्वेष क्रोध मान, कषाय द्वेष आदि भावों से भी परे ये छुटपुट तर्क, कल्पनाएँ विचार इनसे भी परे, शुद्ध एक स्वरूप अपरिणामी पारिणामिक भाव हूँ। पारिणामिक भावका सेन्स है—जो खुद तो अपरिणामी है किन्तु निरन्तर परिणामका हेतु है। ऐसा यह मैं स्व तत्त्व हूँ, यह मैं स्व हूँ। इसमें ही लगूँ और परसे निवृत्त होऊँ। यों भेदविज्ञान होनेपर मोक्षको चाहने वाले जीव स्व द्रव्यमें प्रवृत्ति करते हैं और पर द्रव्य से निवृत्ति करते हैं इसी प्रकार इस गाथामें छह जीवनिकायोंको बताया। स्व द्रव्यको ही शुद्ध ज्ञायक स्वभावमय आत्मतत्त्व कहा, इसका ही आश्रय करनेसे अपना कल्याण है।

जितने भी ये सब जीवनिकाय हैं वे सब पर द्रव्य हैं और यह मैं टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावमात्र आत्मतत्त्वचित् स्वरूप हूँ। इस प्रकार स्व पर द्रव्यका वर्णन करके अब यह अवधारण करते हैं कि स्व द्रव्यमें प्रवृत्त होनेकी कारणता स्व और परके भेद विज्ञानमें है और पर द्रव्यमें प्रवृत्त होनेकी कारणता स्व परमें भेद विज्ञानके अभावमें है अर्थात् स्व और पर द्रव्यमें भेदविज्ञान हो गया तो स्व द्रव्यमें प्रवृत्ति होगी और यदि स्व द्रव्य और पर द्रव्यमें भेदविज्ञान न होगा तो पर द्रव्यमें प्रवृत्ति होगी। इस ही मर्मका अवधारण करते हैं :—

जो ण विजाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदंति मोहादो ॥ १८३ ॥

जो पुरुष उक्त प्रकारसे चेतन और अचेतनके भावोंका निश्चय करके अपने निर्दोष परमात्मद्रव्यके स्वभावको आत्मत्व रूपसे नहीं जानते और षट् जीवनिकायको पर द्रव्य नहीं जानते वे निरंतर अध्यवसान परिणमन करते रहते हैं। उस अध्यवसान परिणमनका रूपक क्या है। पर द्रव्यमें यह मैं हूँ और यह मेरा है इस प्रकारका मोहाधीन होकर जो विकल्पपना होता है वही अध्यवसानका रूपक है।

भेदविज्ञानके लिये स्वपरस्वभावके निर्णयकी आवश्यकता :—भैया! परको पर जाननेके लिए परके स्वभावको समझना आवश्यक है। और स्वको स्व जाननेके लिए स्वके स्वभावको समझना आवश्यक है। यों तो बच्चोंसे लेकर, बालकोंसे लेकर बड़े-बड़े पुरुष तक भी सभी यह कहते चले आरहे हैं कि ये घर परिवार सब पर चीज हैं न्यारी चीजें हैं, शरीर जुदा है, आत्मा जुदा

है। मृत्यु हो जाने पर तो इन चर्चाओं को बौछारें चारो ओरसे आती रहती है। मरघटमें देखो तो, कितना भेदकथन चलता है। घरमें समझाने आये तो, अरे सब जुदा है, कौन किसका है, शरीर भी तो अपना नहीं है, कह सब लेते हैं पर यथार्थ रीतिमें ये सब पर हैं और यह मैं आत्मा स्व हूँ यह जानन तब हो सकता है जब यह पता पड़ सके कि पर द्रव्य ये इतने इतने हुआ करते हैं और अपने २ स्वभावका आश्रय लिए हुए हैं। अपने अपने स्वरूपास्तित्वको कोई छोड़ नहीं सकता है! अपने अपने दृढ़ निज किलेमें रहने वाले सब पर द्रव्य हैं। अपना गुण, अपना परिणमन, अपना कुछ भी अपने से बाहर अन्यत्र कर नहीं सकते हैं। इस प्रकारके स्वरूपास्तित्वका बोध होने पर जो निज और परका विभाग उपयोगमें उत्पन्न होता है वह वास्तविक भेदविज्ञान है।

भेदविज्ञान श्रुतज्ञानकी कला :—भेद विज्ञान श्रुतज्ञानकी एक कला है। किसी भी पदार्थमें स्वयं भेद नहीं पड़ा है. किन्तु दो तत्त्वोंका मुकाबला करके उनके निज-निज स्वरूप को जानकर उनमें जो भेद समझा जाता है वह भेद-विज्ञान है और वह श्रुत ज्ञानका अंश है। ५ ज्ञानोंमें श्रुतज्ञान तो सविकल्प ज्ञान है और मति, अवधि, मनःपर्यय व केवल निर्विकल्प ज्ञान है, ज्ञानका जो अर्थ है, विकल्प अर्थ ग्रहण उस विकल्पकी बात यहाँ नहीं लेना है किन्तु उससे आगे जो विकल्प, पक्ष, विपक्ष, इष्ट, अनिष्ट, हित, अहित इन सबके विश्लेषणको गर्भमें रखता हुआ जो विकल्प है उस विकल्पका मतलब है श्रुत ज्ञान अर्थात् वह सविकल्प ज्ञान होता है।

मतिज्ञानकी निर्विकल्पकता :—मतिज्ञान निर्विकल्प है उदाहरणके लिए एक मोटी बात कह रहे है कि तुरंतका जाया हुआ बच्चा आँखें खोलकर देखता है तो दिखता तो सब है, मकान, भीट, रंग सब कुछ दीखता है किन्तु उसे विकल्प कुछ नहीं उत्पन्न हो पाता। है कि यह भीट है, यह हरा रंग है आदि। यह एक मोटी बात कह रहे है। कहीं वह बच्चा निर्विकल्प नहीं। यह लाल रंग है, यह नीला रंग है, यह अमुक ढंग है, ऐसा विकल्प बच्चेके नहीं होता। ऐसा ही हम सब पदार्थोंको जानकर जब तक उनके सम्बंधमें विकल्प नहीं करते है तब तक तो वह मतिज्ञान है और जिसने इतना भी समझा कि यह हरा रंग है सो हो गया श्रुत ज्ञान। यह मतिज्ञान तक ही रहता होता और उसके बाद श्रुत ज्ञान न लगा होता तो वह भी बड़ा अच्छा था। किन्तु ऐसा तो होता नहीं। भैया! किस अपेक्षासे यह कहा जा

रहा है, उस अपेक्षाकी दृष्टिका ढंग रखना चाहिए।

अवधिज्ञान की निर्विकल्पता :—अवधिज्ञानसे कोई साधु जान जाता है, कैसे जान जाता है जैसे कि मतिज्ञानसे जान लेना होता है। मतिज्ञानसे तो सम्मुख को जाना था, इन्द्रियोंके निमित्तसे जाना था किन्तु अब असन्मुख जाना, इन्द्रियोंके प्रयोगके विना जाना। दूरका जाना, वहुत पहिले या भविष्य कालका जाना। पर अवधि ज्ञानसे जो जाना, इतना जानना तो निर्विकल्प है पर जैसे ही इष्टताका परिणाम हुआ तैसे ही लोगोंको वताने लगे—तुम अमुक भवमें अमुक थे, तुम अमुक भवमें यह थे। यह सब वादमें श्रुतज्ञानसे वर्णित किया गया।

मनःपर्ययज्ञानकी निर्विकल्पकता :—ऐसी ही वात मनःपर्यय ज्ञानमें है। और, केवलज्ञानकी वात तो सवसे विलक्षण है। इस अवधिज्ञान, मतिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानने तो द्रव्यपर्यायको भी ग्रहण किया। यह चौकी है, यह भीट है, यह अमुक है, इसने इस वस्तुका चिन्तन किया, किन्तु केवल ज्ञान, पराधीन मायारूप द्रव्यपर्यायको भी ग्रहण नहीं कर सकता।

केवलज्ञानका विषय :—पर द्रव्य स्वतंत्र-स्वतंत्र अपने गुण पर्यायसहित केवलज्ञानमें ज्ञात होरहे हैं। उस केवलज्ञानसे यह नहीं ज्ञात हो पाता है कि यह शरीर अमुकचंदका है, और यह भी नहीं ज्ञात हो पाता कि यह शरीर एक चीज है किन्तु वहाँ तो प्रत्येक अणु स्वतंत्र-स्वतंत्र अपने आपमें परिणमते हुए ज्ञात होरहे हैं। यह नगर, यह भींट, यह मकान, यह स्कंध चूंकि स्वतः सत् नहीं है अतः ज्ञात नहीं होते हैं। केवलज्ञान सारे विश्वको जानता है इसका तात्पर्य यह है कि अनन्ते जीव, अनन्ते पुद्गल अणु, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और असंख्यात काल द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायमें रह रहे हैं और अपने-अपने एकाकी निज व्यञ्जनपर्यायमें रह रहे हैं, वह सब ज्ञात है। पर संयोगसे उत्पन्न हुई वात तो मिथ्या है, माया है। यदि वह ऐसा विकल्प कर सके कि देखो अमुक चीज और अमुक चीजका सम्वन्ध वन कर यह परिणमन वना है तो यह भी वह ज्ञात कर सकता होता। किन्तु, केवल ज्ञानमें तो अपने-अपने गुण और पर्यायमें तन्मय पदार्थ दिखा करते हैं।

परको पररूप जान लेनेका महत्त्व :—हम लोग श्रुत ज्ञानका आश्रय करके संयुक्त पदार्थोंको अपना रहे हैं और उन संयुक्त पदार्थों के अपनानेमें रोगी हो गये हैं तो संयुक्त पदार्थों में यथार्थ ज्ञान कराकर उस रोगसे हटकर शुद्ध स्वरूप की पहिचानका यत्न किया जाता है। पर पदार्थ किस स्वभावका आश्रय

करते हैं, जिसको यह ही पता नहीं है, ये पर पदार्थ भी परस्परमें एक-दूसरेसे पर हैं ऐसे इन पर पदार्थोंका भी जिसके निर्णय नहीं हो सकता है ऐसे ये परस्पर भी पर हैं. अणु-अणु भी पर हैं, तो मैं इनसे जुदा हूँ, इसका यथार्थ बोध कैसे किया सकता है ? पहिले परको यथार्थ रूपमें पर समझ लिया जाय। परको पर ही न जाना तो अपनेको परसे भिन्न कोई कैसे कह सकेगा ? हम पर स्कंधोंको परिपूर्ण एक-एक करके जानरहे हैं तो हम यथार्थमें परको नहीं जान सके। कोई भी वस्तु कितनी होती है इतना ध्यान आये बिना पहले मैं स्व हूँ और ये पर हैं, ये कैसे अवगम किया जा सकता है ? जिसको यथार्थ स्वरूपका ज्ञान है और भेदविज्ञान है वह यह अवश्य जानता है कि इस चौकीमें भी इस खूँटसे यह खूँट पर है। उसका यहाँ कुछ नहीं है। इसके एक अणुसे दूसरा अणु पर है। एक अणुका दूसरा अणु कुछ नहीं लगता है। ऐसे परके यथार्थज्ञानमें भी यह योग्यता आती है। आत्मामें भी यथार्थता लो, यहाँ ही ज्ञानकी एक शुद्धताका विकाश होने लगता है।

पर परोंमें परस्पर परताके ज्ञानका प्रभाव :—भैया ! अभी परसे हटकर स्वमें आनेकी बात नहीं कही जारही है किन्तु पर परोंमें ही एक-दूसरेसे भिन्न हैं, ऐसे एक परके स्वभावका उस परका आश्रय करके उन पर परोंका ही परस्परमें परताका विश्लेषण हो रहा है। इन परोंकी परताके विश्लेषणके उपयोगमें ही शुद्धिका विकाश जगने लगता है और फिर वह जब इन समस्त परोंसे अपने स्वकी भिन्नताको समझते हैं तब तो उसकी शुद्धताका कहना ही क्या है ! बहुत उत्कृष्ट शुद्धता हो सकती है।

व्यर्थका व्यामोह :—खेद की बात है कि यह जीव वस्तु तत्त्वको तो समझना ही नहीं चाहता। और इतना विकट मोहका भूत अपनेपर सवार किये हुए है कि पुत्र, मित्र, स्त्री, घर ये मेरे हैं, इनका सुधार करना, इनकी उन्नति करना है, बाकी जीव सब पर हैं, पड़ोसी मिटता है तो मिटने दो उनके मिटनेसे मेरा कुछ नुकसान नहीं होता। हाँ बच्चेका शिर भी दर्द करे तो यह बड़ा नुकशान है, ऐसी अनुदारताका आशय ऐसे मोहका अंधकार इस जीवके छाया रहता है जिससे कि विश्राम की बात तो दूर रहे, निरंतर आकुलताएँ ही बनी रहती हैं। इन जीवोंका एक भी अंश दूसरे जीवोंमें नहीं है। इन जीवोंका दूसरे जीवोंके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है। अपने कर्मोंके साथ तो निमित्त नैमित्तिक भाव हो सकते हैं पर जीवके साथ तो निमित्त नैमित्तिक भाव भी संभव नहीं है। अर्थात् जीव चेतन है, कर्म अचेतन है, इन दोनोंका

परस्परमें निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बंध हैं। जीव-जीवका तो परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं, व्यर्थ ही यह जीव परिवारका मोह करता है।

अनियमितोंका व्यामोह विकट अज्ञान :—भैया ! जीव का कर्मातिरिक्त स्कंधों के साथ भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंध नहीं है, मात्र वे आश्रयभूत हो सकते हैं अर्थात् इस जीवके साथ इन भोगसाधनोंका आश्रयभूतपना हो जाना नियमित नहीं है किन्तु यदि निमित्त नैमित्तिक भावकी पद्धतिमें आत्मामें निमित्त नैमित्तिक भाव होता है तो कदाचित् ये बाह्य पदार्थ आश्रयभूत हो सकते हैं। पर उसके इन स्कन्धोंके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। फिर इन और समस्त जीवोंके साथ उसका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। फिर इन सब जीवोंमें से यह मेरा है, यह पराया है, ऐसी छटनी करनेको कितना अज्ञान कहा जाय ? यों कहा जाय कि दुनियामें जितने भी अज्ञान कहलाते हैं, वेवकूफी कहलाती हैं, सब जुड़कर जितना अज्ञान हो सकता है उतना बड़ा अज्ञान है, इन सब अज्ञानोंका फल क्या है ? वेचैनी। करता तो है यह मोही, चैनके लिए यह सब अलाय बलाय, किन्तु फल निकलता है वेचैनीका। अपने-अपने जीवनकी घटनाओंसे इन बातोंका निर्णय कर सकते हैं कि अमुक बात की थी चैनके लिए मगर उस ही प्रवृत्तिका फल निकला वेचैनी। एक भी परद्रव्यविपयक कार्य ऐसा बतायें कि जो कार्य उनकी वेचैनीका कारण न बना हो ? एक भी नहीं बता सकते हैं। भैया, परद्रव्यकी प्रवृत्ति का फल ही यह निकलता है कि वेचैनी रहे।

प्रज्ञाका अप्रयोग :—भैया ! एक्सरा यंत्रकी तरह जो कि कपड़ेको, चमड़े को, मांसको, मज्जाको न स्पर्श करके केवल एक हड्डीका फोटो ले लेता है उस एक्सरेकी तरह इस प्रज्ञा यंत्रका प्रयोग नहीं किया गया कि यह सारा जड़ वैभव और कुटुम्ब, सारा समाज और कर्म, रागद्वेष, छुटपुट ज्ञान इन सबको न छूकर अन्तरमें अनादि अनन्त नित्य प्रकाशमान चिन्मात्र निज स्वभाव को छुआ गया हो। और भैया ! न छुवा सो न सही पर उल्टा माया मयी चीजोंमें, मिथ्या परिणामोंमें पड़कर परकी कर्तव्य बुद्धिमें आकर उल्टा गर्व करते है कि मैंने इतने मकान बनवाये, इतना धन कमाया, हमने परिवार को योग्य बनाया। सो गर्व किया जाता है।

व्यर्थका अभिमान :—जैसे कि कोई साँड़ गोवरके घूरेको सींगोंसे उलेभ- कर, पूँछको उठाकर, गर्दन को उठाकर, पीठको लम्बी करके अपना गौरव अनुभव करता है इसी प्रकार ये मोही पुरुप अपनेमें विराजमान शुद्ध ज्ञायक-

स्वरूप परमात्मतत्त्वको भूल कर अपने ऐश्वर्यको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें विकल्प करके अपना गौरव अनुभव करते है कि मैं इतने पोजीशन वाला पुरुष हूँ। कहाँ तो इसका कर्तव्य था कि सब ओरसे अपने उपयोगको हटाकर एक शुद्ध स्वभावमें ही उपयोगको लगाता और इसके एवजमें होता क्या? विशिष्ट परिणाम। उसमें भी इतनी आशक्ति कि जो किया जा रहा है उस पर इसे खेद नही होता।

चेतन अचेतनके अपरिचयीके भेद विज्ञानकी अपात्रता :—जो जीव चेतन और अचेतनके स्वभावसे अपरिचित है वह भेदविज्ञान करनेका पात्र कैसे हो सकता? अचेतनमें धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य इनका परिचय तो दुर्गम है, परिचय पुद्गलोंका हो रहा है सो इन पुद्गलोंमें एक-एक पुद्गल क्या होते हैं? कितने होते है? यह ज्ञात न हो सका, किसी भी प्रकार ज्ञात होता है वह ज्ञानके ही द्वारा ज्ञात होता है। तब इस अचेतन के स्वभावका निर्णय कैसे करें? अचेतनके स्वभावको जानकर और चेतनके स्वभावको जानकर जीव और पुद्गलमें स्व और परका विभाग किया जा सकता है। जो वस्तुके स्वरूपास्तित्वको ही नही जान सकता है वह पुरुष पर द्रव्यको इस प्रकार समझता है कि यह मैं हूँ और यह मेरा है इसी प्रकार उनपर द्रव्योंको मोहसे ही आत्मीयताके रूपमें निश्चित करता है और अन्य पुरुष अर्थात् ज्ञानी पुरुष नही कर सकता।

अज्ञानके कार्यमें ज्ञानका असामर्थ्य :—अज्ञानकी महिमाको ज्ञान नहीं पा सकता। अज्ञानीको कहा जाय कि एक क्षण भी जरा ज्ञान वृत्तिसे रहकर अपनी कलाका परिचय तो दो, तो अज्ञानमें सामर्थ्य नहीं है कि वह एक क्षण भी ज्ञानवृत्तिकी कलाका स्वाद ले सके। और यदि ज्ञानीसे ऐसा कहा जाय कि तुम एक आध मिनट परमें अहं की श्रद्धा करके, ममरूपकी श्रद्धा करके उन श्रद्धाओंकी बेचैनीका जो नाटक खेला जाता है जरा उस कलाका परिचय तो दो। तो ज्ञानीमें वह महिमा नहीं है कि वह एक आध मिनट अज्ञान वृत्तिका परिणमन करनेकी कलाको खेल सके। सिद्ध प्रभुमें तो यह महिमा है कि वह सारे विश्वका ज्ञान करता है, अपने निज रसमें लीन रहता है, यह सिद्ध प्रभु अनन्तशक्तिमान है। तो हे प्रभो एक दो मिनट को ही जरा निगोद या संसारी जीवोंका जैसा कुछ परिणमन करके अपनी कलाके अनन्त शक्तिपनेका जरा परिचय तो दो। तो क्या सिद्ध प्रभुमें यह महिमा है कि निगोदिया और संसारी जीवों जैसा रूपक बनाकर अपनी अनन्त शक्तिकी

महिमाको बता दे ? नहीं। सब जीव प्रभु हैं और यह प्राणी किस पदमें अपनी प्रभुताका कैसा उपयोग कररहा है ? यह सबकी अपनी-अपनी शक्तिकी असाधारण कला है।

पदार्थको ज्ञेयता व आकर्षण की प्रयोजनवशता :—पदार्थ हैं, परिणमते हैं। परमाणु हैं, ये भी पदार्थ हैं, जो सिद्ध हो गये वे भी पदार्थ हैं और जो संसारी है वे भी पदार्थ हैं। और सब पदार्थ अपनी-अपनी प्रभुतासे अपने अपने उपादानमें अपने अपने ढंगमें अपना अपना प्रदर्शन कररहे हैं। देखते जावो कि कैसी कहाँ क्या बात है लोग सिद्ध प्रभुकी ओर ध्यान करनेमें क्यों आकर्षित होते हैं ? जब सभी पदार्थ हैं और अपने-अपने काममें प्रभु हैं फिर सिद्ध प्रभुकी ओर इतना ध्यान क्यों आकर्षित होता है ? यों आकर्षित होता है कि इस उपासकको शुद्ध परिणति अभीष्ट है। जिन्हें शुद्धपरिणति अभीष्ट है वे शुद्ध परिणतिकी ओर आते हैं सो जिस भावोंका आश्रय करके सिद्ध बन जाते हैं उन भावोंकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। जिन्होंने स्व और परका भेदज्ञान नहीं किया वे शुद्ध परिणति की ओर शुद्ध स्वभावकी ओर कैसे आकृष्ट होंगे ? वे तो इन मलिन पर्यायोंमें मित्रजनोंमें कुटुम्ब जनोंमें आसक्त होते हैं।

परद्रव्यप्रवृत्तिका कारण स्वपरपरिच्छेदका अभाव :—इस प्रकार यहाँ भेद विज्ञानकी बातोंको दर्शाकर यह सिद्ध किया गया है कि जीव पर द्रव्योंमें प्रवृत्ति करते हैं तो उसका निमित्त स्व परके परिच्छेदका अभाव है। परिच्छेद का अर्थ होता है ज्ञान, और परिच्छेदका अर्थ होता है कि चारो ओर भली प्रकारसे छेद भेद कर देना। ज्ञान सही वह है जहाँ पदार्थसमूहमें भी अलग भिन्न-भिन्न स्व स्वरूपोंमें विदित होता यही अवगम और परिच्छेद कहलाता है। सो निज और परका परिच्छेद हो तो वह परिच्छेद पर द्रव्योंमें प्रवृत्तिका निमित्त न होकर स्व द्रव्यमें प्रवृत्ति करनेका निमित्त होगा। स्व पर परिच्छेद का अभाव हो तो यह द्रव्योंमें प्रवृत्तिका निमित्त होगा।

परोन्मुखतामें बेचैनी :—निष्कर्ष यह निकाल लें कि अपनी आत्मापर दया करके इस अपनेकी परख तो करलें कि हम पर द्रव्योंमें जो लगे रहते हैं और उसके फलका भोग किया करते हैं तो जिन क्षणोंमें इस ज्ञायक देवके उपयोग में स्त्रीदेव पुत्रदेव विराजमान रहता है उन क्षणोंमें क्या चैनका अनुभव करते हैं क्या शुद्ध आनन्दका लाभ लेते हैं ? नहीं ले पाते हैं। इस पर द्रव्यके उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है कि वह आकुलताएँ उत्पन्न करे। इसका कारण है कि

त्रे सव पर द्रव्य अध्रुव है। सो ये उपयोग उनको विषय करते हुए सदा नहीं रह सकते। दूसरी बात यह है कि उन पर द्रव्योंका परिणमन उनके ही आधीन है। सो इसके अन्तरङ्गमें चूँकि इच्छा रहा करती है कि अमुक चीज यों परिणम जाय, और परिणमती है नहीं सो एक बड़ा आघात पहुँचता है। इत्यादि अनेक बातें हैं जिनके कारण परद्रव्योंकी प्रवृत्तिमें आकुलताएँ रहती हैं। अतः परद्रव्यप्रवृत्ति अत्यन्त प्रतिषेध्य है।

स्वद्रव्यवृत्तिका निर्णय :—सो भैया ! एक निर्णय करके भगवानके दर्शन करो तो यह भिक्षा मागो, माँगना किससे है ? स्वयंसे कहता है कि हे प्रभो मेरी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति रहे और परद्रव्यसे प्रवृत्ति दूर हो। इतना ध्यान लगा कर उस प्रभुके दर्शन करो। जितने भी धार्मिक कार्य होते है उन सबमें यह ध्येय बने कि परद्रव्योंसे प्रवृत्ति दूर हो और स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति हो अर्थात् मैं अपनेमें उपयोगी बना रहूँ।

अब आत्माका काम क्या है इस बातका निरूपण करते हैं। निरूपण करनेका अर्थ यथार्थमें कहना नहीं है किन्तु देखना है। आत्माका काम क्या है अब इस बातको देख रहे हैं। जैसे कोई किसीके कामको प्रयोजन बस बड़ी उत्सुकतासे देखता है इसी तरह ये मोक्षार्थी पुरुष चूँकि अपनी ही तो बात है ना, इसलिए बड़ी उत्सुकतासे देख रहे हैं कि आत्माका क्या काम है।

कुव्वं सहावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ १८४ ॥

अपने भावोंको करता हुआ यह आत्मा अपने भावोंका कर्ता होता है, पर पुद्गलद्रव्यमय समस्त भावोंका कर्त्ता नहीं होता।

पदार्थके कर्तव्यका ज्ञान पदार्थके स्वरूपास्तित्वके ज्ञानपर निर्भर :—पदार्थ कितने हैं, उसका स्वरूपास्तित्व कितनेमें है, यह निर्णय जब हो जाता है तब ये पदार्थ क्या करते हैं ? यह समझमें आता है। यह मैं आत्मा जो अपने ही प्रदेशोंमें अवस्थित है, और प्रदेश भी क्या, जितना शक्तिपुंज है वही प्रदेश रूपसे व्यपदिष्ट है, सो उन गुणोंका जो कार्य है वह उन गुणोंमें ही परि समाप्त होता है। परिवर्तन अपने आधारमें होता है। अंगुलीका काम अंगुली को छोड़कर अन्यत्र कहाँ पहुंच सकता है ? अंगुलीको टेढ़ा किया जाय सीधा किया जाय, कुछ भी हालत हो जाय तो उसकी क्रिया उसमें मिलेगी, उससे बाहर उसकी क्रिया न हो सकेगी। और इन दो अंगुलियोंके बीचमें कोई चीज स्थित हो और ये दोनों अंगुलियाँ अपनेमें दो चार हाथ लम्बी क्रियाको कर

डालें तो उस समय यद्यपि चीज भी उसके साथ गयी है किन्तु अंगुलीने क्या किया ? इसको देखा जाय तो यही उत्तर आयगा कि अंगुलीने अंगुलीमें अपना कार्य किया। इन अंगुलियोंके संयोगमें स्थित पुस्तक क्रियाशील अंगुलियोंका निमित्त पाकर अपनी क्रियाको करेगी।

भावात्मक पदार्थका भावात्मक ही कार्य :—जगतमें सर्वत्र निमित्त नैमित्तिक भाव चल रहा है। इस ही निमित्त नैमित्तिक भावमें बढ़कर मोही जीवने परस्परमें कर्ता कर्म भावको मान लिया है। यह मैं आत्मा अमूर्त हूँ ज्ञान मात्र हूँ, भावात्मक पदार्थ हूँ। इसका कार्य क्या बन गया ? भावात्मक कार्य बन गया। यह अपने भावोंको ही करता रहता है जब यह आत्मा कर्ता अपने भावोंका ही हुआ तो भावरूप परिणमते हुएके अवसरमें कार्माण वर्गणाओंमें कर्मत्व आता है। आवे, फिर भी हम उसमें क्या करें ? उसमें हम कुछ नहीं कर सकते। वे निमित्त पाकर स्वयं आते हैं।

एक स्थूल दृष्टान्तपूर्वक परस्पर कर्तृकर्मभावका निषेध :—भैया ! गाली देकर पिटने वाला बच्चा पीटनेवालेमें कुछ नहीं करता वह तो गाली देकर परिसमाप्त होता है। अब ऐसे अवसरमें बलवान दूसरा बालक पिटाई करता है। तो इस पिटनेमें पिटने वालेका कोई काम नहीं उसने तो गाली देकर अपना काम पूरा किया इसके बाद जो होता है वह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से हो जाता है। पिटना उसे अभीष्ट नहीं है इसलिए वह पुनः गाली देता है और गाली देकर वह अपना काम पूर्ण कर लेता है। इसमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी बात, पिटने की बात फिर आने लगती है इसी प्रकार हम केवल अपना परिणाम करते हैं। अहो कैसा-कैसा परिणाम कर डालते हैं। अपने को यह विवेक भी नहीं रहता कि जो मैं यह कर रहा हूँ, यह विपरीत परिणाम कर रहा हूँ इसका फल जरूर मिलेगा और अभी भी मिल रहा है, इत्यादि कुछ विवेक नही हो पाता तथा अपने परिणामोंका काम करनेमें जरा भी अन्तर नहीं हो पाता निरंतर परिणाम किये जा रहे हैं।

निमित्त नैमित्तिकता प्राकृतिक :—यह आत्मा अपने भाव बनाता है। उस भाव बनाते हुएके अवसरमें कार्माण वर्गणायें स्वयं प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग रूपमें कर्मत्व रूप बंध करता है और फिर यह अवसर पाकर उदित होता है। ऐसे अवसरमें आत्मामें फिर विभाव होता है। पौद्गलिक कर्म तो प्रकृति प्रदेशादि रूप परिणाम करते और अपने उदयकालमें बिछुड़नेकी स्थिति बनाते, यों वे सब अपने काममें ही वे समाप्त होते हैं और यह जीव विभाव

परिणाम करके अपने कर्मको समाप्त कर लेता है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं है। अपने भावको करता है, इतना भी न कहिए किन्तु आत्मामें भाव होते हैं, यह वहाँ तथ्य है, चाहे वे निमित्त पाकर भी हों।

प्रत्येक एक एकमें सम्बन्ध क्या ? :— भैया ! एक पदार्थमें स्व स्वामी सम्बन्ध कैसा और भिन्न भिन्न पदार्थोंमें स्व स्वामी सम्बन्ध कैसा ? जुदे-जुदे दो पदार्थ हैं। उनमें यह कैसे कहा जायगा कि यह हमारा है। स्वरूपास्तित्वकी दृष्टि से सब पदार्थ अपने-अपने सर्वस्वके अधिपति हैं भिन्न पदार्थों में स्वस्वामी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। यदि,हो जाय तो वे स्वतंत्र सत् नही कहला येंगे, उनका अभाव हो जायगा। इसी प्रकार एक पदार्थमें स्व स्वामी सम्बध कैसे ? यह कंकड़ किसका ? सच तो बताओ। जैसे कक्षामें बैठे हुए विद्यार्थियोंमेंसे किसी की पुस्तक गुम जाय और किसी दूसरेको मिल जाय तो वह पूछता है कि यह पुस्तक किसकी है ? जिस अधिकारीकी पुस्तक है वह पूरा बोल नहीं पाता। दूसरे लड़के वोलने लगते है कि यह पुस्तक, पुस्तककी है। यह कंकड़ किसका है ? यह कंकड़ कंकड़का है। इस बातको जरा दूकान पर या सड़क पर चल कर बोलो तो सुनने वाले लोग कहेंगे कि यह पागल हो गया। यह दुकान, दुकानकी है, यह कुर्सी, कुर्सीकी है, लोग क्या समझेंगे ? एक पदार्थसे सम्बंध कैसा ? वह तो वही एक है।

एकमें भेदव्यवहारके अर्थ :— मेरा भाव कैसा ? मैं हूँ और ऐसा हूँ। इतनी ही तो वात है। तो यह आत्मा स्वभावको करता है, वही उसका धर्म है, यों धर्म और धर्मी यह केवल समझानेके लिए भेदीकरण है। और,विवक्षासे धर्म धर्मीकी संज्ञा होती है। एक धर्ममें धर्मीकी वाच्यता मानकर धर्मी वना लिया है तो विवक्षित उस एकके अतिरिक्त जो शेष धर्म हैं उनमें धर्मकी वाच्यता बनाकर उन्हें धर्म मान लिया है। जैसे कहा जाय आत्माका आनन्द। आत्मा कहा किसे है ? सततं अतति गच्छति इति आत्मा, जानाति इत्यर्थः जो निरंतर जानता रहे उसे आत्मा कहते है। तो यहाँ ज्ञान धर्मकी मुख्यता देकर ज्ञानी को धर्मी वनाया तो आनन्दशक्तिको धर्म वनाया। और कह दिया जाय कि इस आनन्दमयका ज्ञान, तो आनन्दकी प्रधानता देकर आनन्दीको तो धर्मी बनाया और ज्ञानको धर्म वनाया। क्या है ? कैसा है ? ये सब प्रश्न व्यवहार मार्गमें चलनेवालेके है। जाननेमें तो इतना ही आता है, यह यों है। यह है, यह है जानते हुएमें यह शब्द भी नहीं रहता। जो जिस प्रकार परिणत है,अवस्थित है उसको उस प्रकार लक्ष्यमें लेकर कहा जाता है कि यह

है। इसमें परके साथ स्वस्वामी सम्बन्ध नहीं है।

परमें कर्तृकर्मत्व नहीं, एकमें कर्तृकर्मत्व क्या :—इस प्रकार परके साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध भी नहीं है। पदार्थ है और परिणमता रहता है। इसी पद्धतिमें यह आत्मा अपने भावोंको करता है, क्योंकि वह भाव इस आत्माका धर्म है और उस प्रकारके होनेकी शक्तिका सद्भाव इस आत्मामें है। अतः आत्मा में वह भाव, कर्म है, वस्तुतः परमें कर्तृकर्मत्व नहीं, एकमें कर्तृकर्मत्व ही क्या कहा जाय। अतः कर्ताकर्मका नाम ही न लो तुम तो परिणमना देखो।

कर्तृकर्मत्वके निषेधमें एक देहाती दृष्टान्त :—भैया! जब कभी देहातोंमें या शहरोंमें ही देहात जैसी बस्तीमें पड़ोसकी दो स्त्रियाँ लड़ती हैं वे अपने दरवाजेपर खड़ी हुई एक दूसरेको हाथ पसार-पसार कर पचासों गालियां देती हैं। देखनेवाले लोग सन्देहमें आ जाते हैं कि ये दोनों अभी भिड़कर एक दूसरेको चबा डालेंगी। पर वहाँ दिखता है कि दरवाजेसे एक कदम भी पैर आगेको नहीं बढ़ाया जारहा है ऐसे मौके कई बार देखनेमें आये। कोई स्त्री किसी दूसरी स्त्रीका कुछ नहीं कररही है वे दोनों ही अपने-अपने दरवाजे पर खड़ी हुई अपनी-अपनी चेष्टाएँ कररही हैं। एक वस्तु जितनी है उतनेमें ही उसको निरखो। दोनोंमें ही अपने आपमें अपना ही क्रोध परिणमन और उसका निमित्त पाकर शरीर और वचनका चलन परिणमन होरहा है। कदाचित् वे पहलवानोंकी तरह भिड़ भी जायें तो कोई दूसरी स्त्रीका कुछ नहीं कररही है। वहाँ पर भी अपने-अपने मुँह तथा हाथ पैरोंसे अपने आपमें कसरत की जारही है। कितना ही कोई पदार्थ गुम्फित हो, संमिश्रित हो, संयुक्त हो उस स्थितिमें भी पदार्थोंके स्वरूपास्तित्वपर दृष्टि दें तो यही दिखेगा कि इन पदार्थोंने केवल अपने ही गुणोंका कार्य किया है इस प्रकार यह आत्मा अपने भावोंको करता है और उन भावोंको स्वतन्त्र होकर करता हुआ यह जीव स्वभावका कर्ता अवश्य होता है।

कर्तृकर्मत्वके निषेधमें छायाका दृष्टान्त :—धूपके समय आंगनमें खड़े हो जायें तो आँगनमें कुछ पृथ्वीका हिस्सा छायारूप परिणम जाता है। यह बताओ कि वह भू-भाग स्वयं स्वतंत्र होकर छायारूप परिणमा या परतंत्र होकर? यद्यपि उस छायारूप परिणमनमें हमारा उपस्थित होना निमित्त है, क्योंकि हम या अन्य कुछ भी पदार्थ उपस्थित न हों तो वहाँ छायारूप परिणति भी नहीं हुआ करती है। इतनेपर भी हमारा काम तो इतना हुआ कि हम वहाँ खड़े हो गये, इतनेमें ही हमारा काम समाप्त हो गया. इससे आगे

हम पृथ्वीमें कुछ भी नहीं कर रहे हैं। इस मेरी उपस्थितिको निमित्त मात्र पाकर वह भू-भाग स्वयं छायारूप परिणम रहा है। वह क्या मेरी परिणतिका आश्रय लेकर मेरी परिणतिको कुछ-कुछ खींचकर छायारूप परिणम रहा है या वह स्वयं अपनी ही परिणतिसे छायारूप परिणम रहा है?

परका परमें सम्बन्धका निषेध करनेके लिये एकका एक ही में सम्बन्धका निरूपण :—निमित्तकी उपस्थिति बिना विभावकर्म नहीं होता फिर भी निमित्तकी उपस्थिति होनेपर भी पदार्थ विभावरूप परिणमता है। किसी परकी परिणतिको लेकर विभावरूप नहीं परिणमता। यह आत्मा स्वतन्त्र है कर उन विभावोंको करते हुए उन विभावोंका कर्ता अवश्य होता है। कर्ता कर्म परमें नहीं होता, इस बातको सिद्ध करनेके लिए केवल एक द्रव्यमें कर्तापनकी बात कही जारही है। नहीं तो भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें कर्ताकर्मपना कैसे? और एक पदार्थ अपने आपका कर्ता कैसे? जैसे स्वस्वामित्व सम्बन्ध भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें घटित नहीं होता और एक पदार्थमें घटित नहीं होता किन्तु भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें स्वामित्वकी कल्पनाका खण्डन करनेके लिए एक पदार्थमें स्वामित्वकी बात कही जाती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें कर्तापनकी बुद्धिका खण्डन करनेके लिए एक पदार्थमें कर्तापनकी बात लादी जाती है। एक एकमें कर्ता क्या, भिन्न-भिन्नमें कर्ता क्या? कर्तृत्व कहीं भी कर्तृत्व नहीं है। एक-एक पदार्थका अपने आपमें न स्वयं कर्तृत्व है और न एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थमें कर्तृत्व है।

निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी परतन्त्रताका अभाव :—पदार्थ हैं और परिणम रहे हैं, कुछ पदार्थ किसी रूप परिणम रहे हैं, कुछ पदार्थ किसी परिणम रहे हैं, कुछ पदार्थ विभावरूप परिणम रहे हैं, कुछ पदार्थ स्वभावरूप परिणम रहे हैं। विभावरूप परिणमन तो पर उपाधिका निमित्त पाकर होता है। होने दो, होता है तिस पर भी पर उपाधिकी परिणति लेकर परतंत्र होकर यह आत्मा विभावोंका कर्ता नहीं है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका होना और कर्तृकर्मभावका न होना इन दोनोंका समिश्रणविधिवत् जिस ज्ञानमें समाया है वह ज्ञान प्रमाणभूत है।

स्वयंमें ही कर्तृकर्मत्व :—यह आत्मा अपने भावोंको अपने भावस्वभावमे स्वतंत्र होकर करता हुआ अपने भावोंका कर्ता होता है। और किया गया यह भाव इस चिर सत् आत्माके द्वारा प्राप्य है, अतः वह कर्म अवश्य होता है। इस प्रकार आत्माका स्वपरिणामकर्म हुआ और आत्मा इन स्वपरिणामोंका ही कर्ता हुआ, पर पुद्गलके भावको नहीं करता। पुद्गलकी परि-

स्थिति पुद्गलका धर्म है। पुद्गलके पर्यायरूप होनेकी शक्ति आत्मामें नहीं है, इसलिए आत्मा पुद्गलके धर्मका कर्ता नहीं है। एक मोटी बात कह रहे हैं काम कराने वाला वह मनुष्य प्रवीण होता है जो उस कामको स्वयं भी अच्छी तरह कर पाता है। एक बहुत मोटी सी बात इस प्रकरणमें कही जा रही है। तो यह परभावोंका कर्तापन मुझमें कब हो? जब कभी-कभी उन पर पदार्थोंके परिणमन रूप होनेकी कला भी खेल ली जावे, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। मैं किसी भी परद्रव्यका कर्ता नहीं होता। और यह आत्मा जब परके भावोंको नहीं करता तो वह कर्ता नहीं है और न किया जाने वाला वह पुद्गलका धर्म इस आत्माका कर्म होता है।

पुद्गल कर्मोंका कर्म नाम उपचरित:—ये ज्ञानावरणादिक ८ कर्म, १४८ प्रकृतियोंमें विभक्त सारे कर्म आत्माके कर्म नहीं है। आत्माका कर्म आत्मा का भाव है। कर्म परमार्थसे आत्माके विभावोंका नाम है, इन कर्मोंका निमित्त पाकर विशिष्ट जातिकी वर्गणाओंमें जो इस प्रकारका परिणमन होता है कि कभी आत्माके इन कर्मोंका निमित्त भी हो सकेगा, उनका कर्म उपचारसे नाम दिया है। पर, परिणामोंका पुण्य और पाप ये नाम पुण्य पाप रूप कर्मोंके बंधके कारणताके कारण दिये गये हैं। कार्माणवर्गणाओंमें कर्मोंका नाम स्वयं नहीं है, वे लिए गये हैं। इसी तरह आत्मपरिणामोंमें पुण्य और पापका नाम स्वयं नहीं है, वे लिए गये हैं। कार्माण वर्गणाओंमे कर्मोंका निमित्त ऐसा पड़ा है कि आत्माके कर्मोंका निमित्त पाकर उनकी यह स्थिति होती है और परिणामोंका नाम पुण्य और पाप इसलिए पड़ा है कि इन परिणामोंमें से कोई परिणाम तो पुण्य पुद्गल कर्मोंका बंध करनेमें निमित्त होता है और कोई परिणाम पापरूप पुद्गल कर्मोंके बंधका निमित्त होता है।

परिणामके प्रायोजनिक भेद:—मूलसे परिणाम तो दो ही प्रकारके है, एक विशिष्ट परिणाम और एक अविशिष्ट परिणाम। जैसे चाँवल शोधने वाले पुरुष चावलको जानते हैं और चावलके अलावा वे अन्य चीजोंको नहीं जानते हैं। चावलके अतिरिक्त जो अन्य चीजें हैं वे क्या-क्या होती है? कंकड़ हुआ, कोई जीव हुआ, छिलका हुआ और भी ऐसी-ऐसी चीजें है जिनका नाम भी न मालूम हो, जिनका नाम जानते भी न हों, उनसे क्या प्रयोजन। समझ तो इतनी चाहिये कि वे चाँवल नहीं है। इन सब चीजोंको अलग करदें, जो भी कूड़ा करकट है। उन्हें अलग कर देनेसे उन सबका ज्ञान होना चाहिए तभी तो चाँवल शोध सकेंगे ऐसी बात तो नहीं है। हाँ, यह

ज्ञान हमें पूर्ण होना चाहिए कि ये चावल नहीं है। चावल सोधते समय केवल यह परिणाम रहता है कि ये चावल हैं, ये नहीं है। जो चाँवल नही वे क्या-क्या हैं ? इसका साधारण परिज्ञान तो होता ही है। हमारा प्रयोजन है अविशिष्ट परिणाम अर्थात् किसी परका सम्बन्ध न लगाकर आश्रय आधीनता न लेकर अपने आप अपनेमें सहज अपने ही सत्त्वके कारण जो परिणाम वनते है वे अविशिष्ट परिणाम है। अविशिष्ट परिणामका हमें प्रयोजन है। जो मोक्षस्वरूप है। उस मोक्ष परिणामके अलावा जितना जो कुछ परिणाम है वह विशिष्ट परिणाम है। यों परिणामोंके दो भेद है, अविशिष्ट परिणाम और विशिष्ट परिणाम।

ज्ञानानुभव व निर्भयता :– विशेपमें होता क्या है ? यह वताना एक समस्या न्यारी है। होता है होने दो, किन्तु उन सब स्थितियोंमें भी ज्ञान सही कार्य करता है, हम अपने आपके यथार्थ ज्ञानमात्र परिचयमें लगे रहते है तो कुछ भी भयकी वात नहीं है। निर्भयताका कारण तो एक अविशिष्ट परिणाम अर्थात् ज्ञाता दृष्टामात्र रहनेका है। जानन हो गया इतनी ही तो है उसकी करतूत है। इतना विवेक यदि रहता है तो उस स्थितिमें भी कोई भयकी वात नही है। वह तो स्थिति है उसे कहाँ हटा दें और हटाएँ क्या, वह तो स्वयं हटेगी। पर अपना काम तो सर्वत्र ज्ञानप्रकाशका हो तो वह अविशिष्ट परिणाम मोक्षका मार्ग है। और यही करने योग्य काम है।

वाह्यकी उन्मुखतामें संकट :—आँखोंको खोलकर इन्द्रियोंसे वाह्यमे कुछ ज्ञात कर लिया, लोगोंको देख लिया, भीतरमें इस मोह पिशाचकी प्रेरणा जगी, धनी होनेकी, यश चाहनेकी, लोकमें अच्छा कहलानेकी इस प्रकारकी गड़वड़ियाँ शुरू हो गई और इन्द्रियोंको संकोचा, परको पर जानकर कि कहां के ये पर हैं ? कहाँ जायेंगे ? सब अटपट रूप है। ये भी तो यथार्थ सत् नहीं है, असमान जातीय द्रव्यपर्याय है, फैले हुए है, विघट जायेंगे, ऐसे ये स्कंध न रहेंगे। किनका आश्रय करके इस ज्ञानानन्द सम्राट अधिपतिको दवोचा जा रहा है ! जिसके अपना ज्ञान अपने केन्द्रमे आनेको होता है तो ये सब गड़वड़ियाँ उनके समाप्त हो जाती है।

चिदानन्द राजाकी लीला :– कैसी इस चिदानन्द राजाकी लीला है कि अपने भीतर चला तो परम आनन्दका स्वाद ले लिया और अपनेसे वाहर मुख उठाया तो नाना संकट और आपत्तियोंका विष पीता रहता है। कहाँ क्या निर्णय करना है ? कौनसा विवाद है ? कौनसा मुल्भेरा करनेकी अटक है। दो ही तो वातें हैं। परके ख्यालको छोड़कर परम विश्रामसे अपने आपमें

बैठ लिया जाय तो आनन्दका स्वाद आता है और अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्यमें कुछ वृत्ति करली जाय तो आकुलताएं भं रनेमें आती हैं। इन दो बातोंमें कुछ विवाद है क्या ? अपने अनुभवसे भी सोच लिया जाय कि इन दो निष्कर्षोंमें तो कुछ विवाद ही नहीं है। परकी ओर दृष्टि लगाये हुए की स्थितिमें ऐसा दुःख नहीं होता होगा। क्या ऐसी शंका है। उस ही का तो फल यह संसार है, संकट है, सब भोग रहे हैं। दूसरे दिखने वाले लोग ऊपर से चिकने चापड़े मालूम होते है। यदि उनकी भी दृष्टि किसी बाह्यकी ओर है तो विशिष्टताकी अवस्थामें सबकी ही तरह वे भी दुःखी रहा करते हैं। सुखी होनेका उपाय तो स्वद्रव्यप्रवृत्ति है और उसका उपाय भेद विज्ञान है, और भेदविज्ञानका उपाय वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। सो यह ज्ञान बनाये रहना यही अपने कल्याणका काम है।

ये सब पुद्गल परिणमन आत्माका कर्म क्यों नहीं हैं ? इस प्रकारके सदेहका अपनुदन करते है अर्थात् धीरे-धीरे काट कर, छिन्न-भिन्न करके संदेहको समूल नष्ट करते हैं।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, करेदि णहि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सेसकालेसु ॥१८५॥

जीव त्रिकाल भी पुद्गलादि कर्मोका कर्तादि नहीं:—ये जीव सभी कालोंमें यद्यपि पुद्गलोंके बीचमें ही विराजमान रहते हैं फिर भी ये पुद्गल कर्मोंको न तो ग्रहण करते हैं, न छोड़ते हैं, और न करते हैं। परिपरिणमन आत्माका काम नहीं है, क्योंकि आत्मा परद्रव्योंके उपादान और त्यागसे शून्य है। यहाँ न्याय शास्त्रकी छटासे आत्माको पुद्गलका अकर्ता सिद्ध किया जारहा है।

अनुमानके अङ्गोंसे जीवके अकर्तृत्वकी सिद्धि :—अनुमानके पाँच अंग होते हैं—(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय और (५) निगमन। यहाँ प्रतिज्ञा की जारही है कि पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है। हेतु दिया जारहा है यह कि आत्माम परद्रव्यका ग्रहण और त्यागकी शून्यता है। इसमें व्यतिरेकव्याप्ति चलाई जा रही है। जो जिसका परिणमानेवाला देखा गया है वह उसके ग्रहण और त्यागसे शून्य नहीं देखा गया है। अथवा इस प्रकारसे घटित किया जाय कि जो जिसके परिणमाने वाला नहीं देखा गया वह उसके ग्रहण और त्यागसे शून्य देखा गया है। व्यावहारिक दृष्टान्त दे रहे हैं कि जैसे लोहका पिंड अग्निको नहीं करता, नहीं छोड़ता। नहीं करता है तो उसका परिणमता भी नहीं है, अथवा स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो लोहपिंड यदि अग्निको ग्रहण करता छोड़ता व करता हो तो अग्निके

ग्रहण और त्यागसे शून्य नहीं होना चाहिये। यह बिल्कुल मौलिक बात कही है। पहिली बात यथार्थ है। यह व्यवहारमें देखी जाने वाली बात है।

एक क्षेत्रागाहमें भी द्रव्योंकी स्वतन्त्रता :—इसी प्रकार आत्मा व कर्म एक क्षेत्रमें रह रहा है तिस पर भी यह आत्मा परद्रव्यके ग्रहण और त्याग से शून्य ही देखा जाता है। जैसे सिद्ध भगवान अनेक पुद्गलोंके बीचमें रह रहे हैं, जहाँ सिद्ध प्रभु विराजमान हैं वहाँ अनन्ते निगोद जीव भी हैं और उन जीवोंके साथ अनन्ते पुद्गल पिंड शरीररूपसे और कर्मरूपसे लगे हुए हैं, उस क्षेत्रमें कितने, पुद्गल मेटर मौजूद हैं तिस पर भी सिद्ध भगवान किसी पुद्गल अणुको न ग्रहण करते, न छोड़ते और न उपादानरूपसे करते हैं। ये तीन बातें कही जा रही हैं—(१) ग्रहण करना, (२) छोड़ना और (३) उपादानरूपसे ग्रहण करना। पहिले ग्रहण करनेका अर्थ है कि खींच लेना, अपनेमें रख लेना और छोड़नेका अर्थ है कि अपनेसे अलग कर देना। और उपादानरूपसे करनेका अर्थ है कि मिल-जुल करके अन्य रूप बन जाना जैसे साइंसमें ऐसा प्रयोग किया जाता है कि हाइड्रोजन और आक्सीजन दो तरहकी हवायें मिलाकर पानी बना देता है। तो दोनों वायुवोंने जैसे मिलकर पानी बना दिया, परमार्थतः यहाँ पर भी दोनोंको किसी भिन्न उपादानने नहीं किया। वे पर स्कंध अन्य स्कंधोंका निमित्त पाकर अपने-अपने रूपसे सब पानी-पानी रूप बन जाते हैं।

तीक्ष्ण प्रज्ञाकी महिमा :—जैसे सिद्ध प्रभु पुद्गलके बीचमें रहते हुए भी पुद्गलोंको न ग्रहण करते है, न छोड़ते हैं न उपादानरूप करते हैं इसी प्रकार यह सिद्धस्वभावमय चैतन्यभाव शुद्ध आत्मत्व इतने प्रसंगोंके बीचमें रहते हुए भी पुद्गल अणुवोंको न ग्रहण करता है और न छोड़ता है। स्वभावपर दृष्टि देना, मात्र स्वरूपास्तित्वपर लक्ष्य रखना तीक्ष्ण प्रज्ञाका काम है। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न उपादानरूप करता है।

अज्ञानियोंकी संसारसमुद्रमें तैरनेकी स्थिति :—लौकिक कहावत है कि **जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।** यह ज्ञान एक समुद्र है और सभी जीव इस ज्ञानरूपी समुद्रमें तैररहे हैं। कोई डुबकी लगारहा है, कोई ऊपर-ऊपर तैररहा है, कोई ऊपर मुँह किए तैररहा है, किन्तु देखो वे सब ज्ञानके स्पर्शसे प्रथक् न होकर तैररहे हैं। ज्ञानका स्पर्श छोड़कर तो कोई तैर ही नहीं रहा है। अरे! भाई! कोई किसी भी पोजीशनमें तैररहा हो किन्तु उसके तैरनेकी स्थिति ज्ञानसे अलग हटकर हो नहीं सकती, पर आश्चर्य व खेद तो

यह है कि हम उल्टे तैरने वालोंकी दृष्टि ज्ञानपर नहीं है हमने तो बाहरमें मुँह बाकर, उसे आकाशकी ओर फैला दिया है यही हमारा ज्ञानको छोड़ कर तैरना है।

ज्ञान कलासे तैरनेकी प्रेरणा :—भैया ! इस ज्ञानसमुद्रमें, जिसमें तैरावैं है, क्या-क्या रत्न हैं,क्या-क्या चमत्कार हैं ऐसे भीतरके मर्मको जाननेकी जिनकी इच्छा है उन्हें बाहरमें मुख करके इन बाह्योंमें उपयोग नहीं करना चाहिए किन्तु गहरे-गहरे पैठकर घुसकर इसके अन्तः मर्मको समझना चाहिए। स्वरूपास्तित्व इतना सुदृढ़ किला है कि इसमें दूसरी चीजोंका प्रवेश नहीं है। क्या दुःख है ? क्या संकट है, कैसा है ? जिसे अपने स्वरूपास्तित्वपर दृष्टि हो और यह ज्ञात हो जाय कि 'इस मुझमें तो दूसरोंका त्रिकाल भी प्रवेश नहीं है डूबनेकी शंका किस बातकी ? कोई दूसरा पुरुष इस मुझमें कुछ कर डालेगा ऐसा भय कहाँ ? कौन क्या कर डालेगा ? दूसरेका प्रवेश ही जब मुझ तकमें नहीं है। कल्पना कीजिये कोई गलत खबर लग जाये कि भाई देशपर विकट संकट आरहा है अथवा नगरमें विकट संकट आनेवाला है यद्यपि देशमें कुछ भी गड़बड़ीकी बात नहीं है, नगरमें रंच भी आपत्तिका भय नहीं है तो भी विकल्प जालरूपी तरङ्गोंसे तरङ्गित पुरुष अपने घरमें घुसा हुआ भी नाना विकल्प करके अत्यन्त भयभीत इस कारण हो रहा है कि उसने प्रज्ञा कलाको छोड़ दिया है।

विकल्पजनित भयकर प्रसार :—एक भाई साहब ससुराल गये। बिल्कुल पढ़े-लिखे न थे। ससुर जी महीनाभर पहिले कहीं बाहर चले गये थे और वहीं बीमार पड़ गये। उनकी बीमारीकी चिट्ठयोंका आना जाना चल रहा । जब यह ससुराल पहुंचा उस समय भी एक चिट्ठी आई। घरके सब ।`` पाहुने साहबका बड़ा सत्कार किया कि लालाजीसे ही चिट्ठी पढ़वा । तो उनको चिट्ठी दे दी गई। वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये। उनके क्या ःत थी कि यदि मैं भी पढ़ा-लिखा होता तो सब कुछ समाचार झट-झट .ढ़ कर सुना देता। उनको तो इस दुःखके ही मारे रो आया। चिट्ठीमें समाचार क्या था कि मैं बहुत अच्छा हो गया हूँ और ५-७ दिनमें घर आने वाला हूँ। मगर लालाजीका रुदन देखकर सब घरके लोग रोने लगे कि हाय वे तो मर ही गये। सबने यही अनुमान लगाया। इस तरहसे घरके लोग दुःखी हो रहे हैं। मुहल्लेके लोग फेरा करनेको आ गये। अब देखो वहाँ तो किसीके पतिजी, किसीके पिताजी अच्छी तरहसे हैं और यहाँ सारे लोग रोरहे हैं। तो होता क्या ? कि बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं होता, सम्बन्ध

तो अपने परिणमनसे होता है। अपने विकल्पमें अनिष्ट बात आयी तो उसमें भयभीत होकर रो रहे हैं। जैसे यहाँ भय लगा है क्या ? ऐसी भयकी बात तो जरा भी नहीं है। वहाँ तो स्वसुरजी घर आनेकी तैयारीमें हैं और यहाँ लोग दुःखी हो रहे हैं। इस लोकमें सब ठीक चल रहा है, सबका काम स्व स्वके बलसे चल रहा है। मेरी किसी भी परपदार्थोंसे कोई दुश्मनी नहीं। मेरा कोई बिगाड़ करने आता है और न किसीकी मुझसे मित्रता है, जो कि कोई मेरा सुधार करने आता हो।

धर्मात्माकी सेवा अपनी सेवा :—एक धार्मिक पुरुष दूसरे धार्मिक पुरुषकी सेवा करता है, पोषण करता है, अनुराग करता है तो वह धर्मात्मा दूसरेकी सेवा दूसरेका अनुराग नहीं कर रहा क्योंकि वह धर्मभावनासे प्रेरित होकर, गद्गद होकर जिस चीजको वह चाहता है वह चीज दूसरेमें गई तो आल्हादित होकर अपनी चेष्टाएँ करता है जगतके सर्व पदार्थोंका इस प्रकार स्वतंत्र-स्वतंत्र परिणमन चल रहा है।

विपरीत मान्यताका नाम संकट :—उल्टी मान्यतासे कहीं वस्तु नहीं बदल जाती, किन्तु वस्तुको उल्टा माननेसे यह संकटोंमें पड़ जाता है। इतनी विपरीत धारणाओंसे कहीं परमें आपत्ति नहीं आ जाती किन्तु घरके बारेमें विपरीत धारणा कर लेनेमें हममें ही आपत्ति आ जाती। आनन्दका उपाय हमें अपने आपमें किसी प्रकार बना लेनेसे ही प्राप्त होगा दूसरोंके सम्बन्धमें कुछ चिन्तन करनेसे आनन्दका उपाय नहीं मिलेगा। यदि यह मैं आत्मा परद्रव्योंको ग्रहण करने वाला होता तो मैं परद्रव्योंका कर्ता कहलाता, पर ऐसा तो होता ही नहीं। हे आत्मन् तूने ! जिन्दगी भर परपदार्थोंसे मोह किया, अनुराग किया क्या-क्या तूने नहीं किया, कैसा-कैसा कुटुम्बका माना, इन अनन्ते जीवोंमेंसे केवल ये दो चार जीव ही हैं ऐसा माननेमें ही बिगाड़ गया, हो तो अहो, मेरा सर्वस्व मिट जायगा। अहो ऐसा विचारने वाले तो गरीब हैं, दयाके पात्र हैं, दीन हैं, दुखी हैं, अपने अनन्त ऐश्वर्यकी ओर दृष्टि नहीं देते हैं और आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान, ऐसी उन्होंने अपनी दशा कर ली है।

हमारी धार्मिक प्रवृत्तिमें शंका :—हम धर्म तो करते हैं मगर कुछ बिगड़ न जाये ऐसा ध्यान रखकर थोड़ा-थोड़ा धर्म करते हैं। शायद उस गृहस्थीपर दया उत्पन्न हो रही है इस कारण थोड़ा-थोड़ा करते हैं। जैसे कि मुनिराज कहीं यह शरीर नष्ट न हो जाय इस कारण ज्ञानके प्रयोगसे इस शरीरको आहार दिया करते हैं। तो शरीरको आहार देनेमें मुनिका विवेक काम कर

यह है कि हम उल्टे तैरने वालोंकी दृष्टि ज्ञानपर नहीं है हमने तो बाहरमें मुँह बाकर, उसे आकाशकी ओर फैला दिया है यही हमारा ज्ञानको छोड़ कर तैरना है।

ज्ञान कलासे तैरनेकी प्रेरणा :—भैया ! इस ज्ञानसमुद्रमें, जिसमें तैरावें है, क्या-क्या रत्न हैं,क्या-क्या चमत्कार हैं ऐसे भीतरके मर्मको जाननेकी जिनकी इच्छा है उन्हें बाहरमें मुख करके इन बाह्योंमें उपयोग नहीं करना चाहिए किन्तु गहरे-गहरे पैठकर घुसकर इसके अन्तः मर्मको समझना चाहिए। स्वरूपास्तित्व इतना सुदृढ़ किला है कि इसमें दूसरी चीजोंका प्रवेश नहीं है। क्या दुःख है ? क्या संकट है, कैसा है ? जिसे अपने स्वरूपास्तित्वपर दृष्टि हो और यह ज्ञात हो जाय कि 'इस मुझमें तो दूसरोंका त्रिकाल भी प्रवेश नहीं है डूबनेकी शंका किस बातकी ? कोई दूसरा पुरुष इस मुझमें कुछ कर डालेगा ऐसा भय कहाँ ? कौन क्या कर डालेगा ? दूसरेका प्रवेश ही जब मुझ तकमें नहीं है। कल्पना कीजिये कोई गलत खबर लग जाये कि भाई देशपर विकट संकट आरहा है अथवा नगरमें विकट संकट आनेवाला है यद्यपि देशमें कुछ भी गड़बड़ीकी बात नहीं है, नगरमें रंच भी आपत्तिका भय नहीं है तो भी विकल्प जालरूपी तरङ्गोंसे तरङ्गित पुरुष अपने घरमें घुसा हुआ भी नाना विकल्प करके अत्यन्त भयभीत इस कारण हो रहा है कि उसने प्रज्ञा कलाको छोड़ दिया है।

विकल्पजनित भयकर प्रसार :—एक भाई साहब ससुराल गये। बिल्कुल पढ़े-लिखे न थे। ससुर जी महीनाभर पहिले कहीं बाहर चले गये थे और वहीं बीमार पड़ गये। उनकी बीमारीकी चिट्ठियोंका आना जाना चल रहा था। जब यह ससुराल पहुंचा उस समय भी एक चिट्ठी आई। घरके सब लोगोंने पाहुने साहबका बड़ा सत्कार किया कि लालाजीसे ही चिट्ठी पढ़वा लें। तो उनको चिट्ठी दे दी गई। वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये। उनके क्या चिंता थी कि यदि मैं भी पढ़ा-लिखा होता तो सब कुछ समाचार झट-झट पढ़ कर सुना देता। उनको तो इस दुःखके ही मारे रो आया। चिट्ठीमें समाचार क्या था कि मैं बहुत अच्छा हो गया हूँ और ५-७ दिनमें घर आने वाला हूँ। मगर लालाजीका रुदन देखकर सब घरके लोग रोने लगे कि हाय वे तो मर ही गये। सबने यही अनुमान लगाया। इस तरहसे घरके लोग दुःखी हो रहे हैं। मुहल्लेके लोग फेरा करनेको आ गये। अब देखो वहाँ तो किसीके पतिजी, किसीके पिताजी अच्छी तरहसे हैं और यहाँ सारे लोग रोरहे हैं। तो होता क्या ? कि बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं होता, सम्बन्ध

तो अपने परिणमनसे होता है। अपने विकल्पमें अनिष्ट बात आयी तो उसमें भयभीत होकर रो रहे हैं। जैसे यहाँ भय लगा है क्या ? ऐसी भयकी बात तो जरा भी नहीं है। वहाँ तो स्वसुरजी वर आनेकी तैयारीमें हैं और यहाँ लोग दुःखी हो रहे हैं। इस लोकमें सब ठीक चल रहा है, सबका काम स्व स्वके बलसे चल रहा है। मेरी किसी भी परपदार्थोंसे कोई दुश्मनी नहीं। मेरा कोई बिगाड़ करने आता है और न किसीकी मुझसे मित्रता है, जो कि कोई मेरा सुधार करने आता हो।

धर्मात्माकी सेवा अपनी सेवा :—एक धार्मिक पुरुष दूसरे धार्मिक पुरुषकी सेवा करता है. पोषण करता है, अनुराग करता है तो वह धर्मात्मा दूसरेकी सेवा दूसरेका अनुराग नहीं कर रहा क्योंकि वह धर्मभावनासे प्रेरित होकर, गद्‌गद होकर जिस चीजको वह चाहता है वह चीज दूसरेमें गई तो आल्हादित होकर अपनी चेष्टाएँ करता है जगतके सर्व पदार्थोंका इस प्रकार स्वतंत्र-स्वतंत्र परिणमन चल रहा है।

विपरीत मान्यताका नाम संकट :—उल्टी मान्यतासे कहीं वस्तु नहीं बदल जाती, किन्तु वस्तुको उल्टा माननेसे यह संकटोंमें पड़ जाता है। इतनी विपरीत धारणाओंसे कहीं परमें आपत्ति नहीं आ जाती किन्तु परके बारेमें विपरीत धारणा कर लेनेमें हममें ही आपत्ति आ जाती। आनन्दका उपाय हमें अपने आपमें किसी प्रकार बना लेनेसे ही प्राप्त होगा दूसरोंके सम्बन्धमें कुछ चिन्तन करनेसे आनन्दका उपाय नहीं मिलेगा। यदि यह मैं आत्मा परद्रव्योंको ग्रहण करने वाला होता तो मैं परद्रव्योंका कर्ता कहलाता, पर ऐसा तो होता ही नहीं। हे आत्मन् तूने ! जिन्दगी भर परपदार्थोंसे मोह किया, अनुराग किया क्या-क्या तूने नहीं किया, कैसा-कैसा कुटुम्बका माना, इन अनन्ते जीवोंमेंसे केवल ये दो चार जीव ही है ऐसा माननेमें ही बिगाड़ गया, हो तो अहो, मेरा सर्वस्व मिट जायगा। अहो ऐसा विचारने वाले तो गरीब है, दयाके पात्र हैं, दीन हैं, दुखी हैं, अपने अनन्त ऐश्वर्यकी ओर दृष्टि नहीं देते हैं और आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान, ऐसी उन्होंने अपनी दशा कर ली है।

हमारी धार्मिक प्रवृत्तिमें शंका :—हम धर्म तो करते हैं मगर कुछ बिगड़ न जाये ऐसा ध्यान रखकर थोड़ा-थोड़ा धर्म करते हैं। शायद उस गृहस्थीपर दया उत्पन्न हो रही है इस कारण थोड़ा-थोड़ा करते हैं। जैसे कि मुनिराज कहीं यह शरीर नष्ट न हो जाय इस कारण ज्ञानके प्रयोगसे इस शरीरको आहार दिया करते हैं। तो शरीरको आहार देनेमें मुनिका विवेक काम कर

रहा है अन्यथा वह तो इतना विरक्त है कि शरीरको आहार भी नहीं देता। मानो ऐसी ही दशामें ये गृहस्थ कहीं गृहस्थी न मिट जाय कहीं यह शरीर न मिट जाय, इसलिए थोड़ा धर्म करके यह कृपालु बनरहा है। (हँसी)।

प्रत्येक कार्यका निश्चित समय :—किन्तु जरा इस तरह भी तो देखो, जैसे नीतिमें कहते है कि खेलनेके समय खेलो और पढ़नेके समय पढ़ो। पढ़नेके समय खेलनेका विकल्प न रखो और खेलनेके समय विकल्प मत करो तो इस प्रवृत्ति से विद्यार्थीका जीवन योग्य बन जाता है। इसी प्रकार गृहस्थावस्थामें भी फंसनेकी आवश्यकताको जो तोड़ता है, उसने अधूरेपनका विकल्प न सतायें, ऐसी वात तो वना ली, पर २४ घंटेमें कितने मिनट धर्ममें देना चाहते हो ? यह भी तो वता दो, एक घंटा ? अजी ! एक घंटा तो वहुत है। दस-पाँच मिनट अच्छा, ५ मिनट ही धर्ममें दो।

धर्मके समय गृहस्थीको दया अधर्म :—एक मिनट ही धर्ममें देकर उस क्षण गृहस्थीकी दयाका भाव न लावो। कही मेरा कुछ नहीं है सो सर्व विकल्पों का परित्याग करके केवल सहज स्वरूपमय निज आत्मतत्त्वको देखो जो कि असीम प्रकाशमय है, कहीं हद नजर नहीं आती है। जहाँ कुछ अन्य पता नही पड़ता है व शुद्ध आनन्दका योग होकर भी मैं आनन्दमें हूँ इस प्रकारका भी विकल्प नहीं होता है। जैसे कि हलुवाको आसक्तिसे खाने वाला पुरुष उस हलुवाके आनन्दको लूट रहा है पर उसको वहाँ फुरसत नही है कि वह ऐसी कल्पनाएँ भी कर सके कि यह वड़ा मीठा लगरहा है इतनी भी आशक्ति सहित अनुभवन है कि वह अन्य कोई कल्पना नहीं कर पाता है, एकत्रित होकर आनन्दविकारके स्वादमें लग्न होरहा है। यह यहां दृष्टान्तमें आसक्तिकी वात है और प्रकृतमें ज्ञानवृत्तिकी वात है। यह सम्यग्दृष्टी पुरुष चाहे गृहस्थ हो या मुनि हो, जिस मिनट धर्मका काम कर रहा है अर्थात् सर्व विकल्पोंका परित्याग करके निर्विकल्प निराकार असीम ज्ञानस्वरूप के अनुभवके मार्गमें लग रहा है। उस समय वह मात्र आनन्दका भोक्ता है, जिस आनन्दका भोक्ता है उस आनन्दकी कल्पनाएँ करने तककी भी उसको फुरसत नहीं है। एक मिनट भी धर्म साधन हो, किन्तु उस कालमें केवल वही साधन चले तो उसका लाभ अपनेको विदित हो सकता है।

निज स्वरस आनन्दके संयोग और कर्तृत्वादिभावमें अमृत विष का अन्तर :—कहाँ तो ऐसा लाभ लेनेकी वात। और कहाँ परद्रव्योंका कर्ता माननेकी वात इन दोनों वृत्तियोंमें कितना महान् अन्तर है ? ये दोनों वृत्तियाँ कितनी दूर-दूर की हैं। वे क्षण धन्य है जिस क्षण इस जीवका मोह दूर हो जाता

है। मोहसे यह जिसको मानकर जिसको देखकर जिसकी खुशामद करके यह संतुष्ट होना चाहता है वह सब इसके असंतोषको ही करता है।

मोही प्राणीके संतोषका ब्यौरा :—इतनी तो उमर हो चुकी। कोई ५० वर्ष का होगा, कोई ३० वर्षका, कोई इससे भी अधिक, पर परिवारके सदस्योंका मोह करके, रिश्तेदारोंका कुछ काम बनाकर कुछ कभी संतोप पाया हो तो बताओ और १०-२० वर्षमें जो संतोष इकट्ठा कर रखा हो, जमाकर रखा हो, ऐसा कुछ हो तो बताओ किन्तु सब जगह केवल श्रम ही श्रम उठाया जा रहा है और अपने आपके स्वभावदर्शनसे च्युत होकर व्यर्थके खातेको खतियाया जारहा है। परमार्थतः मैं किसी भी परद्रव्यका कर्ता नहीं हूँ।

अकर्तृत्वके रहस्यका उद्घाटन :—स्वरूपास्तित्वपर दृष्टि दो। मैं कितना हूँ, यह विदित होनेपर ही अकर्तृत्वका रहस्य ध्यानमें आता है कि यह आत्मा न कर्मोंको छोड़ता है और न कर्मोंका उपादान करता है और यह पुद्गल कर्म भी जीवको परिणमानेवाला नहीं है। प्रश्न—ग्रन्थोंमें कर्मोंके कर्तृत्वका निषेध चल रहा है। घर-बार, दुकान या और नाना बातोंके कर्तृत्वका निषेध क्यों नही किया जारहा है। उत्तर—जब निमित्तनैमित्तिकभावरूपसे जकड़े हुए इन कर्मोंके कर्तृत्वका निषेध स्वयं हो जाता है, अथवा घरमें छिपी हुयी एक बेवकूफीको निकाला जारहा है, फिर बाह्य अर्थोंके सम्बन्ध माननेकी तो बड़ी बेवकूफी है। घर द्वार आदिके निषेध करने या व्यवस्था बनानेमें तो आचार्यदेव पड़ना ही नहीं पसन्द करते। वह तो विकट व्यामोह है। जीवके साथ कर्मोंका तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। धन, वैभव, जड़, परिवारका तो निमित्तनैमितिक सम्बन्ध भी नही है।

गोहरेको काट कर स्वयंके मूत्रमें लोटनेकी लोकोक्ति :—यह तो ऐसी बात है कि जैसे लोग कहा करते हैं कि गोहेरा किसीको काटता है तो खुद मूत्र करके उसमें लोट जाता है। सो यह तो उसका प्राकृतिक व्यसन है। कोई काटनेपर उस मनुष्यको और बरबाद कर देनेके लिए लोटता नहीं है, किन्तु लोग सोचते हैं कि यदि मनुष्यको काट करके अपने मूत्रमें न लोटता तो उसमें विप कम रहता, एक प्रसिद्धि है पर ऐसी बात नही है। उस गुहेराका मूत्र उतरना इसी विधिसे होता है। मनुष्य मिलें तो, लकड़ी, पत्थर आदि मिले तो, वह मुहमें भरकर तेजीसे चबाकर मूत्र करता है।

रागोत्पत्तिमें परपदार्थ निमित्त नहीं, किन्तु कर्मविपाक निमित्त :—यह गुहेरा की तरह ही जीव क्रोधका निमित्त पाकर जब राग होनेको होता है तो उसके राग होनेकी विधि यही है कि किसी पर द्रव्यको आश्रय बनाकर ही राग

होता है। कोई पर पदार्थ इसके रागका कर्ता नहीं है। इनके रागका निमित्त तो कर्मोंका विपाक है हम यहाँके ही बंधनोंका निर्णय सोचा करते हैं, हाय मुझे इन कार्योंने, इस गृहस्थी के बीचके झंझटोंमें डाल दिया। अरे कर्मों के उदयका निमित्त पाकर ज्ञानस्वभावमें जब नहीं रह पाते तब यह राग भाव किन्हीं पर पदार्थों का आश्रय करके व्यक्त होते हैं।

रागके व्यक्त होनेकी विधियां रागके कारण नहीं :—रागके व्यक्त होनेकी ये विधियाँ हैं। ये मेरे रागके कारण नहीं हैं निमित्त नहीं हैं। कोई भी पदार्थ इस जीवका कुछ लगता ही नहीं है। घरमें रहने वाले परिवारके लोग आपके कुछ लगते हैं, इसका कुछ हेतु आप दे सकते हैं? कुछ थोड़ी बहुत सिद्धि कर सकते हो? कोई हेतु हैं, क्या इसकी कोई युक्ति है? सब एकाकी हैं सबका स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा है। फिर आपका कोई दूसरा आत्मा कुछ लगता हो यह कैसे हो सकता है?

वृक्षपर आकर बसे हुए पक्षियोंके समान कुटम्बी संयोग :—जैसे पक्षीगण शाम के समय जिस चाहे दिशासे आकर एक वृक्ष पर बैठ जाते हैं, रात व्यतीत करते हैं, रात्रि समाप्त हो जाने पर वे सब पक्षी अपने-अपने प्रयोजनसे जुदा-जुदा दिशाओंको उड़ जाते हैं इसी प्रकार यह जीव जुदी-जुदी गतियोंसे आकर जो एक हवेलीमें इकट्ठे हो गये हैं, कब तक इकट्ठे हैं? जब तक रात्रि है तबतक जीवनका संयोग है, फिर अपना-अपना काल पाकर अपने-अपने भावोंके अनुसार जो आयु बंध किया है उस आयुको लेकर अपनी-अपनी गतियोंमें चले जाँयगे। यह थोड़ा समागम हुआ, इस समागममें सभीने अपने को बरबाद कर लिया और बिछुड़ गये। इतना ही तो यहाँ होता है।

कल्याणेच्छुक प्राणी कौन :—इस मायाजालसे इस इन्द्रजालसे इन धोखे वाली बातोंसे जो पुरुष सावधान रहते हैं, अपने आपमें विराजमान परम शरणभूत अपने ज्ञायक स्वभावका आदर करते हैं और विषयकषायोंको बुरी तरहसे नष्ट करते हैं, ऐसे पुरुष तो इस लोकजीवनमें आकर लोकसे उपेक्षा भावके कारण अपना कल्याण कर जायेंगे और ज्ञान भावसे च्युत हुए पुरुष मिले हुए दो चार व्यक्तियोंके मोहमें ही पड़कर बिछुड़ जायेंगे और अपने-अपने मलिनभावोंके अनुसार, कर्मों के अनुसार आगे गतियोंमें जन्म पायेंगे। इसका अभी पता नहीं कि अपने आप पर क्या बीतेगा? हमारा कर्तव्य है कि हम अपने सहज स्वरूपकी सम्हाल करें।

पुद्गल कर्मोंके ग्रहणत्यागकी विवेचना :—अब यहाँ आत्मा पुद्गलोंका कर्म भावोंका परिणमन करानेवाला नहीं है तब आत्माके पुद्गल कर्मों का

ग्रहण और त्याग कैसे होता है ? पुद्गल कर्मों के द्वारा आत्माका ग्रहण, त्याग कैसे होता है, उस बातका निरूपण करते हैं।

स इदाणि कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥१८६॥

पुद्गलकर्मों का ग्रहण उपाधिजन्य :—यह आत्मा जो पर द्रव्योंसे अछूता है, किसी भी पर द्रव्यमें जिसका प्रवेश नहीं है, अपने स्वरूपारितत्वमें ही जो परिणमता है ऐसा वह आत्मा संसार अवस्थामें पर उपाधिको निमित्तमात्र पाकर अपने अशुद्ध उपादानकारणसे उत्पन्न हुए, चेतनाके विकाररूप अशुद्ध परिणामोंका कर्ता होता है और अपने इन अशुद्ध परिणामोंका कर्ता होता हुआ यह जीव कर्मधूलीके द्वारा बंध जाता है। और उदयकाल आनेपर कर्पधूर्लीसे छूट जाता है तथा विशुद्ध स्वाभाविक विकासमें आता हुआ यह आत्मा कर्मधूलियोंसे बिल्कुल छूट जाता है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध परिणामोंके कारण यह जीव कर्मों से बंध जाता है और शुद्ध परिणामोंके कारण यह कर्मों से छूट जाता है। यद्यपि यह आत्मा स्वभावतः स्वरूपास्तित्वके ही कारण पर द्रव्योंसे अलग है, पर द्रव्योंके ग्रहणका इसमें अभाव है और पर द्रव्योंके त्यागका भी अभाव है। परका परमेंग्रहण और त्याग कैसा ?

स्वस्वरूपसे परिणमित द्रव्योंमें भिन्न द्रव्यसे सम्बन्ध स्थापित करनेका अवकाश कैसे :—भैया ! पर द्रव्य है, वे सब भी अपने स्वरूपसे हैं और अपने ही स्वरूपमें परिणमते हैं तव किस द्रव्यको इतना अवकाश है कि वह अन्य द्रव्योंसे अपना कुछ सम्बन्ध बनाये। पर यह आत्मा उपयोगस्वरूप है ना ? सो जब उपयोग की विशिष्टता होती है तब यह भी स्वयंमें ऐसा परिणमता है जिसमें निमित्तनैमित्तिकभावरूप बंधन बन जाय और इसके विभावोंका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म भी इस प्रकारसे परिणमते हैं कि उसका भी निमितनैमितिक भावरूप बंधन बन जाय। सो संसार अवस्थामें निमित्तमात्र किये गये हैं पर द्रव्योंके परिणाम जिसके द्वारा ऐसा यह आत्मा केवल अपने परिणाम मात्रका कर्ता होता हैं, क्योंकि यह द्रव्यत्वभूत होनेसे अपने परिणामके उत्पादमें ही समर्थ है। अपने ही द्रव्यका परिणमन है। सो उस कर्तृत्वको मैं विभावोंका निमित्त मात्र करके आये हुये जो कर्म पुद्गल परिणमन है, पुद्गलधूलियाँ हैं उनके द्वारा यह विशिष्ट अवगाहरूपसे ग्रहण कर लिया जाता है, बाँध लिया जाता है और फिर कभी अविशिष्ट परिणामके कारण यह छूट भी जाता है।

गतियों रूपी मिलमें विभाव बटनरूपी इलैक्ट्रिक :—जैसे कोई

एक बड़ा मील चलता है, उसकी जड़ मूलमें इन्जनके पास केवल एक बटन है। अथवा जैसे छोटे मशीनें घरोंमें रहती हैं, पंखे भी हैं, और अनेक तरहकी सजावटकी बिजलियाँ भी लगी हैं, सबका काम एकसा चले उसके लिए क्या करना होता है ? उसमें क्या किया जाता कि एक बटन खोल दिया जाता फिर काम सब औटोमेटिक होता है। इसी प्रकार यह शरीर बना, चतुर्गतियोंका समूह बना, अनेक प्रकारके परिणमन बने, इन सबके बननेका उपाय मूलमें एक ही है कि आत्माका विभाव परिणमन चलने लगे। विभाव परिणमनका निमित्तमात्र पाकर कर्मोंमें स्वयमेव जो होनेको होगा, होने लगेगा शरीरकी स्थितियाँ जो होनेको होंगी, होने लगेंगी।

आत्मा मात्र भावपरिणामका कार्य :—भैया ! इस जगतमें आत्माने केवल अपने परिणाम किये। कोई भी द्रव्य अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य बातें कर ही नहीं सकता। तीन कालमें भी असम्भव है चाहे कितना भी सत्कर्म हो जाय, कितना भी एक क्षेत्रावगाह हो, विशिष्ट अवगाह हो, निमित्त नैमित्तिक बंधन हो, प्रेरणात्मक विधान हो, सर्वत्र प्रत्येक द्रव्य केवल अपने स्वभावका ही करने वाला होता है। सो इन कर्मबंधनोंके प्रसंगमें आत्मा मिथ्यात्व रागादिक विभाव परिणामोंको ही करता है। यह विभाव परिणाम उस कारण समयसारसे बिल्कुल विपरीत है।

कारणसमयसारके प्रकार व रूप :—कारण समयसारके दो प्रकारके अर्थ हैं—(१) द्रव्य कारणसमयसार और (२) पर्याय कारणसमयसार। अरहंत अवस्था प्रकट होनेसे एक समय पहिले की अथवा अन्तर्मुहूर्त पहिलेकी क्षीणमोह गुणस्थान पर्यायको कारणसमयसार कहते हैं अर्थात् जिस पर्यायके बाद कार्य समयसारकी व्यक्ति होती है उस समयको कारणसमयसार कहते हैं। यह है पर्यायभूत कारणसमयसार। यह पर्यायभूत कारणसमयसार अध्रुव है, सत्य है किन्तु अध्रुव सत्य है,यह पर्यायभूत कारण सयमसार पहिले न था और कार्य समयसार होनेपर न रहेगा। ऐसा पर्यायभूत कारणसमयसार अध्रुव सत्य है। किन्तु द्रव्यभूत कारणसमयसार याने जिस स्वभावकी अभिव्यक्तिको कार्य समयसार कहते हैं, यह ध्रुवकारणसमयसार है। प्रभु जीवों में अनादिसे है, अनन्त तक रहेगा और आज जो संसारी हैं उनमें भी है और जो अरहंत सिद्ध प्रभु हो गए हैं उनमें भी है, अभव्यमें भी है। सिद्ध प्रभुमें कार्यसमयसार और यह कारणसमयसार दोनों एक साथ हैं। वहाँ यदि यह प्रश्न किया जाय कि जब कार्यसमयसार हो चुका तो इस कारण समयसारका अवलम्बन लेकर भी कुछ उनमें हो रहा है क्या ? तो हाँ होरहा है।

सिद्ध भगवानमें कार्य समयसाररूप परिणमन :—सिद्ध भगवानमें यह कार्य-समयसार प्रतिक्षण नवीन होता चला जारहा है, सदृश, सदृश होता जाता है इस कारण इसका परिवर्तन ध्यानमें नहीं आ पाता, पर प्रत्येक पदार्थमें पर्याय प्रतिसमय हुआ करती है। क्या कोई भी पदार्थ किसी एक समय ऐसा कृतकृत्य बन जायगा कि अब उसमें उत्पन्न होने वाली पर्यायकी आवश्यकता ही नहीं है। सिद्ध भगवान कृतकृत्य यों हैं कि जो करने योग्य वास्तवमें काम था वह हो चुका है और उनको बाह्यमें करनेके लिए उपयोगमें भी कुछ नहीं रहा है इसलिए ये कृतकृत्य कहलाते हैं। कृतकृत्यका यह अर्थ नहीं है कि अबसे कुछ पर्याय न होगी, कभी न होगी। कृतकृत्यका अर्थ है कि अब उनको करनेके लिए काम नहीं रहा जैसे कि संसारी जन उपयोग द्वारा विकल्प किया करते हैं। प्रभु तो प्रतिक्षण कार्यसमयसार रूप परिणमते रहते हैं। यह ८ बजकर एक समयका कार्य समयसार है तो अगले समयमें, ८ बजकर दूसरे समयमें हुआ दूसरा कार्यसमयसार है। भैया ! पर्याय जितनी भी प्रकट होती है वे स्वभावका आलम्बन करके उत्पन्न होती हैं, सो सिद्ध प्रभुकी अवस्था में भी उस कारणसमयसारका आलम्बन करके प्रतिक्षण कार्यसमयसार हो रहा है।

द्रव्योंके परिणमनकी स्वतंत्र विधि :—यह तो वस्तुके परिणमनकी विधि ही है। कोई भी द्रव्य हो, चाहे धर्म द्रव्य हो, चाहे अधर्म द्रव्य हो, काल द्रव्य हो, आकाश द्रव्य हो, अणु हो, प्रत्येक द्रव्यों का परिणमन उन्हीं द्रव्योंके स्वभावका आलम्बन करके होता है। यह तो परिणमनकी विधि ही है. इस विधिसे बाहर सिद्ध प्रभु कहां जायगा ? यह है ध्रुव कारणसमयसार। यह कारणसमयसार मिथ्यात्व रागादिक भावसे विलक्षण निर्दोष कार्यसमयसारका कारणभूत पारिणामिक बताया जारहा है। यह पर्यायभूत कारण समयसार निश्चयरत्नत्रयात्मक है कार्यसमयसारका साधक है कार्यसमयसार कैसा होता है ? इसे सुगम शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि अरहंत और सिद्ध प्रभुका जो स्वरूप है, परिणमन है वह कार्यसमयसार है। यह परिणमन निर्विकार है इस परिणमनमें कुछ भी विकार नहीं है।

ज्ञायकस्वभावाश्रित परिणमन धर्मादि द्रव्योंके समान निर्विकार :—भैया ! धर्म द्रव्यका आश्रय करके धर्म द्रव्यका होने वाला परिणमन जैसे निर्विकार है आकाश द्रव्यका आश्रय करके होने वाला परिणमन जैसे निर्विकार है इसी प्रकार ज्ञान स्वभावी आत्मद्रव्य को आश्रय करके होने वाला यह परिणमन भी निर्विकार है। यह आत्मा चैतन्यस्वरूप है, इस कारण इसका विकास

सकल पदार्थों में जाननरूप होता है। आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थों में चेतना नहीं है इसलिए उनका विकास जाननरूपसे व्यक्त नहीं है।

कार्य समयसार आनन्दसे परिपूर्ण :—यह कार्य समयसार नित्यानन्दस्वरूप है आनन्दमें वाधा रागादिभावोंसे होती है पर पदार्थसे नहीं होती है। पुत्र बीमार हो जाय कभी, कुछ दुःसाध्य बीमारी हो जाय तो यह पिता बड़ी चिन्ता अनुभव करता है। उसकी यह चिंता पुत्रसे नही आयी है, परद्रव्यसे नहीं आयी है, किन्तु पर द्रव्यको विषय मात्र बनाकर किए गये अपने विभावों द्वारा आया है। इस ज्ञानका सीधा आवरण करने वाले, घात करनेवाले ये रागादिक परिणाम हैं, कभी-कभी इस जीवनमें भी अनुभव किया होगा कि बड़े अच्छे ज्ञानके विकासमें चल रहे थे और किसी चीजका राग सता गया तो उस ज्ञानके विकासमें वाधा आ गयी और उससे पीछे भी हट गये। जिसे लोग कहने लगते कि अब दिमाग काम नहीं देता।

मोहसे पराश्रयरूप श्रद्धा :—हमारे आनन्दमें वाधा देने वाला हमारा रागादिक परिणाम है। मोहमें ऐसी श्रद्धा होती है कि अमुकके रागसे ही मेरा आनन्द बनेगा। जो विभाव आनन्दमें वाधा देते हैं उन ही विभावों को आनन्दका साधन माना जाता है। बस, यही मोहका परिणमन है क्लेशोंसे पिटते हुए भी यदि इतनी सावधानीका उपयोग रह सकता है कि मेरे ये क्लेश इस रागसे मिलते हैं राग स्वयं क्लेशस्वरूप है, तो इस बुद्धिमें वहाँ आकुलता नहीं आ सकती। हमारे आनन्दका बाधक मिथ्यात्व और रागादिक परिणाम है। आनन्दकी प्राप्तिके लिए नाना उपाय किए जाते हैं और किये ही नही जाते, उन उपायोंमें दृढ़तया विश्वास बना हुआ है कि परिवारकी अगर इस प्रकारसे शोभा बनाएँगे तो मुझे आनन्द होगा। दुकान और मकान की ऐसी व्यवस्था बना लेंगे तो मुझे आनन्द होगा अनेक प्रकारके बाह्य पदार्थोंकी व्यवस्थासे आनन्दका निर्णय कर लिया यही तो मोह है। और इस मोहमें रहकर कोई शांतिका अनुभव करना चाहे तो नहीं हो सकता है। कितनी विचित्र बात है कि जो कुछ समागम इस भवमें ही छूट जाते हैं, निश्चित छूट जाते हैं उस समागमके प्रति कुछ समय भी राग नहीं छोड़ा जा सकता है, इसका विकल्प नहीं भुलाया जा सकता है। केवल शुद्ध निज ज्ञायक स्वरूप मात्र आकाशवत् अमूर्त चैतन्यमहिमानिधान अपने आत्मत्वका दर्शन नहीं किया जा सकता है। ये सब झंझट जो अब भी दीख रही हैं, आगे भी दिखा करेंगी। उन झंझटोंमें इतना तीव्र व्यमोह लगा है कि इसके उत्थानका उपाय क्या कहा जा सकता है।

सम्यक्त्वकी आभाके अभावमें मुक्तिका मार्ग अलक्षित :— जब तक सम्यक्त्व की आभा नहीं मिल सकती तब तक मुक्तिका मार्ग इसे नहीं दीख सकता। आज यदि दो चार नगरोंके मनुष्योंने जान लिया तो इस दुनियामें कितने लोग शेष रह गये अथवा उन सारे पुरुषोंके अतिरिक्त कितने अन्य संज्ञी पंचेन्द्रिय रह गये ? वे तो तुम्हारी बात भी नहीं पूछते। यह इतना टुकड़ा इस ३४३ घन राजू प्रमाण लोकमें क्या एक भरपूर बड़े समुद्रकी एक बूंद की जितनी भी गिनती है या क्षेत्र है या मूल्य है ? क्या उतना भी अनुपात इन हजारों मीलोंके क्षेत्रका है ? नहीं है। वह समुद्र संख्यात बूंदोंका समूह है और यह लोक असंख्यात प्रदेशोंका समूह है। इस लोकके समक्ष ये हजार ५०० मीलकी दुनिया कुछ वकत नहीं रखता है जिसमें कि जग करके मोह करके ये मोही जीव अपने आपको अंधेरेमें डाले हुए हैं और अपने अंतरंगमें चैतन्यका प्रकाशमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूपास्तित्वका प्रत्यय नहीं कर पाते हैं।

राग व मोहका आंकड़ा :— इस भवमें इतना तो मोह किया किन-किनसे राग किया, उन रागोंके फलमें आज इस आत्माको लाभ क्या रहा ? विचारने पर शून्य उत्तर आता है। यह आत्मा ज्योंका त्यों ही ना, अशरण, भिखारी, अधीर, व्याकुल ही नजर आरहा है। दो चार साल पहिले आपने क्या विचार किया था कि यों इस प्रकारका साधन बना लेनेके बाद फिर हमें व्यग्रताकी कोई बात आगे न रहेगी, हम धार्मिक उत्साहके साथ उन भावी कालोंमें धार्मिक साधनोंका फार्म क्लियर करनेके लिए काममें जुटेंगे और ४-६ साल बाद परिणाम क्या निकला कि जिस दिनके लिए हम अच्छी कल्पना पहिले कररहे थे उस आजके दिन क्या परिणाम निकला ? अधीरता वैसी ही बल्कि उससे भी बढ़कर, व्याकुलता भी वैसी ही बल्कि उससे भी बढ़कर बन गयी है अब आज भी अगर यह सोचते हैं कि इतना साधन अब यों बना लिया जाय, ठीक कर लिया जाय तो इससे फिर धर्मका पालन अच्छा किया जा सकेगा तो यह नहीं कहा जा सकता। आज जितनी उलझनें हैं, कहीं इनसे बढ़कर कई गुणी उलझनें भी आ सकती है।

'उपेक्षा' ही आपत्तियोंका हल :— इसका तो सर्वत्र उपेक्षाभाव ही उपाय है क्योंकि संसारके समागमोंका, अन्य-अन्य साधनोंका जितना उपाय बनना है वह सब पुण्य पापके आधीन बनता है। पुण्य भाव रहा आया तो जिन साधनोंकी लालसा बनाई है वे साधन भी स्वयमेव हो सकते हैं। पुण्य भाव को मिटाकर अथवा पाप भावको करके विश्रामके मंद व्यवस्थाओंके साधनों की आशा आ जाय तो यह व्यर्थकी ही आशा है। यह नित्यानन्द प्रभु कैसा

कार्य-समयसार है, विलक्षण है। यहां जो ज्ञान निरंतर चलरहा है, वह भी एक स्वरूप है, और जो आनन्द चलरहा है वह भी एक स्वरूप है। यहाँ आनन्दके बारेमें तो झट समझमें आ जायगा कि भगवानका आनन्द एक स्वरूप होना ही चाहिए किन्तु ज्ञानको भी निरन्तर पूर्ण एकस्वरूप जान लीजिये।

आनन्द गुण प्रतिजीवी नहीं, अनुजीवी :— जहाँ आकुलताएँ नहीं है वह है आनन्द। आकुलताओंका अभाव आनन्द है। यद्यपि वह आनन्द परिणमन प्रतिजीवी गुण नहीं है, प्रतिजीवी गुणका परिणमन नहीं है। अनुजीवी गुण है। आनन्द गुण ज्ञाननामक आत्माके गुणकी भाँति अनुजीवी गुण है और उसका परिणमन होता है पर उसका ऐसा विलक्षण स्वरूप है जिसकी समझ अनुजीवो गुणके विवरणमें नहीं है, सर्व आकुलताओंका सद्भाव नहीं है सर्व आकुलताओंका विनाश है इस प्रकार अभावात्मक पद्धतिसे समझमें आ जाता है और यह भी व्यक्त हो जाता है कि वह आनन्द एक स्वरूप है।

ज्ञानकी एकरूपता— जैसे आनन्द एकस्वरूप है इस ही प्रकारसे परमात्मा का ज्ञान भी एकस्वरूप है, यह ध्यानमें आ सकता है तो केवल ज्ञानके स्वरूपका अनुमान हो सकता है। यदि भगवान श्रुतज्ञानकी भांति इन स्कंधोंको जाना करे, इन कार्यकारणों को जाना करे, निमित्त नैमित्तिक भावोंको जाना करे, भूत भावी पर्यायोंके विकल्प किया करे,इन द्रव्यपर्यायोंके विकल्पों में पड़ा हुआ हो तो वह ज्ञान एकस्वरूप नहीं कहा जा सकता। जैसे स्वरूपानन्दके विकासको समझनेके लिए एकस्वरूपताकी ओर जाते हैं इसी प्रकार केवलज्ञानकी लीलाको समझनेके लिए हम ज्ञानके एक स्वरूपकी ओर जायें।

यथार्थका ज्ञान न होना ज्ञानकी कमी :— जगतमें जितने द्रव्य हैं, एक-एक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र वे सब भगवानको ज्ञात होते हैं। जो यथार्थ नहीं है वह ज्ञात नहीं होता और जो कुछ यथार्थ है वह सब केवल ज्ञानमें प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, अयथार्थका ज्ञान न होनेसे ज्ञानकी कमी न कही जायगी। यदि अयथार्थ का ज्ञान न होनेसे ज्ञानकी कमी कही जाय तो रागद्वेष मिथ्यात्व न होनेसे आत्मामें ही कुछ कमी कह डालो।

मानवके भगवानसे भी बड़े कृत्य ? :— हम भगवानसे बड़े है क्योंकि जो बात भगवानमें नहीं है वह हमने करके दिखा दिया है किसी भगवानमें हो तो सामने आये। मैं मोहका नाच करके दिखाता हूँ। किसी भगवानमें दम है कि वह मोहका नाच करके दिखावे। भैया! ऐसा सुभट यह संसारी जीव बन रहा है, बनता है तो बना रहे यह संसारी, किन्तु अयथार्थका ज्ञान न होनेसे ज्ञानकी कमी नहीं कहलाती, यथार्थका ज्ञान न होनेसे ज्ञानकी कमी

कहलाती हैं।

सत्में विद्यमान ही सत्य :—सत्य, जो एक सत्में हो उसको सत्य कहते हैं, दो या अनेक पदार्थों से मिलकर जो व्यञ्जनपर्याय होती है वह व्यञ्जनपर्याय एक सत्य है कि अनेक सत्य है। यह व्यञ्जनपर्याय एक सत्य तो कोई कह नही सकता। एक सत्य है तो क्या कैसे एक द्रव्यमें सत्य है? और यदि एक सत्य है तो फिर द्रव्योंमें यह विकार स्वभाव बन जायगा, सो सदा रहा करेगा। यह सत्य है ही नही, यह असत्य है। यहाँ सच और झूठकी बात नही कही जा रही है। यहाँ सत्य और असत्यकी बात कही जारही है सच और झूठ तो प्रयोजनसे व्यवहारकी कल्पनाओंमें चलता है। सत्य और असत्यकी बात उससे विलक्षण है। जो सत्में हो वह सत्य है जो सत्में न हो वह असत्य है। दो या अनेक द्रव्योंका मेल होकर जो व्यञ्जनपर्याय बनती है वह व्यञ्जनपर्याय असत्य है कुछ झूठ नहीं है भोग तो रहे हैं। किन्तु किसी भी एक सत्में नही है अतः असत्य है। केवल ज्ञानीके ज्ञानमें सर्व सत् यथार्थ ज्ञात होते है, मायाविषयक विकल्प बने, यह बात वहाँ नहीं है। यदि एक शब्दमें कहा जाय तो यह कह लो कि निश्चय दृष्टिमें जैसे सद्भूत विषय होता है वैसा विषय केवलज्ञानमें हुआ करता है अन्तर यह है कि केवलज्ञानमें सर्व और पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञात होता है नयमें एक देश और परोक्ष ज्ञात होता है। अब प्रकरण यह है कि वह पद्धति क्या है जिस पद्धतिसे चलकर हम ज्ञानको एक ही समझ सवें, ज्ञान और आनन्द एक स्वरूप ज्ञात हो सके जिससे कार्यसमयसारका ज्ञानक्षण हो सके इस प्रकारको आगे कहेंगे।

ज्ञान विकासमें पर्यायकी अपेक्षा विभिन्नता :—जिस ज्ञानविकासमें समय-समयमें विभिन्नता आती हो वह एकस्वरूप नहीं कहा जा सकता, जैसे अभी किसी पर्यायको भूतरूपसे जाना, अब उस ही पर्यायको वर्तमानरूपसे जान गये तो यह उनके जाननेमें परिवर्तन है और इस परिवर्तनके कारण वह ज्ञान एकस्वरूप नही रहेगा। जहाँ परिणमन एकस्वरूप नहीं रहता, सदृश नही रहता उसको एक स्वाभाविक परिणमन नहीं कह सकते।

स्वाभाविक परिणत द्रव्य :—धर्म आदिक द्रव्योंमें जो भी परिणमन है वह एकस्वरूप रहता है इसी प्रकार शुद्ध चेतनमें भी एक स्वरूपपरिणमन होगा। सो भगवानने जाना तो सर्व द्रव्योंको और सर्व द्रव्योंके समस्त गुणोंको समस्त पर्यायोंको, किन्तु स्वतंत्र-स्वतंत्र जो द्रव्य है अर्थात् बद्ध अवस्थामें भी जो स्वतन्त्र एकाकी अपने स्वरूपास्तित्वमात्रको लिए हुए पदार्थ है वह गुणों व पर्यायों सहित ज्ञात होता है। उसके सर्व गुण ज्ञात होते है और उसकी सर्व

पर्यायें ज्ञात होती हैं। जैसे सामने बिखरे हुए गेहुवोंके ढेरको देखकर हम तुम कभी-कभी अथवा बालक सब दानों को देखते हैं पर यह विकल्प नहीं करते कि इस दानेके बाद यह दाना पड़ा है, इस दानेके बाद यह दाना पड़ा है। इस तरहके क्षेत्रकृत क्रमका विकल्प नहीं रहता और ज्ञान सब ऐसे ही हो रहा है जैसे कि वे पड़े हुए है। जैसे कि ज्ञात होकर भी उनके क्षेत्रकृत अन्तरका विकल्प नही रहता है। इस ही प्रकार काल क्रमसे होने वाली पर्यायोंको जान कर कालकृत क्रमके अन्तरका विकल्प केवल ज्ञानमें नहीं रहता है। ऐसे ज्ञान और आनन्दका विकास एकस्वरूप है।

कार्यसमयसार :—एकस्वरूप निर्विकार नित्यानन्दरूप परम सुख ज्ञान आदि अमृत तत्त्वकी व्यक्तिको कार्य समयसार कहते है। यह आत्माकी सिद्धावस्था अमृत कहलाती है। और इसके अनुभवनको अमृतका स्वाद लेना कहते है। इसका नाम अमृत है। न मृतं इति अमृतं जो मरे नहीं उसे अमृत कहते हैं। खुद न मरे वह अमृत है। लेकिन जैसे किसी भी पदार्थमें फल रूप, पिंड रूप या पेय रूप पदार्थमें कल्पना करके याने देखा भी नहीं तो उस के सम्बंधमें विशेष लक्षण क्या माना जाय, किन्तु कल्पना करके माना है कि अमृत चीज खानेसे, पीनेसे पुरुष अमर हो जाता है। तो पहिले तो यही विचार करलें कि पीनेसे वह कल्पित अमृत तो खुद मर गया, विनष्ट हो गया याने वह अमृत मृत हो गया वह दूसरों को क्या अमर करेगा। फिर वह तो कुछ चीज ही नही है केवल उस प्रकारकी एक कल्पना उठायी गयी है।

लौकिक काल्पनिक अमृत :—लौकिक अमृतकी कल्पना क्यों उठ गयी कि पहिले प्राचीन अध्यात्म-युगमें इस ज्ञान तत्त्वके स्वादके बावत चर्चायें थी और मान लो वह बहुत उत्तम आनन्दका स्वाद था। कुछ समय बाद यह जीवलोक आध्यात्मिकताके ढंगमें ज्ञान और आनन्द अमृत है यह तो भूल गया किन्तु अमृत एक ऐसी चीज होती है कि जिसके पानीसे जीव अमर हो जाता है इतना ध्यानमें रहा तब जो अच्छा रुचा अथवा कुछ लाभप्रद औषधि हुई उस पर द्रव्यमें अमृतकी कल्पना हो चली। शाश्वत तत्त्व समस्त द्रव्योंमें है। क्या धर्म, अधर्म, आकाश आदिमें शाश्वत तत्त्व नहीं है ? पर उसका स्वाद कौन ले ? यह मैं आत्मा जिसके लिए अमृतकी व्यवस्था बनायी जारही है क्या पर द्रव्यके अमृतस्वरूपका स्वाद ले सकता हूँ ? नहीं। यह तो अपने अमूर्त ज्ञानानन्द स्वरूपका स्वाद ले सकता है। तो ऐसा ज्ञान और आनन्द स्वयं अमृत स्वरूप है उसकी व्यक्ति होना कार्यसमयसार है, उसका साधक है निश्चय रत्नत्रय स्वरूप पर्यायभूत कारणसमयसार।

कर्मधूलिसे बंधन परिणाम :—ऐसा पवित्र कारणसमयसारसे विलक्षण जो मिथ्यात्व रागादिक भाव है उनको ही यह जीव संसारी अवस्थामें करता है। यह विभाव आत्मद्रव्यके उपादान कारणसे उत्पन्न होता है यह अन्य उपादानसे उत्पन्न नहीं होता। सो मात्र अपने परिणामोंका कर्ता होता हुआ यह जीव पुद्गल कर्मोंकी धूलियोंसे बँध जाता है और कभी छूट भी जाता है।

कर्मोंकी बिलक्षण विभिन्नता :—जब वह अपने एकस्वरूप अविशिष्ट परिणामोंको करता है तब इसके अनन्तर यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि कर्मों में इतनी विचित्रता कैसे आ जाती है ? मूलमें कर्म एक है। फिर उसका बिश्लेषण करते हैं तो वे ८ प्रकारके विभाग हो जाते हैं। कोई कर्म आत्मा के ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत होते है, कोई कर्म दर्शनके आवरणमें निमित्त है, कोई साता और असाताके भावों की व्यक्तिमें निमित्तभूत हैं, कोई मूर्छा होनेमें कषाय होनेमें आशा, तृष्णा, इच्छा उत्पन्न करनेमें निमित्तभूत है इस जीवको शरीरमें रोके रहे कोई ऐसा निमित्त मात्र है। इस शरीर की कितने प्रकार की सृष्टियाँ है एकेन्द्रिय कितने प्रकारके, कितने प्रकारके पौधे पेड़, लता, पुष्प, कितनी तरहके कीड़े मकोड़े और भी बहुतसे जानवर आदि है। प्रथम तो मनुष्यको ही देख लो। कोई चीनी सकलका, कोई भारतीय सकलका, कोई अमेरिकन सकलका, कितने प्रकारके मनुष्य पाये जाते हैं। इन सब शरीरोंकी विचित्रताका निमित्त भूत कोई पर है, वह भी कर्म है। ऊँचे, नीचे बहुतसे गोत्र देखे जाते हैं, कुल पाये जाते हैं। इनका भी निमित्त भूत कर्म है। और इष्ट वस्तु स्वरूप प्राप्त होनेमें विघ्न हो जाना, इसका भी निमित्तभूत कर्म है। जो स्वाभाविक परिणमन नहीं किन्तु बिगाड़का कारण भूत है ऐसा कोई भी परिणमन हो उसमें पर उपाधि निमित्त होती ही है। इस प्रकार नाना वैचित्र्य कर्मों में कैसे आ गये इस बातका निरुपण करते है।

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १८७ ॥

शुभाशुभ भावोंका विश्लेषण :—यह आत्मा शुभ अशुभ भावोंमें परिणमता है ये शुभ अशुभ निपेक्ष स्वतः स्वरसतः आत्मामें होने वाले शुद्धोपयोग बृत्तिसे बिपरीत है। जैसे स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध स्वच्छ है, उसकी बृत्ति एक स्वरूप है किन्तु पर उपाधिका संयोग निमित्त पाकर नाना रंग बिरंगे रूप भी हो जाता है। इसी प्रकार यह आत्मा स्वरसतः स्वतः शुद्ध ज्ञायकस्वभाव मात्र है, जानन स्वरूप है, इसे कैसे हटा दिया जाय। वह तो इसके अस्तित्वका कारण ही है, ऐसे एकस्वरूप आत्मामें उपाधिका निमित्त पाकर नाना शुभ

अशुभ भावरूप विचित्रता हो जाती है। शुद्ध जानन परिणामसे ये शुभ अशुभ भाव विलक्षण परिणाम है। यदि उपयोग शुद्ध लक्ष्यपर आ जाय, समस्त शुभ अशुभ द्रव्योंमें परम उपेक्षा रूप शुद्ध उपयोगसे परिणमन हो जाय तो शुभ अशुभ भावोंके सारे संकट समाप्त हो जाते है।

जगत जुवारियोका अड्डा :—यह जगत एक जुवारियोंका अड्डा है। जैसे जुवा खेलने वाले अपने शौकसे जूवा खेलते है। खेलते हुएमें थक जानेके कारण या जीत जानेके कारण वह उस अड्डेसे अलग होना चाहे तो वहाँ बैठे हुए जो मित्र जन हैं उनकी ऐसी चेष्टा होती है कि उसको उठने की हिम्मत नही पड़ती है। हार गया तो जुवारी लोग कहते है कि बस इतनो ही दम थी। उसे विवश होकर बैठ जाना पड़ता है। और आगे उधार लेकर भी दाँब लगाना पड़ता है और अगर जीत जाय तो भी लोग परेशानी की बातें कहते है बस जीत गये, स्वार्थमें आ गए अपनी प्रकृति छोड़ दी खुद गर्ज बन गये। फिर बैठ जाता है। इसमें कमजोरी तो उस जुवारीकी स्वयं की है और तब ही वह दूसरे लोगोंकी बातको सुनकर वहीं डट जाता है।

पुण्य व पापके फलमें जय पराजय मानने वाले प्राणी :—इसी तरह पापोंके फलमें हार मानने वाले, पुण्यके फलमें जीत मानने वाले जगतके जीव जुवारियोंका यह जगत अड्डा है। इस अड्डे में कोई जीव हार मानकर ही थककर ही विपदाओंसे त्रस्त होकरके विरक्त होकर इस समुदायसे हटना चाहे तो लोग वाणीसे, दर्शनसे, मुद्रासे ऐसी चेष्टा करते हैं कि यह हट नही पाता है। कोई जीत जाय, बड़े साधन पाये, सम्पदा पाये आजीविका भी ठीक हो जाय तो भी वह अड्डेसे खिसक नही सकता। कुछ लोगोंकी चेष्टा और वास्तवमे इस ही की मंसा बाधक है नही तो बतलावो कितना कमा लिया जाय कि जिसके बाद फिर अड़चन न रहे? कमाने की बात न रहे? कोई सीमा है ऐसी?

आशारूपी गड्ढा असीम :—यह आशा रूपी गड्ढा इतना विचित्र है कि जितना कुछ भी वैभव आता जाय उतना ही यह गड्ढा बड़ा होता जाता है। गड्ढों की तो ऐसी प्रकृति नही होती। उनमें तो कूडा डाल दो तो वे भर जाया करते है मगर आशाका गड्ढा विलक्षण गड्ढा है। सभी आशाके रोगी है सो अपनी बात अपनेमें स्पष्ट समझमें आरही होगी। विराम नही ले पाते। इन जुवाके अड्डे में पुण्यके फलमें हर्ष मानते है तो इतनेमें भी गम नहीं खाते है और दांव लगाते है। पापके फलमें दुःखी होते है सो और भी उधार पाप ले लेकर इस अड्डे में फसे रहते है, किन्तु इस चिदानन्दस्वरूप शुद्ध परमात्म-

द्रव्यका कार्य तो परमउपेक्षारूप ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहनेका था।

यह आत्मा परिणमता है उसको निमित्तमात्र करके ज्ञानावरणादिक नाना भावोंके द्वारा इन भावोंमें कर्म धूल प्रवेश करती है शुभ अशुभ परिणामोंके समयमें प्राप्त हुए पुद्गलका विचित्र कर्म परिणमन स्वरूप हो जाना न्याय प्राप्त ही है जैसे नये मेघोंकी वर्षा जब होती है और वह पानी भूमिमें संयुक्त होता है तो उस ही कालमें पायी है विचित्रता जिसने ऐसे नाना प्रकार के पदार्थोंका परिणमन हो जाना दृष्ट ही है जैसे अषाढ़के महीनोंमें जब नये मेघोंकी वर्षा होती है तो रातको ही वर्षा हुयी और सुबह देखो तो बहुत सी छोटी-छोटी मेढ़की पीले-पीले, कीड़े और भी कई जातिके कीट उत्पन्न हो जाते है। इस विचित्रताको करने वाला कौन है। नये मेघोंका पानी भूमिमें संयुक्त होता है, यही वह निमित्त है जिसको निमित्त करके होने वाले ये विचित्र जीवसमास देखे जाते है।

नव मेघवर्षासे मेंढकादिकी उत्पत्तिके समान नवीन २ रागादि भाव रूपी मेघोंका परिणाम:—इस ही प्रकार जब यह आत्मा रागद्वेषोंके वश होकर शुभ अशुभ भावोंसे परिणमता है तो योग द्वारसे प्रवेश करने वाले अनेक अन्य कर्म पुद्गल, स्वयं ही पाई है विचित्रता जिसने ऐसे ज्ञानावरणादिक भावोंमें परिणम जाता है। इससे यह निर्णय होता है कि कर्मोंमें जो यह विचित्रता आई वह कर्मोंकी प्रकृतिकृत है, आत्माके द्वाराकी हुई विचित्रता नहीं है। आत्मा न तो प्रकृतिका बंध करता है, न अनुभवबंध करता है, न प्रदेशबंध करता है, न कर्मोंका स्थितिबंध करता है, किन्तु इन चारों प्रकारके बंध कर्मो में हो जायें इसका निमित्त भूत आत्मपरिणाम आत्मामें होता है।

विभाव परिणामरूपी आतिशबाजी:—जैसे बरातके समय बहुतसे लोग आतिशबाजी खेलते है. सड़कपर रख दिया सकोरा पटाका जिसमें कुछ मसाला भरा है। लोग क्या करते हैं। केवल जरा सी आग छुवा दिया और हट गए, अब पटाका फूट जाना ऊपर चला जाना, रंग बिरंगा बन जाना यह क्या उस रईसके बच्चेका खेल है जो आतिशबाजीको कररहा है। लोक व्यवहार में अधिक से अधिक वह तो जरा सा आगीका कण छुवा सका और वह स्वयं हट गया। उसमें करेगा क्या ? उसमें जो होता है वह उस पटाकेकी स्वयं कीपरिणतिसे होता है।

कार्माणवर्गणाओंका कर्मरूप स्वतंत्र परिणमन:—इसी प्रकार आत्माने तो अपना विभाव परिणाम किया, आग सुलगा दी, इसके आगे परद्रव्योंका वह कुछ नहीं कर पाता, पर इस विभावका निमित्त पाकर आत्माके ही साथ

विश्रसोपचयरूपसे लगे हुए अनन्त कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं। खुद परिणम जाती हैं इसलिए गल्ती नहीं होती है अगर कोई किसीको परिणमावे तो लाखों गल्तियाँ हो जायें। कितने प्रदेशमें कितनी प्रकृति हो, कितनी स्थिति हो, कितना अनुभाग पड़े, यह सब व्यवस्था इस कारण चल रही है कि वह चतुष्क विभावोंका निमित्त पाकर कर्ममें स्वयं ही वट जाता है, परिणम जाता है। परिणमाने वाला कोई हो तो उसमें गल्तियाँ पड़ सकती हैं। सब अपना-अपना काम करते हैं। सब अपना-अपना काम करें तो वहाँ अव्यवस्था नहीं हो पाती।

अपनी सावधानीमें भूल नहीं :—जैसे देखा होगा कभी-कभी ५०-६० बुढ़िया मिलकर मथुरा वगैरह यात्रा करने को जाया करती है। उनके पास एक-एक दो-दो पोटरी रहा करती हैं। वे दूसरोंकी फिकर नहीं रखती और पहिलेसे ही परस्परमें कह भी देती है कि रेलमें चढ़ते, रेलसे उतरते समय अपने-अपने सामान की सम्हाल किए रहना। सो सब अपने-अपने सामानकी सम्हाल किए रहती हैं इसलिए कुछ भी नहीं गुमता।

भूलका कारण पराश्रयता :—जो लोग दूसरेकी फिकर रखते हैं तो कुछ समुदायमें ही कुछ न कुछ सामन गुम जाता है। क्योंकि, दूसरोंकी पूरी वात तो किसीको नहीं मालूम होती इसलिए अव्यवस्था हो जाती है। एक मात्र लौकिक वात कही गयी है। यह तो ऐसा ही वस्तुस्वरूप है कि पर पदार्थ अपनी व्यवस्थामें संलग्न हैं और इसी कारण कहीं रंच भी गल्ती नहीं हो पाती। जैसे पानी बरषता है। इनकी हरियालीको क्या पानी किया करता है। पानीका तो संयोग होता हैं वह उपादान स्वयं हरे पत्ररूपसे हो जाता, पुष्प रूपसे हो जाता, यह वात उनमें स्वयमेव होती है।

आवरणके प्रकार :—इसी प्रकार कितने प्रकारका ज्ञानावरण है। मूलसे तो कह लिया कि ज्ञानावरण ५ प्रकारके हैं। (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्ययज्ञानावरण, (५) केवल ज्ञानावरण। और, मतिज्ञानावरण भी कई प्रकारके है। स्मृतिज्ञानावरण प्रत्यभिज्ञानावरण, तर्कावरण, अनुमानावरण और फिर भी मति. अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जिस चीज को न जान सके वही आवरण है। संस्कृतभाषाज्ञानावरण, आदि कितने ही आवरण हैं। निगोद जीवके जितने ज्ञान का कभी विनाश नहीं होता है उतने ज्ञानपर आवरण नहीं है। बांकी जितने सर्व अंशोंका आवरण है उतने ज्ञानावरण है। यह सब वैचित्र्य आत्मकृत नहीं है किन्तु सारे कर्मोके स्वभावसे ही कृत है। परस्परमें एक दूसरेमें कर्तृ-

कर्मत्वभाव नहीं है इस कारण निमित्त नैमित्तिक भावोंमें भी कुछ फेर करना आवश्यक हो सो बात नहीं है। परस्परमें कर्तृ कर्म भाव रंच भी नहीं है, फिर भी निमित्तनैमित्तिक भाव भी बराबर चल रहे हैं।

निमित्त नैमित्तिक प्रसंगमें भी स्वरूपास्तित्वकी दृष्टिकी प्रेरणा :—देखते हैं कि रसोईमें भोजन बनाने बैठते हैं तो जल्दी-जल्दी काम कर डालते हैं कभी यह संदेह नहीं करते कि यह आग कभी रोटी बनानेमें निमित्त बन गयी व कभी निमित्त न बने तो। सब बातें बराबर चलरही हैं। ऐसा सब कुछ होते हुए भी वस्तुके स्वरूपास्तित्वपर दृष्टि दो तो वहाँ यह भी निःसंदेह अवगत होता है कि अग्निने अन्य द्रव्योंके परमाणुवोंमें कुछ किया नहीं, अग्नि अपना कार्य करके समाप्त है, उसका निमित्त पाकर रोटीमें परिपाक रोटीके उपादानसे हो रहा है, वह आग पिंड तो अपना काम करके समाप्त है। जैसे कोई बोलता है, कोई सुनता है तो बोलनेवाला सुननेवालोंको कुछ दे नहीं देता। सुनने वाले बोलनेवालेसे कुछ ले नहीं लेते, पर सुनने वाले उपस्थित है तो उनका निमित्त पाकर बोलनेवाला उस ढंगसे अपनी चेष्टाएं करके समाप्त हो जाता है और सुननेवाले बोलनेवालेकी चेष्टाओंका निमित्त पाकर अपना काम करके समाप्त हो जाते हैं। और इसी कारण तो कभी ऐसा सुननेमें आया कि किसीने कोई भजन छेड़ दिया, जैसे कि बहुतसे भजन हुआ करते हैं, बहुतेरे देखे पंडित, ऊपरसे भले भीतरसे दुष्कर्मी, आदि बहुतेरे भजन हैं। बड़ा अच्छा भजन बोल चुका था किन्तु वक्ता पंडित जी भजन सुननेके बाद टूट पड़ते है, भजन बोलने वाला अपनी चेष्टाएं करके अपनेमें समाप्त हो गया है, उससे बाहर उसने कुछ नहीं किया। अव्वल तो उसका इरादा भी ऐसा ताना मारनेका न था और कदाचित् इरादा ऐसा हुआ भी हो ताना मारनेका, तो उसने परमें क्या किया ? वे भजन बोलनेवाले पंडितजी का कुछ नहीं कररहे थे। वहाँ भी वह भजन बोलनेवाला अपने ही कामको समाप्त कररहा था। इन पंडितजीने अपने आपके विकल्पका काम समाप्त कर डाला।

परिसमाप्तिका व्युत्पत्त्यर्थ :—समाप्तका क्या अर्थ है ? सम् माने अच्छी तरहसे आप्त माने पा लिया अर्थात् उसके बाद पानेका काम ही न रहे। ऐसा पालिया जाय कि फिर उसके पानेका काम न रहे यह पालिया का अर्थ है कि पूरा पा लिया, यह समाप्तका अर्थ है, पर पदार्थोंने अपने वर्तमान पर्यायको पूरा पा लिया है। इसके बाद फिर उसके पानेका काम नहीं रहा फिर दूसरी पर्याय होगी। फिर उसका भी काम नहीं रहना। इस तरह पर

पदार्थ अपने आप अपनी पर्यायोंको परिसमाप्त कररहे हैं। किसी भी द्रव्य को इतना अवकाश नहीं है कि दूसरेका काम कर सके। तो देखो भैया! जीव विषय कषायोंका यत्न करते हैं, यह कर्मोंका पहाड़ स्वयमेव बँध आया करता है। सो बँध तो गया किन्तु उसका विपाककाल तो इस जीवपर गुजरता है सो उसका कष्ट तो विकट भोगना ही है।

सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य :— सबसे बड़ा व्यवसाय तो परिणामोंको निर्मल बनाए रहना है। यही सबसे ऊँचा व्यवसाय है परिणामोंको मलिन बनाकर यदि कुछ द्रव्योंका उपार्जन होता हो तो वह द्रव्योंका उपार्जन भी उसके लिए बड़ा संकट है, आगे यह ऊधम बड़ा महगा पड़ेगा और प्रथम तो यह बात है कि जो उपार्जन होता है वह भी पुण्योदयका निमित्त पाकर होरहा है। यहाँ यह मूल से सोच रहे हैं कि इतनी झूठे बात न कही जाती तो ये द्रव्य न मिलते। खैर आत्मा केवल अपने परिणामोंके करनेमें समर्थ है। विभाव परिणमन करते हैं रागद्वेष मोह करते हैं तो कर्मोंसे बँध जाते हैं और अपने ज्ञान परिणमन जगाए रहते हैं तो कर्मोंसे छूट जाते हैं।

अथ एक एव आत्मा बन्धः। अब इस बातका वर्णन करते हैं कि यह एक आत्मा ही बंधस्वरूप हो रहा है :—

सपदेसो सो अप्पा कसायदो मोहरागदोसेहिं।

कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधोत्ति परूविदो समये ॥१८८॥

सप्रदेशी यह आत्मा, संसारी जीव मोह, राग और द्वेषसे कसैला होता हुआ ज्ञानावरणादिक ८ कर्मोरूप धूलियोंसे हो बँधा जाता है। इस प्रकार सिद्धान्तमें बन्धकी निरूपणा की गई है। यह आत्मा लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश वाला है। वहाँ ही यह निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहा है।

द्रव्यकी गुणात्मकता :— द्रव्यके प्रदेश गुणोंके समूह ही होते हैं। जैसे कि पंचाध्यायीमें कहा है कि यह प्रदेश अलगसे कुछ हो और गुण उनमें आया करते हों या उपस्थित हों ऐसी बात नहीं है। वह द्रव्य एक अखण्ड है वह विस्तार कुछ अलगसे नहीं है किन्तु वह द्रव्य ही इतना है, वह गुणसमूह इतना है। तब यह ज्ञानपुञ्ज आत्मा कर्मोंके बंधनमें बंधा हुआ होनेसे जिस शरीरको धारण करता है उस शरीरके प्रमाणमें विस्तृत हो जाता है। और, जब शरीरका आश्रय करके विस्तृत नहीं होता, शरीरका आश्रय छोड़कर विस्तृत होता है तो उस समय यह समस्त लोकाकाशमें फैल जाता है। उस कालमें लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर आत्माका एक-एक प्रदेश स्थित हो जाता है। यह स्थिति सयोग केवलीके केवली समुद्घातमें लोकपूरण अवस्था

में होती है। यह आत्मा कितने प्रदेशवाला है इसकी व्यक्ति लोकपूरण अवस्थामें होती है। उसमें तो व्यक्तिकी बात है, किन्तु प्रदेश आत्मप्रदेश इतने ही सर्वदा माने जायेंगे।

निमित्तनैमित्तिकभावके निष्कर्ष :— यह आत्मा असंख्यातप्रदेशी है। सो प्रदेशवान यह आत्मा जब कषायोंसे परिणत हो जाता है, रंजित हो जाता है तब कार्माणवर्गणायें योग्य पुद्गल धूलियोंसे बँध जाता है। निमित्तनैमित्तिकभाव कहीं कर्ताकर्मभावोंका समर्थन नहीं किया करता वरन् निमित्तनैमित्तिकभाव कर्ताकर्मभावोंका खण्डन किया करते हैं। देखो जलके गर्म होनेमें अग्निका और जलका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मामें राग द्वेष मोह भावोंका निमित्त पाकर ये कर्म बँध जाते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ कि आत्माका कर्मोंके साथ बंधनके लिए कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

कषायरञ्जित आत्मभूमिका बंधका हेतु :—इसके लिए एक दृष्टान्त लें कि जैसे वस्त्र फिटकरी आदि पदार्थों से कषायित कर दिए जायें, लोध्रसे कषायित वस्त्र हो जायें, और फिर किसी रंगसे रंजित किए जायें, मानों मजीठेके रंगसे रंजित किये गये तो वहाँ अभेदविवक्षासे यों कहा जाता है कि वस्त्र रंगसे रंगीले हो गये हैं। वस्त्र तो वस्त्रोंमें वस्त्र जैसे है और वस्त्रके स्वरूपसे बाहर अति निकट रंगका फैलाव है। चाहे भींटपर कलई पुतेका दृष्टान्त लो और चाहे वस्त्रोंपर रंगके रंगेका दृष्टान्त लो, बात दोनों जगह एक-सी है और फिर भी भींटकी अपेक्षा वस्त्रोंमें रंगका जमाना बहुत दृढ़ मालूम होता है, इसलिए यहाँ भींटका दृष्टान्त न देकर वस्त्रका और रंगका दृष्टान्त दिया है।

कषायका रंगीलापन :—भैया, जब यह स्पष्ट करना होता है कि यह ज्ञान निश्चयसे परपदार्थोंको जानता है या नहीं तो वहाँ दृष्टान्त दिया जाता है भींटका और कलईका जब यह पूछा जारहा है कि आत्मा कर्मोंको बाँधता है या कर्मोंसे बँध जाता है कि नहीं ? तो यहाँ दृष्टान्त दिया जाता है वस्त्रका और रंगका ! और सीधा वस्त्र रंगसे रँगा इतना ही नहीं, किन्तु वस्त्रको लोध फिटकरी आदिने पहिले कषायित किया और फिर रंगसे रँगा तो वस्त्र और गाढ़ा रँग जाता है। इस प्रकार रञ्जित वस्त्रका दृष्टान्त दिया। इतना गाढ़ा रंगसे रँगा जानेपर और उस रंगके इस प्रकार फैलनेके आधारभूत वस्त्रके होनेपर भी वस्त्र, वस्त्रमें है और रंग, रंगमें है।

परसम्बन्ध उपचरित असद्भूत व्यवहार :—वस्त्र रंगसे रंगीला है ऐसा कहना उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे है। इस नयका विवरण यों समझिये कि

उपचरित असद्भूत व्यवहारनयमें तीन अंश है। उपचरित, असद्भूत और व्यवहारनय। एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमें लगायी जारही है इस कारण यह व्यवहार है। और, जो बात वहाँ लगाई जारही है वह बात उस पदार्थमें नहीं है इस कारण असद्भूत है और उतने पृथक् उन दोनों वस्तुओं को एकमें एककी स्थापना करके लगाया जारहा है इसलिए उपचरित है।

दृष्टान्तमें उपचरित असद्भूत व्यवहार :—उपचरित असद्भूत व्यवहारनयको दृष्टान्तमें घटाइये। वस्त्र भिन्न चीज है, रंग भिन्न चीज है। इन दोनों भिन्न चीजोंका सम्बन्ध बताया जारहा है, यह व्यवहारनय है। और रंग वस्त्रके स्वरूपमें नहीं है और फिर भी कहा जारहा है यह असद्भूत है और वस्त्रमें रंगकी स्थापना कर दिया है, अभेदका उपचार कर दिया है बैठाल दिया है, यह है उपचरित। इसी प्रकार जीव कर्मोंसे बँध गया है ऐसा कहनेमें भिन्न-भिन्न दो द्रव्योंका सम्बन्ध बताया जारहा है, जीव भिन्न पदार्थ है, कर्म पुद्गल भिन्न पदार्थ हैं। उनका सम्बन्ध कहा जारहा है, यह तो हुआ व्यवहार और कर्मोंकी कोई बात आत्मामें नहीं है फिर भी कार्मिक बंध आत्मामें कहा जारहा है यह हुआ असद्भूत और इस भिन्न चीजका अभेद करके फिर बैठाला जारहा है यह हुआ उपचरित।

एकत्वदृष्टिका प्रताप :—सो यद्यपि उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे जीव कर्मसे बँध जाता है तो भी पृथक् स्वरूपास्तित्वपर दृष्टि दें तो दो का बंध नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही बंधस्वरूप होरहा है। जैसा नया स्नेह होता है, भाई-भाईका पुराना होता है। मानलो विवाह होने पर पुरुष और स्त्री दोनों परस्पर स्नेहसे बँध जाते हैं। स्त्री पिताके घर है यह पुरुष अपने घर है, इतनी दूरी है, फिर भी बंधन कहा जाता है या नहीं? वह बंधन क्या दो से मिलकर है? स्त्रीकी आत्मा, पुरुषकी आत्मा भिड़कर जैसे दो रस्सियोंमें गाँठ लगादी जाय, क्या इस प्रकारका बन्ध है? या शरीरका बंधन है ऐसा कुछ भी नहीं है वे भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें हैं फिर भी बँधे हैं। टससे मस नहीं हो सकते। किसी वैराग्यकी बातमें या विशिष्ट आत्मधर्ममें संलग्न होनेमें बड़ी अड़चन होती है। यह पुरुष किससे बँधा है? यह पुरुष केवल अपने आप ही अपनेसे बँधा है। स्त्रीसे नहीं बँधा है।

घरेलू बन्धन :—यहीं देखलो, आप घर दूकान छोड़कर मंदिरमें बैठे हो, जिनके घरका मकानका स्नेह है वे घर मकानसे बँधे हैं या नहीं? तो क्या मकान और आपका उभयबंध है? केवल आप ही अपनेमें बँधे हुए बैठे हैं। लोकमें कितने महल हैं, बढ़ियासे बढ़िया और अकृत्रिम भी भवन हैं, और

मध्य लोकमें भी अकृत्रिम भवन है जिनमें यह जीव अनेकबार उनका मालिक हो चुका है, पर आज ईंट और सीमेंटकी, शिलावों वाले एक घरमें कैसा चित्त जमा हुआ है कि इस आत्माका और परपदार्थोंका दो टूक नहीं हो पाता है। और, इस भवसे छूट जाने वाली चीजोंपर कितना नखरा है, ममत्व है ? अरे दूसरोंके छूटते जाते हैं यह देखकर भी ममतामें अन्तरनहीं होता है। तो इससे अनुमान किया जाय कि यह मैं आत्मा कितने गहरे निजी रंगके बंधनमें रंगा हुआ हूँ।

मुक्त और संसीरी जीवका बाह्य अन्तर :— यह आत्मा अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है। यहाँ तो ज्ञानादिक परिणमन चलरहा है, उपाधिके सम्बन्धसे ज्ञानकी अस्थिरता, विशिष्टता हो रही है। जिन विशेपताओंको राग, द्वेष, मोह रूपसे कहरहे हैं, उन रागद्वेप मोहकी विशिष्टताओंके कारण यह आत्मा आकाशवत् अमूर्त होकर भी प्रत्येक परद्रव्योंसे अत्यन्त पृथक् होकर भी कैसा बंधनमें बँधा है ? इसमें कितनी आकुलताएँ हैं, यह आनन्दसे दूर है। आनन्दके इसे दर्शन नही है। कितनी कठिन बात है ? हे प्रभो ! आत्मन् ! तुम्हारा स्वरूप और प्रभुका स्वरूप एक ही है इस द्रव्यमें और प्रभुके द्रव्यमें रंच भी अन्तर नहीं है। जो अन्तर आया है वह स्वभावकृत अन्तर नहीं है इसलिए यह बाह्य अन्तर है, ऊपरी अन्तर है। यह अन्तर दूर किया जा सकता है। किन्तु संसारके सर्व संकटों रूप अन्तरको दूर करनेके लिए महान् साहसकी आवश्यकता है। किसी अन्य पदार्थोंमें स्नेह करके उससे बँध जाना यह आत्माका व्यामोह मात्र है।

कीचड़ लपेटकर धोनेकी अपेक्षा कीचड़ न लपेटना अच्छा :— भैया ! तीन पुरुप थे। एक छोटी उमरका, एक जवान उमरका और एक बुढ़ापेकी उमरका। तीनों मिलकर रोज स्वाध्याय करते थे। ज्ञान और वैराग्यकी बातें सुनकर उन तीनोंने परस्परमें विचार किया कि जब हम सबमेंसे कोई विरक्त होजाय और त्याग करके धर्म साधनाके लिए चले तो बाँकी दो भाइयोंसे भी कहे। उनमेंसे सबसे बड़ा बूढ़ा आदमी विरक्त हुआ सो क्या किया उसने कि ५-६ महीनेसे ही हिसाब-किताब करके बच्चोंको सब कुछ समझाकर सर्व धन सौंपकर बहिनोंको, लड़कियोंको, लड़कोंको जिसको देना था देकर विरक्त होकर चला तो रास्तेमें उस जवानकी दूकान पड़ी। वहाँ बूढ़ेने कहा—भाई हम तो विरक्त हो गये, चलो ना ! सो दूकान खोले था वह जवान, ऐसी खुली दूकानमें ही बोल उठा कि चलो। तो बूढ़ा कहता है कि क्या करते हो, यों चलना ठीक नहीं, लड़कोंको बुला लो, समझा दो कि किससे कितना

लेना है और किसको क्या देना है। वह बूढ़ा अपनी ही कृतियोंसे दूसरेका अनुमान कररहा है। जवान बोलता है कि जिस चीजको हमने छोड़ा है, मनसे छोड़ दिया, अब उन चीजोंको हम किससे सम्हलवावें। इस दूकानका उत्तराधिकारी व्यक्ति स्वयं आकर सम्हाल लेगा। रास्तेमें वह बच्चा १८-२० सालका गेंद बल्ला खेल रहा था। दोनों बोले बेटा ! हम दोनों तो विरक्त होकर जारहे है। उसने भी गेंद बल्ला रख दिया और साथ हो लिया। जवान बोलता है कि बेटा ! तेरी सगाई हो चुकी है कल परसों शादी होना है। दो चार साल घर सम्हाल लो। फिर चलना। वह बालक बोलता है कि कीचड़ मे पैर भिड़ाकर कीचड़ पोछा जाय इससे अच्छा यह है कि कीचड़ ही पैरमें न लगाया जाय, चल दिया। क्या ऐसे पुरुष हुए नहीं ? पुराणोंमें पढ़िये।

वैराग्यका साथी ज्ञान :—आज भी इस लोकमें दृष्टि पसार कर देखिये छोटी अवस्थामें भी यदि पदार्थोंके स्वरूपास्तित्वका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो उनके किसी भी प्रकारसे स्नेहके बंधनमें पड़नेकी भावना नहीं जगती है। स्नेहके बंधनका फल क्या होता है ? सो पहिले स्नेहमें पिटने वाले इन पुरुषों को देख लिया जाय। उनके अकुलताओंका समागम जुट जाता है। खैर प्रकरण यहाँ यह चल रहा है कि जीव कर्मोंसे बँधा नहीं है। वहाँ तो निमित्तनैमित्तिकभावपूर्वक एक क्षेत्रावगाहका सम्बन्ध है। वस्तुतः आत्मा स्वयं बँधा हुआ है यथार्थ ज्ञान हो जाय कि लो बंधन मिट गया।

परसे ममता नहीं, किन्तु विकल्पसे :—एक पुरुष एक वर्षका बच्चा छोड़ कर हजार मील दूर व्यापार करने चला गया। व्यापार उसका ऐसा जमा कि १४ वर्ष तक घर आनेको फुरसत न मिली। तब माँ कहती है कि बेटा तुम होशियार हो गये हो। १५ वर्षके हो चुके हो। अमुक नगर चले जावो, पिता जी फलाँ ठिकानेपर मिलेगे। उन्हे लिवा लावो। वह चला और उसी समय बापने भी यह सोचा कि अब १४ वर्ष घर छोड़े हो गये, अब घर चलना चाहिए वह भी चल दिया। वहाँसे बाप घरको चला और यहाँसे बेटा बाप को लेने चला। बाप व बेटा वहाँसे चलकर रास्तेमें एकधर्मशालामें पासके ही कमरोंमें ठहर गये। न बाप बेटेको पहिचाने और न बेटा बापको पहिचाने। बाप तो एक लखपती आदमी था। उसने दस रुपया चपरासीको इनाम दिया। रातमें जब लड़केके पेटमें दर्द होता है तब वह चिल्लाता है। बाप चपरासीसे कहता है कि इस लड़केको अभी निकाल दो, मुझे नीद नही आती है। चपरासी कहता है कि अभी इस बच्चेको कैसे निकाल दें। बेचारा अकेला है, असहाय है, रातके एक बजे है। तो वह कहता है कि हम

तुम्हारी रिश्वतके बारेमें शिकायत कर देंगे । इसी झमेलेमें बच्चेके पेटका दर्द बढ़ गया । यद्यपि पेट दर्द मिटानेकी उस बापके पास बड़ी सुन्दर औषधियाँ थीं फिर भी उसे न दिया । इस रोगमें उस बच्चेका हार्ट फेल हो गया और वह गुजर गया ।

वह बाप अब आगे बढ़ा । घर पहुंचा । स्त्रीसे कहता है कि बेटा कहाँ है ? स्त्री बोली कि बेटा तुम्हीं को लिवाने गया है । अब उसके ममता जगी । खोजते खोजते उसी धर्मशालामें पहुँचा जहाँ कि ठहरा था । चपरासीसे पूछता है कि यहाँ कोई फलाँ नामका लड़का करीब-करीब अमुक-अमुक दिन आया होगा, क्या यहाँ ठहरा था । मुंशीने रजिस्टर देखा कि अमुक नामका लड़का था, बापको लेनेके लिए जारहा था । अब घबड़ा कर पूछता है कि वह गया कहाँ ? थोड़ा अंदाज तो हो ही गया था ना भैया । फिर पूछा कि वह गया कहाँ ? बोला अरे गया कहाँ, पेटमें बहुत बड़ा दर्द हुआ और हार्ट फेल हो गया, यहीं गुजर गया । इतनी बात सुनकर बाप बेहोश हो गया । जब सामने लड़केकी सूरत थी तब तो दया भी न आयी । आज लड़का सामने न होने पर भी ममताके बंधनके कारण बंधन हो गया बेहोश हो गया ।

बन्धन मात्र ममताभाव :—भैया, लोग किसीसे बँधा हुआ है क्या ? सर्वत्र ममताका बंधन है । हम अपने आप ही कल्पनाएँ करके बँध जाते हैं । दुःखी भी होते हैं तो इसी पद्धतिसे दुःखी होते हैं । मुझे दुःखी करनेवाला कोई दूसरा नहीं है । हम स्वयं अपने आपमें ऐसी कल्पनाएँ बनाते है जो दुःखोंका कारण बन जाती हैं । सब दुःखोंमें हमें अपना ही अपराध समझना चाहिए । दूसरेके अपराधसे दूसरा कोई दुःखी नहीं होता । दुःखी हो ही नहीं सकता । वस्तुस्वरूप इजाजत ही नहीं देता कि कोई जीव किसी दूसरे जीवके अपराधसे दुःखी हो जाय बहुत अन्तरमें प्रज्ञाको ले जाकर देखो, इस शरीरमें अटक न रखो, कर्मोंमें अटक न रखो, सर्व पदार्थोंको पार करके अन्तरङ्गमें इस निज अमृततत्त्वको निरखिए ।

बन्धनका कारण स्वकीय अपराध :—भैया, जितने भी क्लेश होते हैं वे सब अपने अपराधसे होते हैं । बधन भी जितना है वह मेरा ही मुझको बंधन वास्तवमें है । निमित्त तो पर पदार्थ अवश्य है । उपाधिभूत पर निमित्त उपस्थित रहे विना कोई अपने आपमें बँध जाय, यह नहीं हुआ करता है, सो रहो, किन्तु प्रत्येक उपाधिमें यह जो बंधन होता है वास्तवमें मेरे परिणामोंसे ही बन्धन होता, किसी अन्यके द्वारा किसी अन्यका बन्धन नहीं होता ।

उभयबंध उपचरित असद्भूत व्यवहार :—यहाँ प्रकरणमें जो कहा जारहा

है। फिर वही कठिन बात आती है जीव कर्मो से बँधा है यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कहा जाता है। परमार्थसे आत्मा कर्मोसे बँधा हुआ नही है। बँधा है तो केवल अपने आपके परिणामबंधनसे बँधा है। असद्भूत व्यवहार-नयका विषय अशुद्ध द्रव्योंका निरूपण लिए हुए है। यहाँ अशुद्ध शब्दसे अशुद्ध पर्यायपरिणत द्रव्यकी बात नहीं कह रहे है, किन्तु दो या अनेक द्रव्यसमूहों की बात कह रहे हैं। व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करता है अर्थात् अनेक द्रव्योंके संयोगका वर्णन करता है। एक ही द्रव्यमें उसके अशुद्ध पर्यायि का निरखना यह व्यवहारनयका काम नहीं है। यह तो निश्चयनयका काम है। यदि उस एकमें उस एकको विभाव पर्यायसे परिणत देखें तो वह अशुद्ध निश्चयनयका काम है। और, उस एकमें उस एकको शुद्धपर्यायपरिणत देखें जैसे सिद्धका स्वरूप देखा तो वह शुद्ध निश्चयनयका काम है।

परमशुद्ध निश्चयनयकी उत्कृष्टता :—इससे भी उत्कृष्ट उपयोग परम शुद्ध निश्चयनयमें होता है जहाँ कि मात्र अपने सत्त्वके कारण स्वरसतः सद्भूत त्रैकालिक अपरिणामी, एकस्वरूप निज स्वभाव दृष्ट होता है। यह परम शुद्ध निश्चयनयका काम है। परम शुद्ध निश्चयनयसे भी चिगे, शुद्ध निश्चय-नयसे भी हटे, अशुद्ध निश्चयनयसे भी हटे, सद्भूत व्यवहारसे भी हटे, अस-द्भूत व्यवहारसे भी हटे, और उपचरित व्यवहारमें लगे तो अपने विश्राम भवनसे भगकर कितना दूर निकल गये। और फिर जो उपचरितोपचरित व्यवहारमें लगे हैं अर्थात् धन मकान मेरा है, इसमें जो लगे है उनको तो किसी नयमें शामिल करनेकी गुंजाइस नहीं है। यह तो उनका पूरा पागलपन है जो कि पर वस्तुवोंमें यह मेरा है ऐसी उनकी प्रतीति है।

कर्म धूलिसे उपश्लिष्टता व्यवहारसे :—यहाँ कर्मधूलियोंसे उपश्लिष्ट यह आत्मा है, यह आत्मपदार्थ है, ऐसा व्यवहारसे देखा जाता है, किन्तु निश्चय से यह देखा जारहा है कि यह आत्मा स्वयं ही रागद्वेष भाव करता हुआ अपने आपकी करतूतोंसे अपने आपके बंधनमें आ गया है। निश्चयनय शुद्ध द्रव्यका विषय करता है। शुद्ध द्रव्यका अर्थ शुद्धपर्यायपरिणत नहीं है, किन्तु केवल एक द्रव्यका विषय करना है। शुद्धका अर्थ केवल है, निर्मल नहीं। केवल चाहे समल हो, केवल चाहे निर्मल हो जहाँ केवल याने शुद्ध हो तो वह निश्चयनयका विषय है। इस निश्चयनयकी दृष्टि से यह एक ही आत्मा वंध स्वरूप है। जीव और कर्मके वंधके सम्बन्धमे व्यवहारनयसे तो यह प्रतीत होता है कि जीवका और कर्मका बन्ध है किन्तु निश्चयनयसे यह प्रतीत होता है कि यह आत्मा एक ही वंध स्वरूप है। इन दोनों अवगमोंका

और नयोंका अविरोध दिखाते हैं।

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ १८९ ॥

अरहंत देवने "जीवोंका यह रागपरिणमन ही बंध है" ऐसा कहा है मुनीश्वरोंको दिखाया है और अन्य प्रकारका निरूपण अर्थात् जीवोंके साथ द्रव्यकर्मका एकक्षेत्रावगाह बंधन है, यह उपचारसे कहा है। पर पदार्थोंके अपने-अपने स्वरूपास्तित्वको निरखकर जो कुछ भी ज्ञात होता है वह तो है निश्चयनयका विषय और उस पदार्थके बाहर अन्य द्रव्योंपर दृष्टि रखकर परस्परमें सम्बन्ध बताना, संयोग बताना यह है व्यवहारनयका विषय।

निश्चयनयके विषयका विवरण :—निश्चयनय शुद्ध द्रव्यका निरूपण करता है अर्थात् केवल स्वकीयस्वरूपास्तित्वमय द्रव्यका वर्णन करता है। इस नय की दृष्टिमें आत्माका कर्म रागपरिणाम ही है वास्तवमें आत्माका कर्म राग परिणाम ही है और वह राग परिणामात्मक कर्म पुण्य पापके भेदसे दो प्रकारके हैं। तथा आत्मा रागादिक परिणामोंका ही कर्ता है, रागादिक परिणामोंका ही ग्रहण करने वाला है और रागादिक परिणामोंका ही त्यागने वाला है, यह सब निरूपण शुद्ध द्रव्यका निरूपण है। शुद्ध द्रव्य माने अकेला, उस एक द्रव्यका यह निरूपण है।

व्यवहारनयके विषयका विवरण :—व्यवहारनय अशुद्धनयका निरूपण करता है। अनेक द्रव्योंके सम्बन्धका वर्णन करता है। इस नयकी दृष्टिमें जो पुद्गल परिणामात्मक कर्म है वह आत्माका कर्म है और वे पुण्य पापोंके भेदसे दो प्रकारके हैं। आत्मा पुद्गल कर्मोंका कर्ता है, पुद्गल कर्मोंका क्षय करने वाला, त्याग करने वाला है। यह सब वर्णन अशुद्ध द्रव्यका निरूपणात्मक वर्णन है, व्यवहारनयका विषय है। यद्यपि यह निमित्त नैमित्तिक भाव बराबर व्यवस्थित है, ऐसा किसी अशुद्ध उपादानमें किसी भी प्रकारका विभाव होता है तो वह नियमतः अन्य उपाधियोंको निमित्त मात्र पाकर होता है। तथापि निमित्तनैमित्तिकसम्बंध मात्रके कारण पदार्थ परतंत्र नहीं होते। हम इच्छा करते हैं और कुछ, और निमित्तनैमित्तिक योग पूर्वक होता है और कुछ; तो हम अपनेको परतंत्र समझते हैं। यदि हम अपनी किसी भी परिणतिकी वाञ्छा न करें तो कैसी भी अवस्था हो, विभाव हो, नैमित्तिक भाव हो, कुछ हो, कहीं आकुलताएँ और बेचैनी नहीं हो सकती।

स्वरूपकी सदा स्वतन्त्रता :—हम जब अपनेको परतन्त्र भी समझते हैं,

व कैसी ही बिभावोंकी स्थिति हो वहाँ भी हम स्वतत्र हैं, अपने स्वरूपास्तित्व रूप हैं। अपने अशुद्ध उपादानके कारण पर उपाधिको निमित्त मात्र पाकर विभावरूप परिणाम जाते हैं। हमारे इन परिणामोंमें हमारी ही तन्त्रता है; किसी अन्य पदार्थसे मुझमें कुछ आता नही है। प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्व से है। अपने ही प्रदेशमें परिणमते रहते है। तब फिर किसी पदार्थ को अन्यत्र कुछ करने को अवकाश कहाँ। कर ही कैसे सकते है। पर पदार्थ स्वयं अपना अस्तित्व लिए अपनी परिणतिसे परिणमते हैं! कोई जीव बहुत दुःखी हो रहा हो तो वह अपना दुःख परिणमन अपने ही अपराधसे अपने ही परिणमन में करता है, किसी दूसरेके कारण नहीं करता।

कल्पना मात्रका संकट :—जैसी इच्छाएं यह बनाता है वैसा परिणमन अपनेमें हो ही जाय सो भी नहीं है, दूसरेका परिणमन तो होगा ही क्या? जब इच्छाके अनुकूल परिणमन नहीं देखा जाता है तो यह अपनेमें बड़ा संकट मालूम करता है। एक बच्चा माँकी गोदमें बैठा हो, कितना आनन्दमें है मगर एक इच्छा हो जाय कि घर चलना है और माँ नहीं चलती है तो वह अपने पर कितना बड़ा संकट अनुभव करता है, मचलता है, हाथ, पैर पीटता है, रोता है। सब चेष्टाएं देखी तो होंगी ना? बतलावो उस बच्चेपर क्या संकट आ गया? जो कुछ खाना है, खा ले, पीना है पी ले, माँकी गोदमें चिपट ले। उसे दुख क्या है? अगर किसी बच्चेकी इच्छा हो गयी कि इधर चलना है, सो अब बड़ा संकट अनुभव करता है। ऐसे बच्चेके ही मानिन्द ये हम सब संसारी जीव भी अपनेपर संकट अनुभव करते हैं। क्या संकट है? तुम तो हो ही! व्यवहारिक दृष्टिसे भी भोजन और वस्त्रोंकी ही तो आवश्यकता खास है ना? इतनेका तो सबके पास साधन है। बड़े आरामसे हैं पर इच्छा कुछ हो गई ना कि मैं लखपती नहीं कहला पाया, इतना और होना चाहिए था। व्यर्थ की यह इच्छा हो गयी ना? तो अपने पर यह संकट अनुभव करता है। ये इच्छाएं व्यर्थकी यों कही जाती हैं कि आखिर सब छोड़ ही तो जाना है और जितने काल यहाँ बिभावोंका संयोग है उतने काल तो उनसे न्यारा है। उनसे कुछ आता नहीं है। व्यर्थ की इच्छा होती है और इच्छाकी पूर्ति उसकी नही हो पाती है तो यह जीव अपने पर बड़ा संकट अनुभव करता है।

विशिष्ट परिणाम ही संकट :—निश्चयसे यह देखो तो इस जीवपर संकट अपने परिणामोंसे होते हैं। किसी अन्यके परिणामोंसे नहीं होते हैं। यद्यपि अनिवार्य निमित्तनैमित्तिक भाव भी है, ऐसा ही तीव्र कर्मोंका उदय है और

यह ऐसा ही संक्लेश परिणाम चल रहा है वहाँ पर भी द्रव्यकर्म अपने आप में अपना परिणमन करके समाप्त हो जाते हैं यह आत्मा उसको निमित्त मात्र पाकर अपने आपके परिणमनको, अपने उन विभावोंको करके अपने आपमें समाप्त हो जाता है। कोई दो आदमी दूरपर बैठे हों, और परस्परमें बातें कर रहे हों, यह तीसरा दूर खड़ा हुआ उनके प्रति कुछ बुरी दृष्टि करने लगता है। ये लोग हमारी बुराई कर रहे होंगे। यहाँ यह बड़ा संकट अनुभव करने लगता है। चाहे वे दोनों इसके किसी हितके बारेमें विचार करते हों, अथवा अन्य किसीके सम्बन्धमें बात करते हों, पर यह ख्याल बनाया कि संकट अनुभव करने लगा। निश्चयसे संकट अपने आपका राग द्वेष मोहके संपर्कसे उत्पन्न होने वाला अज्ञानमय आत्मपरिणाम है।

व्यवहारके विषयकी वर्तमानता :—भैया! अब व्यवहारसे देखो तो ठीक ही तो दीख रहा है कि निमित्तनैमित्तिकभाव व्यवस्थित है। बिना निमित्त की सन्निधिके यह संसारवृक्ष नहीं बनता है। इन दोनों नयोंका यहां निरूपण विरोध नहीं रखता। निश्चयकी बात निश्चयकी पद्धतिसे देखें और व्यवहार की बात व्यवहारकी पद्धतिसे देखें। ये दोनोंकी दोनों बातें है। क्या जीवके साथ ये पुद्गल कर्म पीछे नहीं लगे यह जीव बन्धनको प्राप्त नहीं है क्या? क्या उदय नहीं चलता? क्या निमित्तभाव नहीं है? ये भी बातें सही हैं। और स्वरूपास्तित्वके उपवनमें विहार करेंगे तो क्या ये बातें यथार्थ नहीं हैं कि स्वयंका धर्म ही स्वयं में है, कर्म पुद्गल अपने स्वरूपमें हैं, कर्मोंसे बाहर कर्मोंका कुछ काम नहीं है। आत्मासे बाहर आत्माका कुछ काम नहीं, सब अपने प्रदेशोंमें अपने-अपने परिणाम करते हैं। निश्चयदृष्टि में निश्चयकी व व्यवहारदृष्टिमें व्यवहारकी बातें सही हैं।

स्वरूपास्तित्व व संयोग दोनोंकी प्रतीति :—शुद्ध रूपसे और अशुद्ध रूपसे दोनों ही प्रकारसे द्रव्य प्रतीयमान होते हैं। अतः विषय दोनोंके ही ठीक है ये दो अंगुली हैं, एक बीचकी अंगुली और एक अनामिका अंगुली। प्रत्येक अंगुली अपने-अपने स्वरूपमें है। केवल एक को देखो, यह है, अपने स्वरूपमें, अपनेमें परिणमती है, पर क्या पासकी दूसरी अंगुली नहीं है? और यह छोटी है, यह बड़ी है, यह भी तो दिखता है, अथवा एक अंगुली दूसरी अंगुली को भींच ले तो यहाँ कुछ अड़चन सी आयी ना? यह भी ठीक है। दोनों प्रकार से द्रव्य प्रतीयमान है। सब केवल अपने स्वरूपास्तित्वसे प्रतीयमान होते हैं और इनके पास कितना संयोग है और निकट क्या-क्या है? कैसा-कैसा [illegible] निमित्तनैमित्तिक भाव है, यह भी प्रतीयमान होता है।

निश्चयनयकी साध्यसाधकता :—भैया यद्यपि दोनों नय हैं तथापि निश्चयनय साधकतम होनेसे ग्रहण किया गया है, क्योंकि हमें बनना है शुद्ध, हमें बनना है केवल, एक मात्र, स्वरसतः अपने स्वरूपास्तित्वरूप। बनना तो है अपनेमें केवल और चेष्टाएं लगाये रहें संयोग की, तो विरुद्ध क्रियाके द्वारा कार्य कैसे सिद्ध हो सकता है। साध्य जब शुद्धता है तो ऐसा ही नय हमें उपास्य होना चाहिए जो नय शुद्धताको प्रकट करता हो। पूछा जाय कि भैया, तुम क्या चाहते हो? तो उत्तर कई मिलेंगे। हम मोक्ष चाहते हैं, हम ८ कर्मों से रहित होना चाहते हैं, हम शरीरसे रहित होना चाहते हैं, हम अरहंत बनना चाहते हैं, हम सिद्ध बनना चाहते हैं। उत्तर बहुत होंगे। उन उत्तरोंमें उत्कृष्ट उत्तर यह है कि हम केवल निजस्वभावमात्र रहना चाहते हैं। पहिलेके सब उत्तरों में यह बात आ गयी है और इस उत्कृष्ट उत्तर में पहिलेके सब उत्तर आगये हैं फिर भी उन अनेक उत्तरोंमें आत्मद्रव्यके केवलत्वपर दृष्टि प्रधान नहीं रखी गई। वे सब उत्तर व्यवहारनयके उत्तर हैं। उन उत्तरोंके होनेपर भी स्पष्ट शुद्ध आशय प्रकट नहीं होता।

व्यवहारके गर्भमें आशयकी शुद्धता आवश्यक :—मोक्ष और पदवियोंके उत्तर तो व्यवहारीजन भी दिया करते हैं और स्तवनोंमें भी पढ़ा करते हैं, कि मुझे मोक्ष जाना है, मैं सिद्ध बनना चाहता हूँ, मैं अरहंत होऊँगा। ये उत्तर और ऐसे विचार व्यवहारीजन भी करते हैं पर मात्र व्यवहारी, लौकिक पुरुषोंको इन उत्तरोंमें आत्माका शुद्ध एकत्व नहीं नजर आता और ज्ञानी भी ऐसी ही बातें बोला करते हैं, मुझे सिद्ध होना है, अरहंत होना है किन्तु उनकी व्यवहार भाषाके साथ एकत्वका आशय छूट नहीं पाता भैया, अपनेको केवल रहने का काम पड़ा है। केवल रहने रूप अपने साध्यकी सिद्धिके लिए दृष्टि भी केवल दृष्टि ही होना चाहिए। इस केवलदृष्टिको कहते हैं निश्चयनय। निश्चय नय साधकतम होनेसे उपात्त है, क्योंकि द्रव्योंकी शुद्धताका द्योतक है निश्चयनय। हमारी शुद्धदृष्टि शुद्धस्वरूप साध्यका साधकतम है। जहां कहीं व्यवहार नयका भी चिंतन ज्ञानी पुरुषोंके चलता है, ये रागादिक भाव कर्मों के उदयके निमित्तसे होते हैं, ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, ऐसे व्यवहारनय द्वारा चिन्तन चलता है तो वहां गर्भमें, भीतरमें, प्रयोजनमें, निर्लेप परमशुद्ध स्वभावकी ओर झुकाव है और उस परमशुद्ध स्वभावको निरखनेके लिए ही व्यवहारनयका चिन्तन है। वहां फलित तो निश्चयनय हुआ।

व्यवहारनयके शुद्धत्वको साधकतमताका अभाव—निश्चयनय हमारी शुद्धता रूप साध्यका साधकतम होनेसे उपादेय है, किन्तु व्यवहारनय ऐसा नहीं

है, क्योंकि व्यवहारनय अशुद्धत्वका द्योतन करनेवाला है। मुझे शरीरसे अलग होना है; इस भावनामें दो पदार्थोंपर होनेवाली दृष्टि द्वारा अलग नहीं हुआ जा सकता है। शरीरसे, अन्य द्रव्योंसे किसी भी रूपमें संयोग लगाने की बात शुद्धताके अनुभवसे अलग कर देती है। किसीको कह दिया जाय कि देखो इस मकानके पीछे जो बड़का पेड़ है सो लोग कहा करते हैं कि यहां भूत है, पर भूत नहीं है, डरना नहीं। अरे भाई अगर उसपर दया थी तो यह चर्चा ही न करना चाहिए थी। इस चर्चाको करके तो उसके विचारों में भूतके मना करनेके द्वारसे भूत डाल दिया है। किसी भी प्रकारसे परद्रव्यो के सम्बन्धकी दृष्टि परसे अलग कर देनेका कारण नहीं बनती।

त्यागका प्रयोजन निजका ग्रहण :—जैसे त्यागके मामलेमें भी मेरा अमुक चीजका त्याग है, मैंने इसको छोड़ दिया, इसको मैं ले नहीं सकता, क्योंकि मैं छोड़ चुका हूँ। तो जिसको अपने एकत्वका पता नहीं है उसके लिये यह एक फसाव ही बना रहता है। बाह्य त्यागका प्रयोजन अन्तरमें ज्ञायकस्वरूप के अनुभवका अवसर पाना था, वह अवसर उसे नहीं प्राप्त होता और उसकी निवृत्तिमें प्रवृत्ति बनी रहती। तथा उसका सर्वस्व, उसकी चर्चा, उसका धन वह त्याग बना रहता है जैसेकि कोई किसी भिखारीको फटी चिथड़ी कथरी मिल जाय तो वह उसे चिपटाए रहता है, उसी प्रकार जिसे एकत्वका पता नहीं है, किन्तु जिसने किसी प्रकारसे यह जान लिया है कि त्याग करनेसे मोक्ष होता है तो उसके प्रयोगको अपके उपयोगसे चिपटाए रहता हैं। वह अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूपके अनुभवका अवसर नहीं पाता।

उद्देश्यविहीनताका परिणाम :—भैया! जो त्यागवृत्ति शुद्धत्वके साधकक सहायक थी वही वर्तमानमें बाधक हो रही है। इसका कारण यह है कि उसने शुद्धत्वका प्रयोजन नही रखना चाहा। मुझे कौनसी मंजिल जाना है? किस दिशामें बढ़ना है? कहाँ रहना है? यह जिसका उद्देश्य निर्णीत नही है वह इस प्रकार इस विकल्पसागरमें डोलता रहता है। जैसे उद्देश्यविहीन नाव में बैठा हुआ कोई नाविक नाव को खेता है, खेने भरका प्रजोजन है। किस स्थानपर पहुँचना है यह प्रयोजन जिसका नहीं है, उसने थोड़ा पूर्वको ओर नाव चलाया तो कुछ पश्चिमकी ओर चलाया, कुछ अन्यत्र चलाया, कुछ अन्यत्र चलाया, उसका कोई ठिकाना नहीं बैठ पाता है। इसी प्रकार अपने एकत्वका परिचय न होनेके कारण अपने शुद्धत्वका प्रयोजन न होने पर यह जीव बाह्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति और निवृत्तिके झकझोरोंमें यत्र तत्र डोलता रहता है। उसका ठिकाना नहीं हो पाता।

ज्ञानियोंकी स्वाधीनता :—धन्य हैं वे संतजन जिन्हें यह तो पता हो गया कि मेरा स्वरूप यह है और मेरा काम यह है। जिसे इसका यथार्थ अनुभव हो गया है वे संतजन धन्य हैं। उनपर कोई संकट आये तो तुरंत अपनेमें अपनी औषधि पी लेते है। बड़े संकट आए। क्या आए? इसमें लाखका टोटा पड़ गया, वहां दो आदमी मेरेसे विरुद्ध हो गए। भैया? कुछ भी तो संकट नहीं, अपने स्वरूपको तो देखो। यह ज्ञानमात्र है, शुद्ध जाननस्वरूप है, सामान्य जानन इसका काम है। इसमें तो और बात है ही नहीं। ऐसा दृढ़तम निश्चय हो और अपने आपमें उपयोग हो तो सारे संकट समाप्त हो जाते है। ज्ञानियोंके साहसको लौकिक जन देखते रह जाते हैं। इतना इष्ट का वियोग हुआ और फिरभी इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

शुद्धता अर्थात् एकत्व :—भैया, निश्चयका प्रयोग व उपयोग अपने आत्म कल्याणमें साधकतम है इसलिए निश्चयनयका ग्रहण कराया जाता है क्योंकि उसका साध्य तो शुद्ध रहनेका है। रागद्वेपरहित रहनेका है, यह यहां नहीं कह रहे है किन्तु मैं अपने स्वरूपसे सहज जाननमात्र हूँ उस जाननरूप रहनेका मेरा स्वभाव है। उस सहज स्वरूपरूप रहनेमें ये इसकी लीलाएँ हैं कि समस्त विश्वका ज्ञाता होता है। वह रागद्वेप आदिक समस्त उपाधियोंसे भी निवृत्त रहता है। यह उसकी तारीफ है। वह सव अपने आप हो जायगा, पर चाहेंगे तो नहीं होगा। केवल अपनेको शुद्ध निरखेंगे तो हो जायगा। लोकमें कहावत कहते है ना कि एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।अपने एकत्वके साधनेमें सर्व अर्थकी सिद्धि है।

एककी साधना :—भैया! एक छोटासा कथानक है कि एक पुरुषको कोई देवता सिद्ध होगया। देवता बोला कि कहो क्या चाहते हो? वरदान देनेके लिए कहा। पुरुष कहता है, ठहरो मैं घरसे पूछ आऊँ, और निर्णय कर लूँ तव बताऊँगा कि क्या चाहता हूँ। घर गया। मां से कहा कि मां देवता ने कहा है कि जो मांगना हो माँग लो, सो क्या माँगें? मां अंधी थी,बोली मेरी आँखें माँगलो। पिताके पास गया, बोला पिताजी क्या माँगलें? पिताजी बोले कि बेटा धन माँगलो। स्त्रीसे पूछा कि क्या मांगें? स्त्रीने कहा एक बेटा माँगलो अब वह सोचता है कि तीनोंने तीन बातें कहीं, क्या माँगू? फिर समझ में आगया। दूसरे दिन जब देवता बोला कि क्या चाहते हो। तो वह कहता है कि मेरी माँ सोनेके घड़ेमें अपने बेटेको दूध पीता हुआ देख ले। सिर्फ यही चाहता हूँ। एक ही फल माँगा? तीन तो नहीं माँगे। यह तो व्याहारिक बात है। यहाँ यह तात्त्विक बात है कि अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि यदि बन जाय, निर्मल

पर्यायकी नहीं, केवल एक निजी अस्तित्वमें स्वयं सहजसिद्ध सबसे भिन्न और अपने स्वरूपमें तन्मय ऐसे एकत्वविभक्तके निजी तत्त्वकी दृष्टि हो केवल एककी साधना हो तो आत्माके सब विकास स्वयं होने लगते हैं। कर्मोंका सम्वर होता है, कर्मोंका निर्जरण होता है, और क्या होता है? जो होना होता है। सब होता है इस कारण निश्चयनय शुद्धत्वरूप साध्यका साधकतम होनेसे उपात्त कहा गया है।

निश्चयनयकी साधकतमता :—निश्चयनयका नाम है शुद्धनय और व्यवहारनयका नाम है अशुद्धनय जो शुद्ध द्रव्यको अर्थात् केवल एक पदार्थको जाने उसे शुद्धनय कहते हैं। और जो अनेक पदार्थोंके सम्बन्धको जाने उसे व्यवहारनय कहते हैं। इन दोनों नयोंमें से ऊपरकी गाथामें शुद्धनयको उपादेय कहा है क्योंकि वह साध्यमें साधकतम है। साध्य है, शुद्ध होना, केवल रह जाना, द्रव्यकर्मसे भावकर्मसे कर्मोंके सम्बन्धसे पृथक् रह जाना। सबसे अलग होनेका हम उद्देश्य बनाएँ, तो सबसे अलग निजस्वरूप मात्र हूँ ऐसी दृष्टि बनाएँ तभी सफलता मिलेगी। इस कारण शुद्धनय साध्यका साधकतम है और वह उपादेय है अर्थात् शुद्धनयके आलम्बनसे निश्चयनयके आशयसे शुद्धत्वरूप साध्यकी प्रसिद्धि होती है।

अशुद्धनयका परिणाम :—अब इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका लाभ ही होता है अर्थात् व्यवहारकी दृष्टिमें रहनेसे व्यावहारिकता ही मिलती रहती है इस प्रकारका यहाँ आवेदन करते है। यहाँ कहनेके अर्थमें आवेदन शब्द दिया है, सबको आवेदन करते हैं अथवा घरेलू भाषामें यह कहलो कि यह मार्ग खोटा है इसलिए हम थराई करते है कि इस मार्गपर न जावो, आगाह करते हैं कि खोटे मार्गपर न जावो। दयासे भीगे हुए हृदयसे आचार्य महाराज कह रहे हैं कि अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका लाभ ही होता है भली बात कुछ नहीं मिलती, सो भैया इतना यह आवेदन है। घरमें जब अपना लड़का कहनेमें नहीं रहता तो कभी कभी दयामें आकर और खेदमें आकर यह भी कह देते है कि भाई तुम्हारे हाथ जोड़ते है कि ऐसा न करो इतनी बात तो आचार्य नहीं कहरहे हैं, पर ऐसे हो निषेध करनेके आशयको लेकर मुमुक्षुओंसे कहरहे हैं कि अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका लाभ ही होता है :—

ण जहदि जो दु ममत्तं अहं ममेदंति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होइ उम्मग्गं ॥१९०॥

गाथाका अर्थ है कि जो जीव देह धन आदिकमें यह मैं हूँ, यह मेरा है,

इस प्रकारकी ममताको नहीं छोड़ता है वह श्रमणपनेको त्याग कर उन्मार्ग को प्राप्त हो जाता है।

निश्चयनिरपेक्ष व्यवहारमुग्धकी वृत्तिः—योहि नाम इस संस्कृत शब्दका अर्थ, आशय और मुद्रा हिन्दीमें बताना कठिन है। यों कह लीजिए कि जैसे कभी कह बैठते हैं कि जो कोई भी भाई या जैसे कि कुछ परिचय हो, कुछ अपरिचय हो उस व्यक्तिके बारेमें जिस ढंगसे बोलते है "कि कोई नाम रखलो जो कोई" इसके बारेमें आशय हिन्दी शब्दोंमें नहीं आता। जो भी प्राणी शुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले निश्चयनयसे निरपेक्ष होते हुए और अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले व्यवहारनयसे जिनको मोह उत्पन्न हुआ है ऐसा होते हुए देह द्रविणादिक परद्रव्योंमें यह मैं हूं, यह मेरा है इस प्रकारकी आत्मीयता लगाकर अथवा इस आत्मीयताके कारण परद्रव्योंके ममत्वको नहीं त्यागता है वह परमार्थ श्रामण्यको छोड़कर उन्मार्गको प्राप्त होता है।

निश्चयैकान्ती व्यहारमोही—ममत्वको न त्याग सकनेके मूलमें दो कारण हैं। हैं तो वह एकही बात, पर दो प्रकारसे बताया जाता है। एक तो निश्चयनय की अपेक्षा छोड़ ही दी और दूसरे व्यवहारनयको जकड़के रह गये। ये दो भूलें इतनी विकट भूलें हैं कि भैया, वहाँ ममताका त्याग ही नहीं हो सकता है। निश्चयनय शुद्धद्रव्यका निरूपण करता है। जो मनुष्य अपने आपके निश्चयकी कथनी और समझ पर गौरव अनुभव करता है और यह मैं ठीक जानता हूँ मेरी बात सही है इस बातकी जिन्हें पकड़ है तथा शुद्ध द्रव्यका दर्शन और अनुभव नहीं किया है उनकी ऐसी कथनी और पकड़ भी व्यवहारकी जकड़ है और इस कारण वहाँ भी निश्चयकी बात कहते हुए उस पक्षको लेते हुए जो चर्चाओंमें विवाद हो जाता है और उन विवादोंमें क्षोभ हो जाता है और क्षोभ होनेपर दूसरे जीवोंके प्रति उसके शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि ओझल होजाती है और यह निन्द्य है इत्यादि रूपसे घृणाकी बात आ जाती है वह सब व्यवहार नयकी जकड़का कुफल है। जिस जिद्दी पुरुषमें मोह भरा हुआ है वह ममताको त्याग नहीं सकता।

व्यवहारैकान्ती व्यवहारमोही—तथा जिनको निश्चयकी बातसे ही चिढ़ है, व्यवहारकी बातके पोषणमें हो जिनका उपयोग व्यस्त रहता है निश्चयनयकी बात ज्ञानमें भी आकर चूंकि हमें व्यवहार ही सिद्ध करना है ऐसी पकड़ और पक्षकी प्रवृत्ति हो चुकी है इस कारण प्रत्येक संदर्भमें व्यवहारनयका ही समर्थन करते हैं कि देखो ना, यहां व्यवहारनयको ठीक कहा है। यह भी व्यवहारकी जकड़ है। इस व्यवहारनयकी रुचिमें भी मोहका त्याग

नहीं किया जा सकता है। यह तो बात है पढ़े लिखे पुरुषोंके बीच की।

मायाव्यामोही :— अब इस जीवलोकपर दृष्टि दो। प्रायः समस्त जीवलोक निश्चयनयकी बातको रंच भी जानता नहीं है जो कुछ यह मायामय दृश्य दृष्ट होरहा है यही उनके लिए सत्य दुनिया है। शुद्ध द्रव्य, केवल पदार्थ निज निज स्वरूपास्तित्वलिए हुए हैं, इसकी चर्चा भी सुननेमें नहीं आयी, परिचय और अनुभव तो दूरकी ही बात है, ऐसा यह जीवलोक शरीरको धनको, मकानको, कुटुम्बको परिवारको ही यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकारसे निरखा करते हैं। वे सभी मायाव्यामोही जीव शुद्ध आत्म परिणति को छोड़कर उन्मार्गको प्राप्त होते हैं।

स्वप्रयोजकता :—लोग सब स्वार्थी हैं और स्वार्थी होना ही चाहिए। कोई जीव किसी अन्य जीवका अर्थ सिद्ध नहीं कर सकता, परिणमन नहीं कर सकता। सो स्वार्थित्व तो पदार्थका स्वरूप है। अब आगे व्यवहारमें बढ़कर देखिए कि जीव इतना स्वार्थी है किसी भी प्रसंगमें वह चाहता है कि हमें और क्या करना है, हमारा तो स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए। यह मोह की बात कही जारही है। इसीको अब विवेककी बातमें ले जायें। कुटुम्ब परिवार, धन, मकानका हमें क्या करना है, हमें तो अपने हितकी बात कर लेना चाहिए, परमार्थसे हम सबको ऐसा स्वार्थी बनना चाहिए। बातोंसे, चर्चाओंसे, विवादसे हमें क्या करना है, हमें तो मात्र अपना आनन्द साध लेना चाहिए। हित कर लेना चाहिए। कुछ जाता है तो जाओ ज्ञानी संतोंने तो यह भी भावना की है कि ये पर द्रव्य यह शरीर ये धन आदिक छिदते हैं तो छिदें, भिदते हैं तो भिदें, कोई कहीं ले जाय, प्रलयको प्राप्त हो, तो भी कोई परिग्रह मेरा नहीं है।

पर्यायके पोजीशनकी गन्दगी—मेरा विकल्प, मेरी बात, मेरी शान, पोजीशन, इज्जत ये भी सब क्या है? और इनकी दृष्टि क्या है? यह है बहुत नीचे की जमी हुई गन्दगी। जैसे किसी पिंडको खूब साफ बना लिया, सुथरा कर लिया, सब ठीक कर लिया और नीचेको गंदगी बनी रहे। ऐसी ही हालत है अज्ञानीकी वृत्तिकी कि धर्म किया करनेके लिए बहुतसे काम किये जारहे हैं, पूजा, ध्यान, स्वाध्याय, व्रत, त्याग और तप आदि, पर मेरी बात, पोजीशन, मेरी इज्जतकी पकड़ इससे दो टूक नहीं हो सकती है। इसमें जकड़ है तो यह असली नीचेके पर्तकी गन्दगी है जिसके कारण धर्मका कार्य किया जाकर भी धर्मके फलका स्वाद नहीं लिया जा सकता।

आत्महितके दृढसंकल्पका प्रभाव—संसारके कामोंके लिए तो इतनी तीव्र हठ

हुआ करती है कि किसीपर नाराजी होजाय तो बड़ा दृढ़ संकल्प बना लिया जाता है कि इसके तो खपरे-खपरे बिकवा देंगे तब हम अमुक हैं। हम इसको ऐसा कर देंगे कि यह दाने-दानेको मुहताज हो जायगा तब हम अमुक हैं और इस विभक्त एकत्वस्वरूप आत्माके धर्मका पालन करनेके लिए किसी क्षण ऐसा दृढ़ कदम नहीं उठाया जा सकता कि मैंने सबको छोड़ा और ये इज्जत पोजीसन ये भी धूलमें मिल जायें, मैं केवल शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र अपने आप के आश्रयमें रहूँगा, अन्य करना कुछ नहीं है, श्रम सब छोड़ना है सो श्रम छोड़ कर सत्यारामसें रहूँगा। उस आनन्दारामके लिए ये इज्जत, पोजीसन सब ये बातें बिलकुल मिटानी पड़ेगी सो इन्हें मिटा ही देंगे। ऐसा दृढ़तम संकल्प नहीं किया जा सकता कुछ क्षणके लिए भी।

मनुष्यमें मानकी मुख्यता—भैया! मनुष्यगतिमें मान कषायकी प्रबलता होती है, देवगतिमें लोभ कषायकी प्रबलता रहती है, नरकगतिमें क्रोध कषाय की प्रबलता होती है तिर्यञ्च गतिमें मान कषायकी प्रबलता होती है। यद्यपि सभी गतियोंमें चारों कषाय होती हैं, मगर मुख्यताकी अपेक्षा यह बात कही जारही है। यह मानव मान रखनेके लिए क्या क्या नहीं कर डालता? यह धन कमाता है तो धनके लिए धन नहीं कमाता, मान कषायकी पुष्टिके लिए धन कमाता है। यह परिवारको चाहता है पुत्रादिकको चाहता है, पुत्र नहीं हो तो दूसरोंका लड़का गोद लेकर पिता बनना चाहता है तो उन बच्चों आदिके लिए, नहीं, किन्तु मानकषायकी पुष्टिके लिये। मानकषायकी पुष्टिके लिये यह घर तक भी त्याग देता है। योग और संन्यास धारण कर लिया जाता है। तो विरले ही ज्ञानियोंकी बात तो छोड़ दो पर उनके अतिरिक्त बाकी जीवोंका यह कार्य भी मानकषायकी पुष्टिके लिए है। कभी धर्मचर्चा भी होती है तो उन चर्चाओंमें अपनी मान्यताकी बातें समझायी जाती हैं, उसके विरुद्ध कुछ बात आ जानेपर बात बढ़ती है क्षोभ होता है, उसको समझानेका बड़ा भारी श्रम किया जाता है। यह दूसरोंको समझानेके लिए श्रम नहीं है किन्तु स्वयंकी मान कषायकी पुष्टिके लिए है। तो यावत् चेष्टायें प्रायः मनुष्योंमें होती हैं वे सब मान कषायकी पुष्टिके लिए होती हैं।

गहने लादना भी मानकषायकी पुष्टिके लिये:—अभी यही बता दो कि ये जो नाना गहने बनवाये जाते हैं, कानके ततैया, मूड़के मेढ़क, नाककी मक्खी, और-और भी जो सोना चाँदीके गहने बनवाये जाते हैं और महिलायें बहुतसी अपनी रुचिसे पहिनती हैं तो क्या वे गहनेके लिए पहिनती हैं। नहीं? मान कषायकी पुष्टिके लिए। गहने पहिनकर भी यदि उतना मान नहीं मिलता

तो गरीवोंपर क्रोध किए रहनेका आधा वोतलका नशा वना रहता है। इतना तो खर्च किया और इतना सजधजकर आई और ये वैठी हुई स्त्रियाँ एक भी हमको देखकर यह नहीं कहती कि गहने बड़े अच्छे बने। सो गुस्सा होजाती है यह क्या है ? सब मान कषायकी पुष्टिके उगाल हैं।

कृतियोंमें मानका ताण्डव :—एक कामकी वात कहें! जितने भी काम हो रहे हैं बड़े ऊँचे पदोंकी वात, मिनिष्ट्रीकी वात इन सब बातोंमें मान कषायका बीज काम दे रहा है। यह मान किसपर किया जारहा है ? क्या यह शुद्ध ज्ञान स्वरूपका मान किया जारहा है ? अरे, इसे तो भूल ही गया तब तो मान कषाय डटकर जम रहे हैं। जो पर्याय मिली है जो परिणति प्राप्त है उस पर्याय का मान होरहा है उसे मान है कि यह मैं हूँ उसने माना पर्यायको कि यह मैं और बाहरमें चलकर माना कि यह शरीर मैं हूँ तो धनमें मकानमें यह कल्पना हो जाती है कि यह मेरा है,कल्पना करो कि अचानक मृत्यु हो गयी तो मृत्युके बाद वे सब क्या रहे। सब यहींका यहीं पड़ा रहा और दूसरे जीव उस पर ममता और अधिकार निभाने लगे।

अज्ञान ही विकट संकट :—सबमें बड़ा संकट इस जीवपर है तो अज्ञान का है, मोहका विकट संकट है। नहीं तो जीवका स्वरूप ही ज्ञान और आनन्द है इसे चिन्ता क्या है? करना क्या है। इस ज्ञान और आनन्दको भी दूसरी जगहसे ढूढ़ना नहीं पड़ता। पर पर्यायबुद्धि होने के कारण ये सारे संकट छा गये। कुयोनियोंमें भ्रमण करते करते अनन्त काल व्यतीत हो गए। इस भव में भी यदि ज्ञान हो जाता है कि मैं आत्मा शुद्ध केवल एक ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, इसका किसी अन्य पदार्थोंसे रंच भी सम्बन्ध नहीं है। दूसरेके अधिकार में रहने वाली वस्तुओंसे मेरा जितना अत्यन्ताभाव है उतना ही अत्यन्ताभाव मेरी इन घरकी मानी हुई बस्तुओंमें है। ज्ञानस्वरूप मात्र इस आत्माका इस आत्मासे बाहर कुछ भी नहीं है। अन्यमें, परमाणु मात्र में भी आत्मीयताकी श्रद्धा हो, तो वह मिथ्यात्व है। इस प्रकारकी प्रतीति परमाणुमात्रमें परमाणुमात्र भी है तो वह जीवके स्वरूपको नहीं जानता। जो जीवके स्वरूपको नहीं जानता वह अजीवके स्वरूपको भी नहीं जानता। और जो यह सब कुछ भी नहीं जानता वह मोक्षमार्गी कैसे ?

अपनी दया व गुप्त कल्याण—भैया ! कदाचित् लोगोंकी जानकारीमें तुम व्यवहारनयी कहलाते हो और इस कारणसे व्यवहारनयकी वातको पुष्ट करनेकी वात पड़गई हो तो भी अपने अन्दर गुप्त निश्चयनयका आदर करके, निश्चयनयके विषयका चिंतन अपने आपकी दया करके करलो,

तव वह पक्ष भी छूट जायगा । जो जीव निश्चयनयसे निरपेक्ष होकर व्यवहारनयमें मोहको उत्पन्न करते हैं, परद्रव्योंकी ममताको नहीं त्यागते वे पुरुष श्रामण्यनामक मार्गको दूरसे ही छोड़ देते हैं । महान् उपदेश महान् ग्रन्थ ज्ञानी, योगी, त्यागी, समझदार पुरुषोंके उद्देश्यके लिए रचित होते हैं । और उनके उद्देश्य से रचे हुए ग्रंथों के वचनोंसे उपकार सबका होता है । यह यतिजनोंको दृष्टिमें रखते हुए उपदेश चलरहा है वे श्रामण्य को, यतिमार्गको दूरसे ही छोड़ देते हैं । यह श्रामण्य मुनिजनोंमें तो विशेष व्यक्त है किन्तु होता सबमें है । श्रामण्य कहते हैं शुद्ध आत्माकी परिणति को, समता को , मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेको ।

जीवन व मरणमें समता—जीवन और मरण मेरे लिए समान हो जायें तो यह है श्रामण्य । अचानक मौतके लक्षण दिखने लगे तो घबड़ाहट क्यों होती है । अभी दूकान की सारी व्यवस्था नहीं कर पायी हैं अभी अधूरा ही काम हुआ है, यह काम अभी ठीक नहीं हो पाया है, ऐसी वातें भीतर में वसी हुई हैं जिसके कारण ये जन दुःखी होते हैं । अपना शुद्ध ज्ञायक स्वरूप केवलता यदि अपने आपके उपयोगमें दृष्ट हो तो मरणका आमन्त्रण आनेपर भय न होगा, उनसे कोई कहे कि चलते हो, तो उत्तर मिलेगा हां चलो, मुझे कोई कहीं अटक, अनुभूत नहीं होती है । यहाँ न रहे, वहाँ रहे । जैसे कोई पाहुना ऐसा आ जाय कि जिसकी एक गांव में १० रिस्तेदारी है तो एकने कहा चलो, दूसरेने कहा चलो, तो यहाँ खाया या वहाँ खाया, उसे कुछ क्षोभ नहीं होता, तुरंत चला जाता है, क्योंकि भीतरमें तो यही निर्णय है कि खाना है । यहां खा लिया या वहाँ खा लिया । जिसके अन्तरमें ज्ञायक स्वरूप समाया है यही उसका काम रहता है कि ज्ञान मात्र रहूँ, जानन मात्र रहूँ, यही हर जगह करता है तो किसी जगह वैठाल दो मंदिर में वैठाल दो, घर में वैठा दो, द्वारमें वैठा दो मगर उसकी चाह क्या है ? ज्ञानका आश्रय हो । वह करता क्या है ? ज्ञायक स्वरूपका आश्रय । अजी उसे धर्मशालामें ले जावो घर ले जावो हर जगह वह ज्ञानका आश्रय करता है, चाहे देवगतिमें ले चलो, चाहे मरण का समय आया हो, चलो, ले चलो, उसे कहीं अड़चन नहीं होती है ? ऐसी स्थितिमें वह जीवन और मरणको समान समझता है ।

लाभ अलाभ में समता :—इसी प्रकार किन्हीं भी पदार्थों के लाभ और अलाभ को ज्ञानी समान समझता है कोई चीज मिल गयी तो क्या मिल गयी ? उसका तो मुझमें कुछ नहीं आनेको है, यह तो मेरे स्वरूपसे पृथक् है ।

यद तो अपने आपका ही अधिकारी है। नहीं मिली, या मिली. मिलाई छूट गयी तो क्या नुकशान हुआ ? जब चोज मिली थी तब भी तो मैं अकेला था, उस वस्तुसे मुझमें कुछ आया तो नहीं था। ऐसी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि रखने वाले ज्ञानी संत पुरुषोंको लाभ और अलाभ समान रहते हैं। ऐसी श्रामण्य की बात है। इस श्रामण्य पदसे वे दूर रहते हैं जो निश्चयनयसे तो निरपेक्ष रहते हैं और व्यवहारनयमें मोहको उत्पन्न कर लेते हैं, उनके पर्यायमें ममता रहती है। ममता ही महान् संकट है, इसे दूर करनेका यत्न होना चाहिए।

जो जीव शरीरमें धन आदिकमें यह मैं हूं, यह मेरा है इस प्रकारकी ममताको नहीं छोड़ता वह पुरुष श्रामण्य भावको छोड़कर उन्मार्गमें चल जाता है। श्रायण्य कहो या मुनिमार्ग कहो एक ही बात है। मुनिमार्ग समता को कहते हैं। जहाँ जीवन और मरण एक समान प्रतीत हो, वस्तुवोंमें लाभ अलाभ एक समान प्रतीत हो उस मार्गको कहते हैं मुनिमार्ग। इसमें जीवन और मरणकी समताका और लाभ अलाभकी समताका वर्णन तो हो चुका अब सुख और दुःखकी समतापर विचार करो।

सुख दुखमें समता :—सुख कहते हैं उसे जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे और दुःख कहते हैं उसे जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे। इन्द्रियोंको सुहावना लगे ऐसा जो विकल्प उत्पन्न होता है वह भी कर्मोंके उदयसे होता है। सुहावना लगे ऐसे विकल्पोंमें भी पराधीनता है और असुहावना लगे ऐसे विकल्पोंमें भी पराधीनता है। सुख है वह भी विकारी ही परिणाम है और दुःख है वह भी विकारी ही परिणाम है। सुख भी अध्रुव चीज है और दुःख भी अध्रुव चीज है। सुखका भी नाश होता है और दुःखका भी नाश होता है। सुख भी आत्माका स्वभाव नहीं है और दुःख भी आत्माका स्वभाव नहीं है।

बहिर्मुखता, महान् संकट :—सबसे बड़ा संकट इस जीवपर है तो बहिर्मुखताका संकट है। बाहरी पदार्थोंमें अपने ज्ञानका लगाना, फसाना, वहाँ ही इष्ट अनिष्ट तर्कणायें बनाना यही जीवपर सबसे बड़ा संकट हैं। तो बहिर्मुखता रूप संकट सुखमें भी है और दुःखमें भी है। अपने स्वरूपसे बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि लगाये विना सुख नहीं होता। इसलिए सुख और दुःख दोनों ही समान चीजें हैं। उसमें यह विशेषता नहीं है कि सुख तो भली चीज हो और दुःख बुरी चीज हो। संसारके सुखोंका नाम सुख है और दुःख तो स्पष्ट ही है। ये सुख और दुःख दोनौं ही विपरीत परिणाम है। उनमें से सुखको मान लेना कि यह भली बात है और दुःखका मान लेना कि यह बुरी बात है। बस यही मुनिधर्मसे चिगना कहलाता है।

सुखकी रुचिका मूल ममता :—जब तक भोगोंमें, शरीरमें, धनादिकमें ममता परिणाम रहता है तब तक सुख तो भला जंचता है पर जीव की सहज स्थिति, स्वभाव पर इससे ऊँचा उठा है। जीवका काम ज्ञाता द्रष्टा रहने मात्रका है। सुखमें रहना दुःखसे भागना यह जीवका काम नहीं है। यह तो कर्म उपाधिके सम्बन्धसे हो जाया करता है। जितने सुखी लोग देखे गये हैं, पुराणोंमें सुने गये हैं और सुखमें ममता रखते है मौज मानते हैं ऐसे जीवों पर बड़ा विकट संकट आया करता है। यह जो तपस्या की जाती है, धर्म मार्गमें वह किसलिए की जाती है कि इस जीवमें सुखियापनकी रुचि न आ जाय, आरामीपन की रुचि न आ जाय। सुखियापन की रुचि आनेसे, आरामी पन की रुचि आनेसे परिणाम बिगड़ते हैं साधु महाराज सुख और दुःख दोनों को कलंक समझते हैं, समान मानते हैं।

जीवका स्वभाव आनन्द :—भैया, जीवका स्वभाव सुखका नहीं है, जीवका स्वभाव आनन्दका है आनन्दमें और सुखमें महान् अन्तर है सुख तो विकृत परिणाम है और आनन्द स्वाभाविक परिणाम है। भगवान अरहंत देवमें सिद्ध प्रभुमें आनन्द तो अनन्त है मगर सुख रंच भी नहीं है। उनमें दुःख भी नहीं है और सुख भी नहीं है पर आनन्द पूर्ण भरा हुआ है। ये संसारके सुख और दुःख दोनों एक समान है, पर जिनके शरीरमें, भक्तिमें, विषयमें, कषाय में ममता लगी है वे सुख और दुःखको समान नहीं मान सकते हैं और वे उन्मार्गको प्राप्त हो जाते हैं।

शत्रु व मित्रमें समता :—इसी प्रकार जिन जीवोंके ममता लगी है वे शत्रु और मित्र दोनों को एक समान नहीं देख सकते। इस जगतमें इस जीवका शत्रु भैया, कोइ दूसरा नहीं है। दूसरे लोग हैं वे अपने विषय कषायोंमें लीन है। उनकी विषय कषायमें जिसके निमित्तसे बाधा पड़ती है उनको विषय बनाकर वे अपना कषाय उगला करते हैं। भैया, वे शत्रुता नहीं करते किन्तु वे अपनी कषाय की चेष्टा करते हैं।

परका परमें शत्रुत्वका अभाव :—जैसे बिच्छू अगर दब जाय आपके हाथसे पैरसे तो बिच्छू आपको दुःखी करनेके भावसे नहीं काटता, किन्तु उसकी प्रकृति ऐसी है कि वह दब जानेपर अपनी रक्षाका उपाय यों ही करता है कि डंक मार देता है। आपके हाथसे वह न दबे लाठीसे दब जाय तो लाठीमें भी वह बिच्छू डंक मारता है। उस बिच्छूको किसीको डंक मारनेकी दुश्मनी नहीं है, किन्तु उसे स्वयं अपने जानकी पड़ी है सो जानकी रक्षाके लिए डंक मारनेकी उसमें प्रकृति है। इसी प्रकार कोई भी पुरुष उसे बरबाद

करनेके लिए दुश्मनी नहीं कररहे किन्तु उनमें स्वयं कषाय भाव पड़ा है सो अपने कषाय भावोंको दूर करनेके लिए अपनी चेष्टायें करते हैं। मेरा दुश्मन जगतमें कोई नहीं है।

परका परमें मित्रत्वका अभाव—इसी प्रकार मित्र भी जगतमें मेरा कोई नहीं है मित्रजन भी क्या करते हैं कि उसमें भी कोई न कोई वांछायें, हितकी इच्छायें रहती हैं सो अपने सुखकी प्राप्तिके भावोंसे या कल्याणोंके भावोंसे अपनी उन्नतिके चावोंसे वे अपनेमें चेष्टायें करते हैं। वे चेष्टायें यदि अपने अनुकूल होगईं तो हम अनुकूल समझकर उन्हें मित्र मान लेते हैं।

लोकमें शत्रु मित्रका अभाव—जगतमें न कोई किसीका शत्रु है और न कोई किसीका मित्र है, किन्तु जिनकी शरीरमें धन सम्पदामें भोग विषयोंमें रुचि लगी हुई है ऐसे जीव किसी दूसरेको शत्रु और मित्र माने बिना रह ही नहीं सकते हैं। जिनसे अपने स्वार्थमें बाधा आए उनको अपना शत्रु मान लेते हैं और जिनसे अपने स्वार्थमें साधना बने उनको मित्र मान लेते। किन्तु साधुजन शत्रु और मित्र दोनोंको एक समान समझते हैं।

शत्रु मित्रमें समताके अनोखे उदाहरणमें साधुके उपसर्गकी घटना—राजा श्रेणिकका उदाहरण बड़ा प्रसिद्ध है कि जब रानी चेलनाके किसी विषादके कारण श्रेणिकको क्रोध आया और चेतनासे कहा कि हम किसी साधु पर उपद्रव करके इसका बदला लेंगे। श्रेणिक जंगलमें जारहे थे, रास्ते में एक मुनिराज ध्यान करतेहुए दिख गए तो श्रेणिकने पास पड़े हुए साँपको मुनिराजके गलेमें डाल दिया और चले आए। तीन दिन तक कोई चर्चा नहीं की। तीन दिनके बादमें श्रेणिक कहते हैं कि ऐ रानी चेलने, हम तुम्हारे मुनिके गलेमें साँप डालकर आए हैं। चेलना बोली राजन्! तुमने बुरा किया। अतुल समताके पुजारीपर तुमने उपद्रव किया। श्रेणिक बोला कि क्या हुआ? अरे वे तो उस सांपको फेंककर कहींके कहीं चल दिए होंगे। चेलना कहती है कि वे यदि आत्माके उपासक हैं, सच्चे साधु हैं तो वहींके वहीं बैठे होंगे, उपसर्गके समय वे कहीं भागा नहीं करते।

श्रेणिक व चेलनाका घटनास्थलपर गमन:—श्रेणिक और चेलना दोनों मुनिके पास जाते हैं। श्रेणिक देखता है कि तीन दिन तक अनाहार रह कर भी अपनेमें ज्योंके त्यों अडिग साधु जी बैठे हुए हैं। श्रेणिकको उसी समय भक्ति उत्पन्न हुई। उनको अपने कामपर पछतावा हुआ। यहाँ रानी चेलनाने उपसर्ग निवारण किस प्रकार किया? चूंकि सांपके ऊपर बहुत सी चींटियां

सुखकी रुचिका मूल ममता :— जब तक भोगोंमें, शरीरमें, धनादिकमें ममता परिणाम रहता है तब तक सुख तो भला जचता है पर जीव की सहज स्थिति, स्वभाव पर उससे ऊँचा उठा है। जीवका काम ज्ञाता द्रष्टा रहने मात्रका है। सुखमें रहना दुःखसे भागना यह जीवका काम नहीं है। यह तो कर्म उपाधिके सम्बन्धसे हो जाया करता है। जितने सुखी लोग देखे गये हैं, पुराणोंमें सुने गये हैं और सुखमें ममता रखते है मौज मानते हैं ऐसे जीवों पर बड़ा विकट संकट आया करता है। यह जो तपस्या की जाती है, धर्म मार्गमें वह किसलिए की जाती है कि इस जीवमें सुखियापनकी रुचि न आ जाय, आरामीपन की रुचि न आ जाय। सुखियापन की रुचि आनेसे, आरामी पन की रुचि आनेसे परिणाम बिगड़ते हैं साधु महाराज सुख और दुःख दोनों को कलंक समझते हैं, समान मानते हैं।

जीवका स्वभाव आनन्द :— भैया, जीवका स्वभाव सुखका नहीं है, जीवका स्वभाव आनन्दका है आनन्दमें और सुखमें महान् अन्तर है सुख तो विकृत परिणाम है और आनन्द स्वाभाविक परिणाम है। भगवान अरहंत देवमें सिद्ध प्रभुमें आनन्द तो अनन्त है मगर सुख रंच भी नहीं है। उनमें दुःख भी नहीं है और सुख भी नहीं है पर आनन्द पूर्ण भरा हुआ है। ये संसारके सुख और दुःख दोनों एक समान है, पर जिनके शरीरमें, भक्तिमें, विषयमें, कषाय में ममता लगी है वे सुख और दुःखको समान नहीं मान सकते हैं और वे उन्मार्गको प्राप्त हो जाते हैं।

शत्रु व मित्रमें समता :— इसी प्रकार जिन जीवोंके ममता लगी है वे शत्रु और मित्र दोनों को एक समान नहीं देख सकते। इस जगतमें इस जीवका शत्रु भैया, कोइ दूसरा नहीं है। दूसरे लोग हैं वे अपने विषय कषायोंमें लीन है। उनकी विषय कषायमें जिसके निमित्तसे बाधा पड़ती है उनको विषय बनाकर वे अपना कषाय उगला करते हैं। भैया, वे शत्रुता नहीं करते किन्तु वे अपनी कषाय की चेष्टा करते हैं।

परका परमें शत्रुत्वका अभाव :— जैसे बिच्छू अगर दब जाय आपके हाथसे पैरसे तो बिच्छू आपको दुःखी करनेके भावसे नहीं काटता, किन्तु उसकी प्रकृति ऐसी है कि वह दब जानेपर अपनी रक्षाका उपाय यों ही करता है कि डंक मार देता है। आपके हाथसे वह न दबे लाठीसे दब जाय तो लाठीमें भी वह बिच्छू डंक मारता है। उस बिच्छूको किसीको डंक मारनेकी दुश्मनी नहीं है, किन्तु उसे स्वयं अपने जानकी पड़ी है सो जानकी रक्षाके लिए डंक मारनेकी उसमें प्रकृति है। इसी प्रकार कोई भी पुरुष उसे बरबाद

करनेके लिए दुश्मनी नहीं कररहे किन्तु उनमें स्वयं कषाय भाव पड़ा है सो अपने कषाय भावोंको दूर करनेके लिए अपनी चेष्टायें करते हैं। मेरा दुश्मन जगतमें कोई नहीं है।

परका परमें मित्रत्वका अभाव—इसी प्रकार मित्र भी जगतमें मेरा कोई नहीं है मित्रजन भी क्या करते हैं कि उसमें भी कोई न कोई वांछायें, हितकी इच्छायें रहती हैं सो अपने सुखकी प्राप्तिके भावोंसे या कल्याणोंके भावोंसे अपनी उन्नतिके चावोंसे वे अपनेमें चेष्टायें करते हैं। वे चेष्टायें यदि अपने अनुकूल होगईं तो हम अनुकूल समझकर उन्हें मित्र मान लेते हैं।

लोकमें शत्रु मित्रका अभाव—जगतमें न कोई किसीका शत्रु है और न कोई किसीका मित्र है, किन्तु जिनकी शरीरमें धन सम्पदामें भोग विषयोंमें रुचि लगी हुई है ऐसे जीव किसी दूसरेको शत्रु और मित्र माने विना रह ही नहीं सकते हैं। जिनसे अपने स्वार्थमें वाधा आए उनको अपना शत्रु मान लेते हैं और जिनसे अपने स्वार्थमें साधना वने उनको मित्र मान लेते। किन्तु साधुजन शत्रु और मित्र दोनोंको एक समान समझते हैं।

शत्रु मित्रमें समताके अनोखे उदाहरणमें साधुके उपसर्गकी घटना—राजा श्रेणिकका उदाहरण वड़ा प्रसिद्ध है कि जब रानी चेलनाके किसी विपादके कारण श्रेणिकको क्रोध आया और चेतनासे कहा कि हम किसी साधु पर उपद्रव करके इसका वदला लेंगे। श्रेणिक जंगलमें जारहे थे, रास्ते में एक मुनिराज ध्यान करतेहुए दिख गए तो श्रेणिकने पास पड़े हुए साँपको मुनिराजके गलेमें डाल दिया और चले आए। तीन दिन तक कोई चर्चा नहीं की। तीन दिनके वादमें श्रेणिक कहते हैं कि ऐ रानी चेलने, हम तुम्हारे मुनिके गलेमें साँप डालकर आए हैं। चेलना वोली राजन्! तुमने बुरा किया। अतुल समताके पुजारीपर तुमने उपद्रव किया। श्रेणिक वोला कि क्या हुआ? अरे वे तो उस साँपको फेंककर कहींके कहीं चल दिए होंगे। चेलना कहती है कि वे यदि आत्माके उपासक हैं, सच्चे साधु हैं तो वहींके वहीं बैठे होंगे, उपसर्गके समय वे कहीं भागा नहीं करते।

श्रेणिक व चेलनाका घटनास्थलपर गमन:—श्रेणिक और चेलना दोनों मुनिके पास जाते हैं। श्रेणिक देखता है कि तीन दिन तक अनाहार रह कर भी अपनेमें ज्योंके त्यों अडिग साधु जी बैठे हुए हैं। श्रेणिकको उसी समय भक्ति उत्पन हुई। उनको अपने कामपर पछतावा हुआ। यहाँ रानी चेलनाने उपसर्ग निवारण किस प्रकार किया? चूँकि साँपके ऊपर बहुत सी चींटियाँ

चढ़ गई थी, सो पासमें शक्कर डाल दिया। सब चीटियाँ उतर आई ? फिर गलेसे साँपको निकाला। उपसर्ग दूर हुआ।

श्रेणिककी भक्तिवृद्धि व साधुकी अपूर्व समताः—उपसर्ग दूर होनेके पश्चात जब साधु महाराजने आंखें खोलीं तो ये दोनों श्रेणिक और चेलना सामने नजर आये। और दोनोंको एक साथ आशीर्वाद दिया। उभयोर्धर्मवृद्धिरस्तु। तुम दोनोंको धर्मवृद्धि हो। इस समता भरे आशीर्वादको सुनकर श्रेणिक मानों गड़ गया। पछतावेमें आकर सोचने लगा कि मैं अपने प्राणोंका घात करलूं, मेरा तो जीवन बेकार है कि ऐसे संतपर मैंने उपद्रव कर डाला तब मुनिराज बोले कि श्रेणिक क्या विचार करते हो ? जो होना है वह स्वयं ही हो जाता है, अपने परिणामोंको सम्हालो, अपने घातकी बातको मत सोचो तब तो उसपर और अधिक प्रभाव पड़ा कि मुनिराज इतने उच्च ज्ञानी हैं कि मेरे मनकी कल्पनाको भी जान गये। इस समय श्रेणिकने जो पश्चात्ताप किया उसके फलमें नर्क आयुका स्थिति बंध कम हुआ। नहीं तो ऐसे घोर उपद्रवके कारण ७ वें नर्कमें जानेकी स्थिति हुई थी। अब पहिले नर्ककी ही स्थिति हो गई।

समता और ज्ञान—समता इसको कहते हैं कि शत्रु और मित्र दोनों ही जिसे समान दिखें। धन्य है वह ज्ञानी। जो अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लेते हैं, ऐसे पुरुष ही इतना ऊंचा समान परिणाम रखते हैं कि शत्रु भी उनकी दृष्टिमें वही और मित्र भी उनकी दृष्टिमें वही। ज्ञानी संत पुरुषोंका यह निर्णय है कि मेरी आत्मा ज्ञानस्वरूप अपने दृढ़ ज्ञानकोटके भीतर सुरक्षित है। इसमें किसी अन्य चीजका प्रवेश नहीं है। शत्रु इसमें करेगा क्या और मित्र इसमें करेगा क्या ? ऐसे शुद्ध स्वच्छ ज्ञानके बलसे ज्ञानी जीवको शत्रु और मित्र एक सदृश प्रतीत होते है। उन ही की आत्माओंमें शुद्ध ज्ञानस्वरूप का दर्शन हुआ करता है।

आनन्दका आधार समता—जो जीव ममताको नहीं छोड़ सकता वह समता को प्राप्त नहीं हो सकता। आनन्द समतामें ही है, ममतामें आनन्द नहीं है। ममतासे कितने क्लेश हैं ? सो भैया, उनसे आप लोग परिचित ही होंगे। कहीं भी शांति नजर नहीं आती। ममता परिमाण छूटे और शुद्ध जानन-मात्र ज्ञानस्वरूप निज प्रभुका दर्शन होवे तो इसको आत्मीय आनन्दनिधिका पता पड़ सकता है कि मैं किस आनन्दसे परिपूर्ण हूँ।

निन्दा व प्रशंसामें समता—इसी तरह जो शरीरमें, धनादिकमें ममताको नहीं त्याग सकता वह निन्दा और प्रशंसामें भी मध्यस्थभाव नहीं रख

सकता। निन्दा और प्रशंसा क्या चीज हैं? वे एक वचन हैं। दूसरेने निंदा कर दिया तो वचन ही तो उसने बोला। वचनके सिवाय और उसने क्या किया यहाँ? और वह उसको दुःखी करनेके लिए नहीं बोला गया, किन्तु वह स्वयं ही ऐसा कषायमें ऐंठा बैठा था कि जिसके कारण उसकी ऐसी चेष्टा होगई। वह उसकी निन्दा नहीं कररहा है किन्तु जैसा उसका उपादान है, जैसी उसकी कषायकी योग्यता है उस माफिक वह अपना परिणमनकर रहा है। कोई किसीकी निन्दा नहीं करता।

मेरा न कोई निन्दक न कोई प्रशंसक—प्रशंसा करनेवाला भी मेरी प्रशंसा नहीं करता किन्तु जैसा उसका उपादान है, जैसा उसका परिणाम है उस परिणामके अनुसार वह अपना परिणमन कररहा है, वह मेरी प्रशंसा नहीं करता। कोई भी पुरुप मेरी निन्दा और प्रशंसा करनेमें समर्थ नहीं है, जो कुछ करेगा वह खुद अपने आपमें करेगा। वह अपने प्रदेशोंसे बाहर अपना कुछ कार्य नहीं कर सकना। साधुजन ऐसे वस्तुस्वरूपका निर्णय करके प्रशंसा और निन्दामें समान बने रहते हैं।

उपादानकी विशेषता—क्रोधमें और क्या दुःख है। जरा-जरा सी बातोंमें आग बबूला हो जाते हैं क्योंकि उनकी शरीर और धनमें ममता है, इज्जत की, लोगोंके बीच पोजीसनकी उनको ममता है सो जरा-जरासी बातोंमें उनको क्रोध आजाता है। व्याकुल हो जाते हैं पर साधूजन इतने उच्च ज्ञान पर पहुँचे हुए हैं कि वे किसी भी प्रकारके वचनको सुनकर अपने अन्तरङ्गमें क्षोभ नहीं लाते, क्योंकि उनका यह निर्णय है कि मेरा सुधार और बिगाड़ केवल मेरे परिणामोंसे ही होगा। दूसरोंके दुर्वचन या सद्‌वचनसे मेरा सुधार और बिगाड़ नहीं हो सकता।

अपने ज्ञान परिणामकी सम्हाल आवश्यक—अपने परिणामोंकी सम्हालमें रहने वाले साधु संतजन अपनेमें समताका परिणाम बनाए रहते हैं। समता तो उनमें नहीं रहा करती जिनको किसी प्रकार परपदार्थोंमें मोह लगा है। मोह होता है अशुद्धनयसे। अशुद्धनयकी दृष्टिमें अपने साथ किसी परपदार्थ से कोई सम्बन्ध मानता है तो उसको कपाय आवेगी ही। मोह उसके साथ लग क्यों जाता है? अशुद्धनयका वह आश्रय लिए हुए है, किन्तु पदार्थोंमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र अपने-अपने स्वरूपास्तित्वको जो निरखते है, वे जन मोह नहीं करते, कषायमें प्रवृत्त नहीं होते। सो करनेका काम यही है कि विषय और कषाय से दूर होओ। विषय और कषायसे दूर होनेका उपाय यह है कि विषयरहित कषायरहित, ज्ञानमात्र, केवल अपने आपके आत्मतत्त्वपर दृष्टि

चढ़ गईं थी, सो पासमें शक्कर डाल दिया। सब चीटियाँ उतर आईं? फिर गलेसे साँपको निकाला। उपसर्ग दूर हुआ।

श्रेणिककी भक्तिवृद्धि व साधुकी अपूर्व समताः—उपसर्ग दूर होनेके पश्चात जब साधु महाराजने आंखें खोलीं तो ये दोनों श्रेणिक और चेलना सामने नजर आये। और दोनोंको एक साथ आशीर्वाद दिया। उभयोर्धर्मवृद्धिरस्तु। तुम दोनोंको धर्मवृद्धि हो। इस समता भरे आशीर्वादको सुनकर श्रेणिक मानों गड़ गया। पछतावेमे आकर सोचने लगा कि मैं अपने प्राणोंका घात करलूं, मेरा तो जीवन बेकार है कि ऐसे संतपर मैंने उपद्रव कर डाला तब मुनिराज बोले कि श्रेणिक क्या विचार करते हो? जो होना है वह स्वयं ही हो जाता है, अपने परिणामोंको सम्हालो, अपने घातकी बातको मत सोचो तब तो उसपर और अधिक प्रभाव पड़ा कि मुनिराज इतने उच्च ज्ञानी हैं कि मेरे मनकी कल्पनाको भी जान गये। इस समय श्रेणिकने जो पश्चात्ताप किया उसके फलमें नर्क आयुका स्थिति बंध कम हुआ। नहीं तो ऐसे घोर उपद्रवके कारण ७ वें नर्कमें जानेकी स्थिति हुई थी। अब पहिले नर्ककी ही स्थिति हो गई।

समता और ज्ञान—समता इसको कहते हैं कि शत्रु और मित्र दोनों ही जिसे समान दिखें। धन्य है वह ज्ञानी। जो अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लेते हैं, ऐसे पुरुष ही इतना ऊंचा समान परिणाम रखते हैं कि शत्रु भी उनकी दृष्टिमें वही और मित्र भी उनकी दृष्टिमें वही। ज्ञानी संत पुरुषोंका यह निर्णय है कि मेरी आत्मा ज्ञानस्वरूप अपने दृढ़ ज्ञानकोटके भीतर सुरक्षित है। इसमें किसी अन्य चीजका प्रवेश नहीं है। शत्रु इसमें करेगा क्या और मित्र इसमें करेगा क्या? ऐसे शुद्ध स्वच्छ ज्ञानके बलसे ज्ञानी जीवको शत्रु और मित्र एक सदृश प्रतीत होते है। उन ही की आत्माओंमें शुद्ध ज्ञानस्वरूप का दर्शन हुआ करता है।

आनन्दका आधार समता—जो जीव ममताको नही छोड़ सकता वह समता को प्राप्त नहीं हो सकता। आनन्द समतामें ही है, ममतामें आनन्द नही है। ममतासे कितने क्लेश हैं? सो भैया, उनसे आप लोग परिचित ही होंगे। कहीं भी शांति नजर नहीं आती। ममता परिमाण छूटे और शुद्ध जानन-मात्र ज्ञानस्वरूप निज प्रभुका दर्शन होवे तो इसको आत्मीय आनन्दनिधिका पता पड़ सकता है कि मैं किस आनन्दसे परिपूर्ण हूँ।

निन्दा व प्रशंसामें समता—इसी तरह जो शरीरमें, धनादिकमें ममताको नहीं त्याग सकता वह निन्दा और प्रशंसामें भी मध्यस्थभाव नही रख

सकता। निन्दा और प्रशंसा क्या चीज हैं ? वे एक वचन हैं। दूसरेने निंदा कर दिया तो वचन ही तो उसने बोला। वचनके सिवाय और उसने क्या किया यहाँ ? और वह उसको दुःखी करनेके लिए नहीं बोला गया, किन्तु वह स्वयं ही ऐसा कषायमें ऐंठा बैठा था कि जिसके कारण उसकी ऐसी चेष्टा होगई। वह उसकी निन्दा नहीं कररहा है किन्तु जैसा उसका उपादान है, जैसी उसकी कषायकी योग्यता है उस माफिक वह अपना परिणमनकर रहा है। कोई किसीकी निन्दा नहीं करता।

मेरा न कोई निन्दक न कोई प्रशंसक—प्रशंसा करनेवाला भी मेरी प्रशंसा नहीं करता किन्तु जैसा उसका उपादान है, जैसा उसका परिणाम है उस परिणामके अनुसार वह अपना परिणमन कररहा है, वह मेरी प्रशंसा नहीं करता। कोई भी पुरुष मेरी निन्दा और प्रशंसा करनेमें समर्थ नहीं है, जो कुछ करेगा वह खुद अपने आपमें करेगा। वह अपने प्रदेशोंसे बाहर अपना कुछ कार्य नहीं कर सकता। साधुजन ऐसे वस्तुस्वरूपका निर्णय करके प्रशंसा और निन्दामें समान बने रहते हैं।

उपादानकी विशेषता—क्रोधमें और क्या दुःख है। जरा-जरा सी बातोंमें आग बबूला हो जाते हैं क्योंकि उनको शरीर और धनमें ममता है, इज्जत की, लोगोंके बीच पोजीसनकी उनको ममता है सो जरा-जरासी बातोंमें उनको क्रोध आजाता है। व्याकुल हो जाते हैं पर साधूजन इतने उच्च ज्ञानपर पहुँचे हुए हैं कि वे किसी भी प्रकारके वचनको सुनकर अपने अन्तरङ्गमें क्षोभ नहीं लाते, क्योंकि उनका यह निर्णय है कि मेरा सुधार और बिगाड़ केवल मेरे परिणामोंसे ही होगा। दूसरोंके दुर्वचन या सद्वचनसे मेरा सुधार और बिगाड़ नहीं हो सकता।

अपने ज्ञान परिणामकी सम्हाल आवश्यक—अपने परिणामोंकी सम्हालमें रहने वाले साधु संतजन अपनेमें समताका परिणाम बनाए रहते हैं। समता तो उनमें नहीं रहा करती जिनको किसी प्रकार परपदार्थोंमें मोह लगा है। मोह होता है अशुद्धनयसे। अशुद्धनयकी दृष्टिमें अपने साथ किसी परपदार्थसे कोई सम्बन्ध मानता है तो उसको कषाय आवेगी ही। मोह उसके साथ लग क्यों जाता है ? अशुद्धनयका वह आश्रय लिए हुए है, किन्तु पदार्थोंमेंस्वतन्त्र स्वतन्त्र अपने-अपने स्वरूपास्तित्वको जो निरखते है, वे जन मोह नहीं करते, कषायमें प्रवृत्त नहीं होते। सो करनेका काम यही है कि विषय और कषाय से दूर होओ। विषय और कषायसे दूर होनेका उपाय यह है कि विषयरहित कषायरहित, ज्ञानमात्र, केवल अपने आपके आत्मतत्त्वपर दृष्टि

दो। अपनेमें वसे हुए शुद्ध परमात्मतत्त्वकी उपासना करो। इस लोकमें मिले हुए समागम सब छूट जायेंगे। केवल अपनी करनी अपनी रहेगी। सो अन्य विकल्पोंको त्यागकर एक अपने ज्ञानके उपार्जनमें लगो, ज्ञानकी उपासना में लगो। यही आत्महितका मार्ग है, अन्य कोई आत्महितका मार्ग नहीं है।

ज्ञानपद्धति—किसी वातको जाननेके दो ढंग होते हैं। एक तो केवल एक ही पदार्थको जानो और दूसरे अनेक पदार्थोंके सम्बन्धको जानो। एक पदार्थको जाननेका नाम है शुद्धनय और अनेक पदार्थोंके सम्बन्धको जाननेका नाम है अशुद्धनय। जैसे एक अंगुलीको अकेली ही जानो तो ऐसा भी जान सकते हो और दो अंगुली मुकावलेमें करो और फिरभी समझमें यह है कि यह छोटी है, यह वड़ी है ऐसा भी जान सकते हो। तो मुकाविलेके सम्बन्धके ज्ञान करनेका नाम अशुद्धनय है और खालिस केवल एकको जानने का नाम शुद्धनय है, अशुद्धनयसे तो अशुद्ध आत्मा मिलता है। अव शुद्धनयसे शुद्ध आत्माका लाभ ही होता है। ऐसा अवधारण करते हैं, अपने हृदयमें निश्चय करते हैं :—

णाहं होमि परेसिंणमे परे संति णाणमहमिक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा॥ ॥१६१॥

मैं दूसरोंका नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं है। मैं तो अकेला ज्ञानमात्र हूँ। ऐसे ही अपने ध्यानके द्वारा जो आत्माको ध्याता है वह आत्मा अपने आपका ध्याता कहलाता है।

एकत्व भावनाका प्रताप—एक इस निज आत्माको जानना है तो और विशेष वातें न वन सकें तो इतना भाव तो वनाओ कि मैं दूसरोंका नहीं हूँ। दूसरे मेरे नहीं हैं मैं तो एक ज्ञानमात्र हूँ ऐसा वार-वार विचारि करो तो ऐसा विचारनेके प्रतापसे वाह्य पदार्थोंका और अपने आपमें अपना ज्ञान आवेगा। उसमें ही इसको सिद्ध प्रभुके दर्शन हो सकते हैं। जहाँ भीतर में यह विश्वास पड़ा हुआ है कि मेरा घर है, मेरा धन है, मेरी शान है, ऐसा विकल्प पड़ा है तो वहाँ न आत्माके दर्शन हुए और न प्रभुकी भक्ति। भगवानकी भक्ति वहाँ ही होती है जहाँ और कोई स्वार्थ न रहे। केवल भगवानके स्वरूपकी महिमा ही हृदयमें राजती है तो भक्ति तो वहीं हो सकतीहै।

आकिञ्चन्य भावना—यहाँ यह वतला रहे कि ऐसी भावना वनाओ कि मैं दूसरोंका कुछ नहीं हूँ, दूसरे मेरे कुछ नहीं हैं। यह भावना कव वने? जव अपने विषयमात्रमें प्रवृत्त होनेवाले अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ वनें और शुद्ध द्रव्यका निरू-

परण करनेवाले निश्चयनयके द्वारा अपना मोह दूर करें तब यह भावना बनेगी कि मैं दूसरोंका नहीं हूँ; दूसरे मेरे नहीं हैं।

सर्वत्र आत्माका एकाकित्व—अपने आपकी आत्माको अकेला ही सोचें कि यह मैं केवल अकेला हूँ, अकेला ही जन्मता हूँ, अकेला ही मरता हूँ, अकेला ही सुख दुःख भोगता हूँ। संसारमें रुलता रहता हूँ तो अकेला ही रुलता रहता हूँ। जब मोक्षमार्ग पाऊंगा तो अकेला ही पाऊँगा। मुक्त होऊँगा तब अकेला ही मुक्त होऊँगा। सर्वत्र अपनेको अकेला ही देखो तो ज्ञानकी बात आसकती है। कोई कठिन बात तो नहीं है। सच्ची तो बात है। यह जीव अकेला ही है। इसपर पापका उदय आगया तो दूसरे साथ दे सकेंगे क्या? नहीं। और पुण्यका उदय आरहा है तो वहाँ भी यह अकेला ही मौज मानता है। सब जगह यह जीव अकेला ही है। ऐसे अकेलेपनका विश्वास रहे तो धर्म हो सकता है। भगवानको पूजा करने, और भी धर्मके काम करनेमें यह बात बसाये रहें कि मैं ऐसे घरवाला हूँ, ऐसे बाल बच्चों वाला हूँ, ऐसी भावनामें कितना ही पूजा आदिमें लगे रहो, धर्म नहीं है। यथार्थ ध्यान तब होगा जब अपने आपमें अकेलापन ध्यानमें रहे। जबतक मोहकी बात रहती है तबतक ध्यान नहीं रह सकता, धर्म नहीं हो सकता।

शुद्धनयकी उपादेयतना—देखो भैया! जब यह विश्वासमें आचुका कि मैं दूसरोंका नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं तो निजका और परका सम्बन्ध टूट गया ना? यह जो सम्बन्ध है शरीरका और आत्माका, बतलावो यह संबंध है कि नहीं? है। यही व्यवहार है पर जो धर्ममार्गमें आगे लगते हैं उनमें से कोई-कोई इस व्यवहारका एकान्तसे खण्डन करता है कि शरीरका और आत्माका तो किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। सो सम्बन्ध तो है, भूख लगती, प्यास लगती, ठन्ड गर्म लगती, अभी यहाँ बैठे हो और तुमसे कहें कि शरीर तो यहीं रखा रहने दो और तुम आत्मा जरा सरक जाओ, तो नहीं सरक सकते हो। यह व्यवहारनयकी बात है। सच है यह, किन्तु अनेक द्रव्यके संयोगकी दृष्टि एकरूप न होने देगी। अतः व्यवहारनयका विरोध न करके तुम मध्यस्थ हो जावो, ज्ञाता द्रष्टा हो जावो। व्यवहारका विरोध नहीं करके मध्यस्थ बनो तब आलम्बन लो तो निश्चयनयका लो। मेरी आत्मा का क्या स्वरूप है इसपर दृष्टि दो। व्यवहार व्यवहारको जगह है। तुम्हें तो बनना है केवल शुद्ध। तो शुद्ध दृष्टिमें केवल दिखे, शुद्ध दिखे, ऐसी दृष्टिको ग्रहण करो। जिस दृष्टिसे मोह बढ़े, ममता बढ़े, परेशानी हो उस दृष्टिका आश्रय न करो।

अन्तर्दृष्टिसे संकटकी समाप्ति—तुम चाहे किसी भी स्थितिमें हो, मानलो घरमें कोई बीमार है, घरमें कोई मर गया अथवा हजारोंका टोटा पड़गया, कोई निन्दा करता हो, कैसी भी भयंकर स्थिति हो पर तुम बाहरकी आंखें मींचलो, विकल्प न करो, भीतरका जो स्वरूप है उस स्वरूपपर दृष्टि दोगे तो वे सारेके सारे संकट समाप्त हो जावेंगे। ये संकट बाहरमें दृष्टि लगानेसे है। अन्तर्दृष्टि हो तो ये सारे संकट समाप्त हो जाते हैं। सो भैया! सबसे बड़ा काम परस्परके स्व स्वामी सम्बन्धको खतम करना है।

शुद्धनयसे शुद्धात्म प्राप्ति—मैं दूसरोंका नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी बार-बार भावना बनाओ। इससे क्या होगा कि जो अनात्मतत्त्व है, जड़ है, पर चीज है उसको तो छोड़ दोगे और अपना स्वरूपास्तित्वमय अपने आत्माको समझ जाओगे कि यही मैं हूँ। जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, प्रभुका स्वरूप है यही मैं हूँ। ऐसे आत्मरूपको ग्रहण कर लोगे तो पर द्रव्योंसे बिल्कुल पृथक् हो जाओगे। आत्माको ही अपने आत्मामें रोक लोगे तो उसका ही चिंतन बन जायगा। जैसा शुद्ध जो प्रभु है उसी प्रकारका यह मैं आत्मद्रव्य हूँ। "जो मात्र अपने स्वरूपका ही चिंतन कररहा है वह उस कालमें शुद्ध आत्मा है। जो भव्य शुद्ध आत्माका ध्यान कररहा है वह शुद्ध आत्मा है। जो अशुद्ध आत्मा मानरहा है वह अशुद्ध आत्मा होता है। इससे यही निश्चय हुआ कि शुद्धनयसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है।

उच्च विचारसे पुण्यरक्षा—अपने विचार ऊँचे बनाओ। निम्न विचारोंकी ओर न जावो। किसी लोभके वशमें होकर, किसी भयमें आकर निम्न बातों में आगये, बेइमानीमें आगये, दगाबाजीमें आ गये, किसी भी प्रकारके निम्न विचारोंमें आ गए तो पुरुष खतम हो गया समझिए। यहाँ तो कुछ लोभके लिए बेइमानी, दगाबाजी करते हैं मगर उस बेइमानी और दगाबाजीका फल इतना भयंकर होता कि जो इसने पहिले पुण्य कमाया था वह पुण्य भी खतम हो जाता है। और देखा होगा ना कि कोई बेइमानीसे कबतक व्यापार कर सकता है। तो इसके माने यही है कि बेइमानीसे पुण्य खतम होजाता है। जो अपने आचरणसे अडिग रह गया, दगाबाजी नहीं करता है तो उस का पुण्य आज नहीं तो फिर कभी जरूर फलेगा। अतः आचरणसे कभी नहीं गिरना चाहिए।

सर्वक्षति चारित्रभ्रष्टता—"भैया! यहाँ कोई पूँछते हैं कि सबसे बड़ा धन क्या है? तो लोग मानते है कि अन्न। अन्न धन है सो अनेक धन हैं। और जो भी वैभव है लाखों करोड़ोंका एक तो यह सब वैभव एक जगह रखो

और दूसरे इस आत्माका चरित्र वैभव एक जगह रखो। इन दो वैभवोंकी तुलना करो। यदि यह वैभव छूटता है तो छूटे, इस वैभवके छूटनेसे कुछ नहीं गया और आत्माका चरित्र वैभव अगर लुटता है तो उसका सब कुछ चला गया भैया! शुद्ध आचरणसे बढ़कर कोई वैभव नहीं है। मानलो कुछ गरीबी है, साधारण स्थिति है रहने दो, मगर अपना चरित्र इतना उज्ज्वल रखो, अपना व्यवहार इतना पवित्र रखो कि तुम्हारा यह वैभव उस वैभवसे कई गुणा ऊँचा बन जाय। धन वैभव नहीं रहता, न रहने दो। वास्तविक वैभव तो आत्माका चरित्र है, आचरण है। यदि आत्माको पवित्र रखो तो इससे बड़ा धन और कोई दूसरा नहीं है। इज्जत देखकर, शान देखकर अपने आपमें तृष्णाका भाव मत लावो कि मेरी भी इज्जत, मेरी भी शान वैसी होजाय। वैसी हो जाय तो क्या? न हो जाय तो क्या? आत्माका आचरण यदि पवित्र है तो सब कुछ है और आचरण यदि गिर गया, भ्रष्ट हो गया तो सब कुछ चला गया।

पवित्रताकी मौलिक पद्धति स्वभावदृष्टि—भैया, अपनेको पवित्र बनाओ। पवित्र बननेकी सबसे ऊँची पद्धति यह है कि अपने स्वभावको देखो। मेरा स्वरूप कितना शुद्ध है, पवित्र है, ज्ञानमात्र है। ऐसा अपनेमें शुद्ध ज्ञानस्वरूप की दृष्टि करो तो तुम्हारी पवित्रता बढ़ेगी। प्रभुके दर्शनमें और बात क्या है? क्या इस पाषाण पीतलकी मूर्तिपर दृष्टि देनेका नाम प्रभुका दर्शन है? समवशरणमें भी जो पुतला दिखता है, क्या उसको देखनेका नाम प्रभुका दर्शन है। अनन्त ज्ञान अनन्द दर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति सम्पन्न जो चैतन्यभाव है उस चैतन्यभावके दर्शन करनेका नाम प्रभुका दर्शन है। तो वह दर्शन जो है वह ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है। इन आंखोंसे प्राप्त नहीं होता। और ज्ञान भी तब प्राप्त होगा जब अपने आपके उस स्वरूपको देख सकोगे जो निजमें नित्य अन्तः प्रकाशमान है।

आत्महितके लिए ग्राह्य सरणियां—जब तक अपनी आत्मा अपनेको शुद्ध केवल दृष्टिमें न आजाय तब तक हितका मार्ग नही प्राप्त हो सकता। तो शुद्ध आत्माके देखनेके लिए क्या-क्या पद्धति अपनानी होगी? तो पहिली बात तो यह है कि व्यवहारनयसे समस्त विधियोंका ज्ञान कर लेवें फिर दूसरी बात यह है कि उन सब व्यवहारकी विधियोंको जान तो लिया किन्तु उन व्यवहारकी विधियोंको जाननेमें लगे रहे तो उससे शांतिका मार्ग नहीं मिलेगा, क्योंकि अनेक पदार्थों पर दृष्टि लगानेके फलमें अकुलतायें ही मिलती है, परदृष्टिमें निराकुलता नहीं रहती है। इस कारण व्यवहारनयका

विरोध न करके मध्यस्थ हो जाऊँ, व्यवहारके विषयोंका ज्ञाता रह जाऊँ। तीसरी बात जो शुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाला है उस शुद्धनयकी दृष्टिमें शुद्धनयका आलम्बन लेकर मोहको दूर करें। इन तीन बातोंके होने पर चौथी बात यह दृढ़ बन जायगी कि मैं दूसरोंका नहीं हूँ और दूसरे मेरे नहीं हैं ऐसा अपना परके साथ सम्बन्धका एकदम टूट जाना यह अपने आप हो जायगा। शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिमें मोह नहीं रहता।

अन्तिम तीन सरणियां—फिर पांचवीं सीढ़ीमें क्या होगा कि शुद्ध ज्ञान-स्वरूप मैं हूँ, केवल ज्ञानमात्र स्वरूप मैं हूँ, इसप्रकार वह अपनी आत्माको जानेगा। यह आत्मा शरीर तो है नहीं, इस आत्मामें जो रागादि भाव हो हैं वे इस आत्माके स्वरूप नहीं और आत्मामें जो छुटपुट ज्ञान होता है, यह ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु शाश्वत ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ, इसप्रकार वह अपनी आत्माको ग्रहण करेगा। अपने आत्माको ग्रहण करनेके कारण परद्रव्योंसे व्यावृत्ति स्वयं हो जायगी। जैसे दूसरेके खिलोनेको देखकर रोने वाला बालक तब तक रोना नहीं बन्द कर सकता जब तक उनको खिलौना न दे दिया जाय। इसप्रकार इन बाह्य द्रव्योंमें लगनेकी और हर्ष विषाद करने की प्रवृत्ति तब तक नहीं रुक सकती जब तक अपने आपके आनन्दका, ज्ञान-स्वरूपका अपने आपको परिचय न होजाय। यहाँ आत्माको समझो कि यह मैं ज्ञानमात्र स्वयं हूँ। केवल जाननका कार्य कर सकता हूँ और जाननका ही फल भोगता हूँ। इस श्रद्धाके होनेपर आत्मा परद्रव्योंमें प्रवृत्ति न करेगा क्योंकि यह ज्ञान समझरहा है कि मैं जो कुछ कर सकता हूँ सो अपने आप को ही कर सकता हूँ। अपने प्रदेशसे बाहर किसी भी अन्य पदार्थमें मेरी कोई क्रिया नहीं होती। इस श्रद्धाके कारण पर द्रव्योंसे यह उपयोग अपने आप छूट जाता है। यह बात हुई ५वीं। इसके बाद ध्येयभूत छठवीं बात स्वयं यह होजाती है कि एक निज आत्मतत्त्व मैं हूँ, इसका चिंतन एकाग्र हो जाता है। सातवीं सरणीमें इसके प्रसादसे शुद्धात्मत्व रसका स्वाद अनुभूत होने लगता है।

निर्विकल्प ध्यानका महत्व—भैया! एक विषयमें, एक वस्तुमें यदि चिन्तन अंतर्मुहूर्त तकका निर्विकल्प भावसे रुक जाय तो उसका फल केवल ज्ञान है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता कि ऐसे मनुष्य तो बहुत हैं जो किसी एक चिन्तामें ही महीनोंसे रुके हुये हैं, घरकी चिंता, धनकी चिंता, कोई बीमार हो तो उसकी चिंता उन्हें तो केवल ज्ञान नहीं हुआ। उत्तर—उस चिंतामें भी यह जीव डटकर रुक नहीं सकता। उस एक चिंतामें भी दसों चिंतायें

और साथ लगायेगा। और दसों जगहकी ओरके विकल्प साथ चलेंगे तथा वह एक भी दुश्चिन्ता सविकल्प है। पर उत्कृष्ट ध्यान और शुद्ध ध्यानमें जो चिंतन होता है वह निर्विकल्प भावसे होता है वहाँ उस वस्तुके सिवाय अन्य वस्तुओंपर उपयोग ही नहीं पहुँचता। ऐसे शुद्धात्मस्वरूपके निरन्तर अंतर्मुहूर्तके चिन्तनका फल है केवल ज्ञान होना।

भवितव्य दृष्टिपर निर्भर—इस ज्ञान व परद्रव्यके त्यागके फलमें जो एक शुद्ध आत्माका चितवन हुआ उस चितवनके समयमें यह शुद्ध आत्मा कहलाता है। गदे विषयमें उपयोग जाय तो वह आत्मा अशुद्ध कहलाता है और शुद्ध निर्विकल्प, निर्मल, ज्ञानमात्र निजस्वरूपके चितनमें उपयोग लगता है तो वह आत्मा शुद्ध आत्मा कहलाता है। शुद्ध आत्माके दर्शनसे आत्मा शुद्ध बनता है और अशुद्ध आत्माके दर्शनसे आत्मा अशुद्ध बनता है।

जीवकी बड़ी पूँजी—भैया! सबसे बड़ी पूँजी है जीवकी तो निर्मल परिणामोंकी पूँजी है। यदि निर्मल परिणाम साथ हैं तो मनमानी सिद्धि इस को होगी। यदि निर्मल परिणाम इसके अन्दर नहीं है, विषय कषायोंसे रंजित हृदय है तो इसको कोई भी सिद्धि न समझिए। पूर्वकृत पुण्योदयसे यदि आज वैभव प्राप्त हुआ है, किन्तु परिणाम निर्मल नहीं है तो उस वैभवके फलमें कुछ प्राप्त नहीं हो सकता, शांतिका तो दर्शन हो ही नहीं हो सकता क्योंकि उसने मलिन परिणाम बनाया है। तो सबसे बड़ी विभूति आत्माके निर्मल परिणामोंको बनाए रखनेमें है।

मलिन परिणामका दुष्परिणाम—परस्परमें कोइ विवाद हो, कलह हो, झगड़ा हो, उसमें दिलचस्पी ली जाय, दूसरेका अनर्थ सोचा जाय, यह परिणाम कब तक फल सकता है। इसके फलमें विपत्तियाँ अवश्य आवेंगी। और, वर्तमानमें जो आयुका बंध हो रहा, गतिका बन्ध हो रहा सो खोटाही होता रहता है। अपनी रक्षा करना है तो यह ध्यान रखिये कि परिणाम मलिन न होसके। ये पर हैं, इनका जो परिणाम होता है होने दो। इस लोकमें देर है पर अन्धेर नहीं है। कोई खोटे परिणाम करता हो तो उसका फल देरमें चाहे मिल जाय पर यह अन्धेर नहीं है कि उसका फल न मिले। तो सबसे बड़ी अपनी रक्षा यही है कि अपने परिणामोंमें मलिनता उत्पन्न न हों। ऐसा यत्न बनाओ कि विषयोंका भाव न जगे, कषायोंके परिणाम न बनें। आस्रवका विरोध ही सर्वोत्कृष्ट संपदा है।

दूसरोंको क्लेश न पहुंचानेकी भावना—दूसरोंको अपने निमित्तसे क्लेश न उत्पन्न हो। ऐसी वृत्तिसे जियो तो जीनेमें सार है। अपने आपका हृदय

चाहे थोड़ा दुःखी होजाय, होजाने दो। वह हृदय तुम्हारा ही है। कुछ समय बाद अपना हृदय शांत कर सकते हो, किन्तु अपने कारण यदि दूसरे जीवोंको क्लेश होता है और अपने परिणामोंमें भी क्लेश देने आदिकी बातें गुजरती है तो इसका फल भयंकर है। जो दूसरे जीव दुःखी होंगे, दुःखी होकर वे शांत नहीं बैठे रहेंगे, वे कोई न कोई उपद्रव पहुँचानेकी बात करेंगे। और फिर दूसरोंको क्लेश देने आदिकी बातें जब मनमें आयी तो उसके फलमें आपका परिणमन भी उत्तरोत्तर मलिन और व्यग्र ही बनेगा। यदि अपना परिणमन विरुद्ध बने, व्यग्र, विकृत बने तो उसमें दुर्गति ही रहती है।

सर्वपरिस्थितियोंमें निर्मलताकी हितकरता—सबसे बड़ा वैभव है तो अपने परिणामोंका निर्मल बनाए रखना है। कुछ पैसोंका नुकसान होता हो तो उस को भी मंजूर करलो, मगर किसीके प्रति बेइमानी दगाबाजी असद्व्यवहार करनेकी बात मंजूर न करो तो जो नुकसान होना है उससे कई गुणा लाभ हो जायगा। यदि अपने परिणाम मलिन करके इन पैसोंमें लाभ समझते हो तो उससे कई गुणा नुकसान हो जायगा।

वैभव पूर्वकृतपुण्यफल—अच्छा बतलावो, धनको आपका हाथ कमाता है कि सिर कमाता है कि पैर कमाता है। आप कहें कि हम इतनी बुद्धि रखते है कि धन कमा लेते हैं। तो आपसे कई गुणी बुद्धिवाले ऐसे लोग भी पड़े हुए हैं उनकी तो कोई कमाई नहीं है। आप कहेंगे कि हम यत्न करते, हैं शरीरको कष्ट करते हैं, दौड़ धूप करते हैं इसलिए धन आजाता है, तो लकड़हारे और घसियारे कितनी मेहनत करते है? उनको क्या होता है? यह गर्व करना बेकार है कि मैं धन कमाता हूं। कमाई आप नहीं करते किन्तु पूर्व जन्ममें धर्मका कार्य किया था उसका जो बँधा हुआ पुण्य आपके उदयमें आरहा है उसका निमित्त पाकर यह वैभवका समागम मिलता रहता है। अपने परिणामपर अपनी बुद्धिपर गर्व न करो। मिला है तो क्या मिला है? पर चीजें हां होती हैं, मिट जानेवाली चीजें ही होती है। किस बातपर नाराज किया जाये।

समतापर सिद्धियोंकी निर्भरता—भैया! पर द्रव्योंसे ममता हटेगी तो सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती चली जायेंगी। यदि पर द्रव्योंमें ममता रहेगी तो सर्व दुर्गतियाँ आपका स्वागत करेंगी। शुद्ध परिणामोंसे लाभ है और अशुद्ध परिणामोंसे हानि है। तो शुद्धनयकी दृष्टि हो तो इसको सिद्ध स्वरूपका दर्शन मिलेगा और अनेक पदार्थोंके देखनेकी दृष्टि है तो प्रभुका दर्शन न मिलेगा। यह शरीर अनेकपदार्थी है इसको निरखते रहें और आत्मसर्वस्व

मानते रहे तो निरखते रहें दुर्गतियाँ पाते रहेंगे शरीरमें रहने वाले एक-एक अणुमें एक एक पदार्थ माननेकी दृष्टि रहे और इसमें बसनेवाला एक आत्मा है उसकी दृष्टि रहे तो इसको प्रभुताके दर्शन हो सकते हैं, ऐसा ही करके एक आत्मस्वरूप देखनेमें आवे। वह भी महान् पुरुषार्थ है।

शुद्ध आत्मा अर्थात् ज्ञायकस्वभावी यह आत्मतत्त्व ध्रुव है। इसकारण शुद्ध आत्मा ही प्राप्त करने योग्य है इस हितका अब आचार्यदेव उपदेश करते हैं :—

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
ध्रुवमचलमणालंबं मण्णेहं अप्पगं सुद्धं॥　　॥१६२॥

इस प्रकार ज्ञानात्मक दर्शनमय अतीन्द्रिय परम अर्थभूत ध्रुव अचल निरपेक्ष शुद्ध आत्माको प्राप्त होता हूँ।

ध्रुवकी चाह प्राकृतिक—जीवोंकी ऐसी रुचि होती है कि मैं ध्रुवको ग्रहण किए रहूँ, मेरे पास वह वस्तु होजाय जो सदा बनी रहे। थोड़ी सी तो यह जिन्दगी है फिर भी यह मनुष्य इतनी सम्पत्ति चाहता है कि जिसके ब्याज ब्याजसे उसका गुजार हो। ऐसा ध्यान रखता है ना यह? क्योंकि वह चाहता है कि मेरे पास ध्रुव वस्तु रहे, कुछ मिटे नहीं। तो अब दृष्टि पसारकर देखो कि जगतमें ध्रुव क्या चीज है। ये घर मकान वैभव तो ध्रुव चीज नहीं है। ये मिट जानेवाले हैं। चाहे मेरे सामने ये मिट जाये या इनके रहते ही हम यहाँसे चले जायें, पर मिट जरूर जायेंगे। कुटुम्ब परिवार ये भी सब मिट जायेंगे। ये भी सदा रहनेको नहीं हैं। और यह शरीर भी मिट जायगा, यह भी नहीं रहनेका है। और मनकी बातें, विषयकषायों की प्रेरणा ये भी मिट जायेंगी। ये भी नहीं रहेंगे। इज्जत, शान, पोजीशन ये भी मिट जायेंगे। ये भी नहीं रहेंगे। तो अध्रुवसे क्या प्रीति करें। जो ध्रुव वस्तु हो उसके राग करनेसे लाभ है। तो ध्रुव क्या चीज है उसका इस गाथामें वर्णन है।

मेरेको मेरा आत्माही ध्रुव, तथा ध्रुवताका प्रथम कारण—ध्रुव चीज मेरे लिए मेरा शुद्ध आत्मा ही है। सदा रहनेवाला यह शरीर नहीं है, घर, मकान नहीं है। धन, कुटुम्ब नहीं है। मेरेलिए ध्रुव मेरा शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं जो मेरे पास सदासे रहा आया है और सदा तक रहेगा। हमने अपने ज्ञानस्वरूपको नहीं पहिचाना फिर भी यह हमारे पास सदा काल से है। ऐसा त्रिकालवर्ती जो चित्स्वभाव शुद्ध आत्मतत्व है वह मेरेलिए ध्रुव है। क्यों है यह मेरा आत्मतत्त्व ध्रुव? यों है कि यह स्वतः सत् है, किसीकी

छपारो किसीके आधारपर इस आत्मतत्त्वकी सत्ता हो ऐसी बात होती नहीं है इसकारण यह मेरा आत्मा ही मेरेको ध्रुव है।

द्रव्यकी ध्रुवता—जो स्वतः सिद्ध सत् होता है वह ध्रुव होता है। यह शरीर क्या स्वतः सत् है ? यह तो किसी दिनसे पैदा हुआ है, अनेक परमाणुओंसे मिलकर यह संघात बना है। यह स्वतः सत् नहीं इसलिए ध्रुव भी नहीं। स्वतः सत् इसमें परमाणु है। तो परमाणु त्रैकालिक है। इस जीवमें स्वतः सत् चीज शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है सो वह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही सदा रहनेवाला तत्त्व है।

आत्माकी ध्रुवताका द्वितीय कारण—यह शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है, क्योंकि यह अहेतुक है। धनका जुड़ना, शरीरका बनना यह तो निमित्तसे होता है। इसमें कुछ अन्य कारण होता है पर आत्माके सत्त्व होनेमें कोई दूसरा कारण नहीं है। इस आत्माको किसीने उत्पन्न नहीं किया इस कारण यह आत्मा ध्रुव है। जो सहेतुक होता है वह ध्रुव नहीं होता। जो किन्हीं कारणोंसे बनता है वह सदा नहीं रहता। यह आत्मा किसीभी कारणसे नहीं बना है। माता पिता इस आत्माको नही उत्पन्न किया करते, और वे तो कुछ उत्पन्न ही नहीं किया करते। हां, उनके निमित्तसे इस शरीरका संचय प्रारम्भ होता है। इस आत्माको कोई उत्पन्न नहीं करता। इसकारण यह आत्मा अहेतुक है और इसी कारण ध्रुव है।

शुद्ध आत्माकी ध्रुवताका तीसरा कारण—तीसरा कारण है कि आत्मा अनादि अनन्त है। जो अनादि अनन्त होता है वह ध्रुव ही तो है। आत्मा अनादि अनन्त है। शरीर अनादि अनन्त नहीं है। रागादिक भाव अनादि अनन्त नहीं है। यह जगतका वैभव अनादि अनन्त नहीं है इसकारण यह कुछ भी ध्रुव नहीं किन्तु ज्ञानस्वभावमात्र शुद्ध आत्मा अनादि कालसे है और अनन्त कालतक रहेगा।

आत्माकी ध्रुवताका चौथा कारण—यह ध्रुव है इसका चौथा कारण है कि यह स्वतः सिद्ध है। जो नैमित्तिक चीज होती है वह ध्रुव नहीं होती। पानी होगया तो पानीकी गर्माहट क्या सदाकाल रहनेवाली चीज है। नहीं, क्योंकि वह नैमित्तिक है। रागद्वेष सुखदुःख आदि होगए तो क्या ये सदा काल रहनेवाली बातें हैं ? नहीं हैं क्योंकि नैमित्तिक है। जो स्वतः सिद्ध है वही ध्रुव होता है। नैमित्तिकभाव ध्रुव नहीं होता। सो ध्रुव तो मेरे लिए मेरा शुद्ध आत्मा ही है। अन्य कोई चीज ध्रुव नहीं है। यह मैं आत्मा शुद्ध हूँ, अब भी शुद्ध है अर्थात् पर द्रव्यसे तो रहित है और स्वधर्ममें

तन्मय हूँ। पर द्रव्यसे विभक्त हो और अपने आपके स्वरूपमें तन्मय हो इस को कहते हैं एकत्व।

आत्माके एकत्वके दो कारण :—आत्माकी एकता इन दो बातोंके कारण है (१) यदि मैं अपने आपके स्वरूपमें तन्मय न होऊँ तो फिर स्वयं ही क्या रहा ? सत्ता स्वयं क्या रही। चर्चा फिर किसकी की जाय मेरा अस्तित्व ही न रहे और (२) मैं पर द्रव्योंसे रहित न होऊँ, पर द्रव्योंमें एक तन्मय होऊँ तो भी मैं क्या रहा ? मेरी सत्ता तभी कायम है जब कि पर द्रव्योंसे तो रहित होऊँ और निज द्रव्यमें तन्मय होऊँ। तो ऐसी शुद्धता पर द्रव्यों में मौजूद है। अगर पर पदार्थ शुद्ध न हो तो पदार्थों की सत्ता नहीं रह सकती। सो जो भी है वह शुद्ध है। जव जीव मिथ्यात्वमें, विषय कषायमें पगा है उस कालमें भी यह जीव शुद्ध है, पर द्रव्योंसे रहित है और अपने आपके स्वरूपमें तन्मय है।

अंगुलियोंके दृष्टान्तपूर्वक एकत्वके हेतुवोंका समर्थन :—ये अंगुलियां हैं, इन्हें जकड़ लो, यह अंगुली यदि दूसरी अंगुलीमें एकमेक हो जाय तो इस अंगुली की सत्ता रहेगी क्या ? नहीं। और, यह अंगुली अपने ही परमाणुमें न मौजूद हो तो इसकी सत्ता रहेगी क्या ? नहीं रहेगी। आपकी आत्मा यदि दूसरी आत्मामें घुल मिल जाय तो आपकी आत्माकी सत्ता रहेगी क्या ? आपकी सत्ता अपने गुणोंमें तन्मय न हो तो आपकी सत्ता रहेगी क्या ? आप तभी है जव अपने गुणोंमें तो परिपूर्ण है और दूसरे समस्त द्रव्योंसे अछूते हैं, तब सत्ता है। इसही को कहते है शुद्धता।

निज शुद्धतत्त्वकी दृष्टिकी उपादेयता :—जगतके जीवोंकी दृष्टि इस शुद्धतापर नहीं गयी। यह प्राणी अपनेको दूसरोंसे मिला हुआ मानता रहा और अपने आपका कुछ पता भी न किया तो अपनी ही भूलके फलमें हम सब संसारमें भ्रमण करते चले आए। तो ऐसी शुद्धता हममें मौजूद है ऐसी शुद्ध त्रैकालिक यह मेरी आत्मा ही मेरे लिए ध्रुव है। मेरी वह सम्पदा क्या है जो सम्पदा मेरे साथ सदा रह सकती हो। न घर मेरे साथ सदा रह सकता न कुटुम्ब परिवार रह सकता। मेरा यह शुद्ध आत्मा मेरे साथ सदा रहता है। जो सदा रहता है उसकी प्राप्ति करो, उसपर दृष्टि दो। जो रह नहीं सकता, मिट जायगा उसकी दृष्टि रुचि करनेसे सिद्धि न पावोगे।

धर्मात्माकी शोभा वैराग्य :—भैया ! धर्मात्मा जीव की शोभा वैराग्यमें है। यदि प्रभूसे प्रीति है, उनके स्वरूपमें अनुराग है, अपनेमें कुछ धर्मात्मापने का परिणाम है तो धर्म किया समझिये। धर्म करनेके माने पर द्रव्योंसे न्यारा

अपने आपको मानना और ज्ञानसमान्य प्रकाशमात्र अनुभवना है। यों धर्म करो। धर्म करनेकी बात सभी कहते है। जब सूर्यग्रहण या चद्रग्रहण पड़ता है तो भंगी लोग भी निकल कर यह कहते हैं कि धर्म करो। तो उनके धर्म करोका मतलव कितना है कि आधपाव पावभर अनाज दो। तो क्या आपका आधपाव अनाज देनेका नाम धर्म है। धर्मका तात्पर्य है ममताको दूर करना। भगवानको सिर नवाया, पूजा किया, तो कुछ ममता भी छोड़ी क्या? नहीं छोड़ी तो फिर धर्म तो एक सूत भी नहीं हुआ। मोहको छोड़े विना धर्म नही हो सकता है। मोह छोड़नेका नाम ही धर्म है।

व्यर्थ व अनर्थ की ममता :— भैया; व्यर्थ ही मान रहे कि मेरा लड़का है, वह आत्मा जुदा है, उसका कर्म जुदा हैं, उसका सुख दुःख जुदा है, उसकी इच्छा जुदी है। क्या सम्वंध है? क्यों मोह किया जाय। मोह परिणामका नाम अधर्म हैं और मोह न रहे उसका नाम धर्म है। धर्मके कारण ही यथार्थ विजय क्या कि शांत रह गये निराकुल रह गये आनन्द रसमें लीन रह गये। विजय है। मोह करके तो मेरी हार है पद पद पर बातें सहनी पड़ेगी, ठोकरें खानी पड़ेगीं, पराधीन रहना पड़ेगा, अपने आपका आनन्द तो गवा दिया और दूसरोंका ही ध्यान रखा गया। यह मोह छूटता कैसे है? इसका उपाय इन अध्यात्म शास्त्रोंमें लिखा है उनका अध्ययन कर लाभ उठायें।

परिग्रहका फल असन्तोष :— जैसे ईंधन आगसे डालते रहनेसे आग शान्त नही हो सकती, आग तो बढ़ती ही रहेगी, इसी प्रकार परिग्रहका संचय करके यह सोचो कि हमें कभी शांति मिलेगी तो यह नहीं हो सकता। उससे तो अशांति ही बढ़ेगी। जिनके पास १००-५० की ही पूंजी थी और भाग्योदयसे आज लखपती हो गये तो उन्होंने तो सारी परिस्थितियोंका अनुभव किया ही होगा और यह सोचते होंगे कि उस गरीव स्थितिमें जितना हमें संतोष था, शांति थी आजके धनिकपने की स्थितिमें वह शान्ति व संतोष नहीं है। यह परिग्रह तो आगमें ईंधनका काम करता है, समुद्रमें नदियां चारों ओरसे गिरती हैं इतनी नदियोंका पानी आता है पर समुद्रको संतोष होता क्या? उसे संतोष क्या होगा? जितना पानी आयगा उतना ही समुद्र का नाम बढ़ेगा। वह समुद्र क्या यह कहेगा कि अब मुझे पानीकी जरूरत नहीं है। यदि और पानी आगया तो मेरा नाश हो जायगा। इसलिए पानी अब मत लावो, ऐसा क्या समुद्र सोचता है याने पानीसे समुद्रका विनाश होता है क्या? नहीं। इसी प्रकार परिग्रहके आते रहनेसे क्या तृष्णाका विनाश होता है? नहीं होता है। तृष्णाका विनाश तो ज्ञानसे ही होता है। और तृष्णा

का नाश हो तो जीवको शांति प्राप्त हो सकती है। इस कारण बाह्य पदार्थोंकी धुनि मत बनाओ। लोग धुन बनाते हैं तो बनाने दो, उनकी होड़ न करो, उनकी अनेकों वोट न लो लाभ कुछ नहीं मिलेगा।

ज्ञान व वैराग्यका आदर :—भैया ! जब भगवान वीतरागकी पूजाकी रुचि करते हो, संसार संकटोंसे मुक्ति पाने की इच्छा करते हो तो वीतरागताका आदर करो। कुछ हिम्मत तो बनाओ। उदयके अनुसार जो आना होता है आता है, हम उसकी धुनिके लिए जीवित नहीं है, किन्तु धर्मधारणके लिए जीवित हैं। मेरेमें ज्ञानका उदय हो, अपनी आत्मवृत्तिका मुझे संतोष हो। जगतके पर पदार्थों का जो परिणमन होता है उससे मेरा सुधार बिगाड़ नहीं है उन अध्रुव पदार्थों की प्रीति करनेमें मेरा हित नहीं है। यह मैं शुद्ध आत्मा चैतन्य स्वरूप ध्रुव हूँ और इस ध्रुव आत्माकी प्राप्तिसे ही कर्मों का विनाश है, शांतिका उदय है, संकटोंका विनाश है इस कारण आत्म-हितके लिए मेरेमें ज्ञानकी और शुद्ध आत्माकी प्रीति हो इस कामके लिए तन मन धन न्योछावर करना पड़े तो न्योछावर कर दो। मन, धन, बचन सब कुछ समर्पित करना पड़े ता उसम समर्पित कर दो। सब कुछ न्योछावर करके निज शुद्ध आत्माकी प्रतीति होती है तो हमने सब कुछ पाया और हमारा जीवन सफल है।

ध्रुव वस्तुकी उपादेयता—इस लोकमें कौनसी चीज प्राप्त करने योग्य है ? तो उत्तर मिला कि एक अपना आत्मा ही प्राप्त करनेके योग्य है। आत्मा कहीं बाहर गया नहीं है या बाहर नहीं ढूढ़ना है, याने कहीं बाहरी उपायसे प्राप्त करनेका श्रम नहीं करना है, किन्तु स्वयं ही यह आत्मा शुद्ध है, अपने आपके स्वरूपमें तन्मय है, आनन्दसे परिपूर्ण है। उसकी दृष्टिका ही नाम उसको प्राप्त करना है। उसको प्राप्त करना चाहिए क्योंकि वह ध्रुव है। जो ध्रुव है वही पानेके योग्य है, जो अध्रुव है, आज है कल मिट जाय ऐसी वस्तु पाकर उससे लाभ क्या उठायेंगे। अध्रुव वस्तु मिटेगी ना, तो अवश्य तब वियोगके समय दुःख होगा। तो न मिटनेकी चीज ध्रुव एक अपना शुद्ध स्वरूप है। यह आत्मा शुद्ध क्यों कहलाता है ? शुद्ध कहते हैं एकत्व विभक्तको, जो सबसे न्यारा अपना स्वरूप है वही शुद्ध कहलाता है।

शुद्ध आत्माके दर्शनकी पद्धति—भैया ! शुद्ध आत्माके एकत्वका दर्शन करना है तो अपने आत्माके इस रूपको देखना चाहिए कि यह मैं आत्मा समस्त परद्रव्योंसे न्यारा हूँ और अपने आपके धर्मसे तन्मय हूँ। परद्रव्य जितने हैं वे अपनेमें अतन्मय है, उनका स्वरूपास्तित्व जुदा है वे मुझमें न

थे, न हैं, न होंगे। एकक्षेत्रावगाह और विशिष्टतर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी कार्माण वर्गणायें तक तो मुझमें अतन्मय है और कर्म भी मुझमें तन्मय नहीं है।

आत्माका सहज स्वरूप—भैया ! यह आत्मा कैसा है ? स्वयं अपने आपमें अपने ज्ञानको धारण करता है। और इसप्रकार से ज्ञानानन्दात्मक अपने आपको यह चेतना है इस कारण यह ज्ञानानन्दात्मक है और स्वयं दर्शनभूत है। इसमे तो विशेष युक्तियाँ जाननेकी आवश्यकता ही नही। हम अपने आपके स्वरूपको बराबर देखते रहते हैं। जानना ही मेरा काम चल रहा है। जाननेकी विशेषता आत्माको छोड़कर अन्य द्रव्योंमे नही है। ज्ञानानन्दात्मकता इस आत्मद्रव्यमें ही है और जहाँ ज्ञानानन्दात्मकता है अर्थात् विशेष प्रतिभास है वहाँ सामान्य प्रतिभास अवश्य होता है। सामान्य प्रतिभासके विना विशेष प्रतिभास नहीं हुआ करता। हमें विशेष प्रतिभासका तो बोध हो जाता है पर हर कोई सामान्य प्रतिभासकी पकड नही कर पाते है। पर कितना ही विशेष प्रतिभास होता चला जाय, कितना ही विकल्पात्मक परिणमन होता चला जाय किन्तु वह सब विकल्पात्मक प्रतिभास सामान्य प्रतिभासको लिए हुए रहता है। अर्थात् सामान्य प्रतिभास नही होता तो विशेष प्रतिभास भी नहीं हो सकता। विशेष प्रतिभास तो हमारे ज्ञानमें आता है और सामान्य प्रतिभास हमारे ज्ञानमें नहीं आ पाता, किन्तु सामान्य प्रतिभासरूपसे अनुभव हुआ करता है। और युक्ति भी इसमें यह है कि सामान्यके विना विशेष कुछ नही है।

आत्माकी अतीन्द्रियमहार्थता—भैया ! यह अतीन्द्रिय महार्थ है, इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है इसलिए अतीन्द्रिय है। इन्द्रिय इसका स्वभाव नहीं है इसलिए अतीन्द्रिय है। इन्द्रियोंके द्वारा इसका कोई काम नही हुआ करता है इसलिए अतीन्द्रिय है। इन्द्रिय न हो तो भी इसकी सत्ता नही मिटती है इसलिए यह अतीन्द्रिय है और महार्थ है। जगतके समस्त द्रव्योंमें एक आत्मद्रव्य ही व्यवस्थापक है, प्रतिभासक है और महान् मोह पुरुषार्थका साधक है। इस कारण महार्थ है। सब द्रव्योंका) ऐश्वर्य है, किन्तु ज्ञातृत्व गुणके कारण आत्माका अद्भुत उत्कृष्ट ऐश्वर्य है।

आत्माकी निश्चलता :—यह आत्मा प्रति क्षण जाननवृत्ति करता रहता है जिसपर भी यह अचल है। यह जानता तो समस्त विश्वको है पर किसी भी पदार्थमें यह तन्मय नही होता। मोही आत्मा भी तो जानता है और राग परिणमन करता है, किन्तु परमे तन्मय नही हो सकता। मोही जीव केवल

उपयोगसे ही परमें तन्मय हुआ करते हैं प्रदेशसे द्रव्योंसे परद्रव्यमें तन्मय य हीं जीव भी नहीं हो सकता इस लिए यह अचल है।

आत्माकी स्वतन्त्रता—आत्मा सर्वत्र सर्वदा अनालम्ब है। इस आत्माका अपना कार्य करनेमें किसी परपदार्थके आलम्बनकी आवश्यकता नहीं है। यह आत्मतत्त्व तो स्वयं सत् है और स्वयं परिमणता रहता है। दुनियाँमें किसी भी पदार्थको अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए, अपनी अर्थक्रिया निर्बाध चलानेके लिए किसी भी परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं होती। यह आत्मा भी इन समस्त परद्रव्योंके अलम्बनसे रहित है, सो यह अपने आपमें ज्ञान को धारण किए हुए है। इसकारण आत्मा निरालम्ब है।

आत्माकी द्रव्यशुद्धताका विवरण—इसप्रकार यह आत्मा विशेष प्रतिभास को लिए हुए है और विशेषप्रतिभासको लिए हुए अपने आपको चेत रहा है। इस लिए स्वयं दर्शनभूत है। ऐसा यह आत्मतत्त्व परद्रव्योंसे तो अतन्मय है और अपने आपके धर्मका विभाग न करनेसे अपनेमें तन्मय है, ऐसा एकत्व इस आत्मामें है। धर्मके नामपर सब कुछ श्रम किया और कभी धार्मिकता जगी भी तो निर्दोष, सर्वज्ञ परमात्माके स्वरूपको भी इस रूपसे समझा कि जो रागद्वेषरहित है, शरीररहित है, वह सिद्ध भगवान है। पर इन सबके साथ यदि वस्तुका एकत्व भी समझा हो तो ये सब श्रम ज्ञान संयम और तपमें बड़े साधक होते।

एकत्वका तात्पर्य—एकत्वके देखनेका अर्थ यह है कि सबसे न्यारा और अपने आपके गुणोंमें तन्मय। मैं सबसे न्यारा हूँ, अपने आपमें स्वयं परिणमता हूँ। इस मुझ आत्मतत्त्वका किसी अन्य द्रव्यके साथ कोई सम्पर्क नहीं है। तब मैं उन बाह्य पदार्थोंमें विकल्प करके क्यों उनकी ओर आकर्षित होऊँ और अपनी शांति और स्वास्थ्यमें बाधा डालूँ। यह ज्ञानीके अन्तरंगकी आवाजकी उठी प्रेरणा है जिसने वस्तुके एकत्वको समझा है। इस प्रकार यह मैं शुद्ध आत्माको मानता हूँ। ज्ञानी पुरुष इसीप्रकार अपने शुद्ध आत्माको मानते हैं। आत्माकी शुद्ध दशा प्रकट नहीं है और इस शुद्ध दशाके रूपमें वह ज्ञानी अपनेको शुद्ध नहीं मानरहा है। शुद्ध दशाके रूपमें अपनेको शुद्ध माननेकी बात एक अशक्त दृष्टि है। शुद्ध तो यह है नहीं, और शुद्ध पर्यायका जो कि परमात्मा है उसको देखते रहें तो आलम्बन तो परका हुआ फिर निर्मल पर्याय किस शुद्धके आश्रयसे प्रकट हो। अपने आपमें अपने आपको किस रूपसे देखा जाय कि उत्तरोत्तर शुद्ध पर्याय प्रकट होती चली जाय। भैया! शुद्ध परिणमन एक द्रव्यसे हुआ करता है। उसमें अन्य कोई

पदार्थ निमित्त नहीं होता। उस परिणमनके आधारभूत इस शुद्ध आत्मतत्त्व को देखो तो यही है मोक्षमार्गका उपाय।

स्वरूपविधि व पररूपनिषेध—मैं अपने आपके स्वरूपसे तो हूँ, परके स्वरूपसे नहीं हूँ। परद्रव्योंके स्वरूपसे नहीं हूँ इसका इतना अर्थ है कि परद्रव्योंके रूपसे नहीं हूँ। परपदार्थोंके प्रदेशरूपसे नहीं हूँ और परकी परिणतियोंके कारण नहीं हूँ। परके गुणोंके रूपसे नहीं हूँ अर्थात् परपदार्थों का न मैं अधिकारी हूँ और न कर्ता हूँ। परके द्रव्यक्षेत्र और भावसे न्यारा हूँ इस कारणसे मैं किसी परका स्वामी नहीं हूँ। और परके कालसे, परिणमनसे न्यारा हूँ, इस कारण मैं परका कर्ता नहीं हूँ। मैं इस स्वरूप रूपसे परद्रव्यों से न्यारा हूँ और अपने आपमें तन्मय हूँ। ऐसी एकता मुझमें है उस एकत्व-रूप शुद्ध आत्माको मैं मानता हूँ। इस प्रकार स्वरूपसे हूँ, पररूपसे नहीं हूँ। ऐसी एकता आत्मामें बतायी गई है।

पररूपनिषेधके फलित अर्थ—भैया ! इस परके रूपसे न होनेके वर्णनमें ये सब वर्णन आ जाते हैं, परकी वजहसे मुझे सुखदुःख नहीं है। परके कारण मेरेमें कोई परिणति नहीं होती क्योंकि परके साथ मेरा स्वरूप सम्बन्ध है ही नहीं। अब दूसरी प्रकारसे आत्माकी एकताको बतलाते हैं कि इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे तो यह रहित है और स्पर्शनादिके ग्रहण करने रूप अपने धर्मसे तन्यय है, इसप्रकार इस आत्माका एकत्व है।

आत्माकी इन्द्रियसे पृथक्तारूप शुद्धि—इस इन्द्रिय और जीवमें घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होरहा है, पर परमार्थसे देखा जाय तो आत्मामें इन्द्रियात्मकता कतई नहीं होती। यद्यपि इन्द्रियात्मकताकी बुद्धिसे मैं सुखदुःख पा रहा हूँ फिर भी इन्द्रियात्मक परपदार्थरूप नहीं हूँ। उससे मैं पृथक् हूँ। स्पर्शनादिग्रहणात्मक स्वधर्ममें तन्मय हूँ। आत्माका काम तो आत्मामें जो भाव हैं, गुण है उसकी अर्थक्रिया होनी है, सो होती है। पर इन्द्रिय प्रतिनियत स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दोंको ग्रहण करता है। और यह आत्मा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द और भी जितने पदार्थके गुण पर्याय हैं उन सब का ग्रहण करता है। वस्तुतः तो यह द्रव्येन्द्रिय किसी भी पदार्थको जानती नहीं है, किन्तु भावेन्द्रिय ही समझने वाली है। यहाँ भावेन्द्रियको भिन्न बतलाकर ज्ञायक स्वभावरूप आत्मतत्त्वको दिखाया जारहा है।

आत्माके एकत्वके दर्शनका प्रथम व द्वितीय यत्न—पहली एकतामें यह एकत्व था कि यह आत्मा समस्त परपदार्थोंसे अत्यन्त जुदा है। अब इस दूसरे एकत्वमें यह बताया जारहा है कि यह आत्मा उन छुटपुट भावेन्द्रियात्मक

भावोंसे जुदा है। ये भावेन्द्रियां स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णको ग्रहण करती है, किन्तु ज्ञायकस्वभावी यह आत्मा स्वरसतः स्वभावसे समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायोंको जानता है, इसलिए इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे तो यह आत्मा जुदा है और स्पर्शनादिको ग्रहणकर जाननरूप जो आत्माका धर्म है उस धर्ममें तन्मय है, इसप्रकार यह मैं आत्मा अपने एकत्वमें हूँ। यह तो केवल जानन में ही तन्मय है, इसके जाननकी उत्पत्ति किसी ढंगसे हो, इन्द्रियोंके द्वारा और अन्य-अन्य बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें उनके सहयोगमें हो, लेकिन जो जाननवृत्ति हुई वह आत्माके गुणोंके परिणमनसे हुई। किसी दूसरे पदार्थको साथ लेकर नहीं हुई इसलिए इस आत्मामें एकत्व है। ऐसी शुद्ध आत्माको मैं मानता हूं। इसप्रकार दो प्रकारसे आत्माका एकत्व बताया है। अब तीसरे प्रकारकी शुद्धता आगे कहेंगे।

दोनों एकत्वमें एकत्वका लक्षण :—यहाँ शुद्धताका मतलब वीतरागतासे नहीं, राग द्वेषसे नहीं किन्तु परसे विविक्त तथा अपने आपमें तन्मय इसे कहते हैं शुद्ध। तो पहिले एकत्वमें कहा कि यह आत्मा समस्त पुद्गलोंसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंसे और अपने आपके अतिरिक्त जितने भी अनादि अनन्त समस्त आत्माएँ है उन सबसे यह न्यारा है इस प्रकारकी शुद्धता पहिले एकत्वमें दिखाई। शुद्धताका जब जब प्ररूपण द्रव्यानुयोगमें हो तब तब उसका अर्थ लगाना चाहिए कि यह अन्यसे न्यारा है। इसे कहते हैं शुद्ध। दूसरे एकत्वमें बताया है कि इन्द्रियात्मक परद्रव्यसे यह जुदा है और स्पर्शनादिकके ग्रहण करने रूप धर्ममें यह तन्मय है ऐसा यह आत्मा एकत्व-विविक्त रूप शुद्ध है।

आत्माके एकत्वके वर्णनकी तृतीय सरणी :—अब तीसरे एकत्वमें बतलाते है चूंकि परमार्थसे आत्मा किसी भी परद्रव्यको नहीं जानता है किन्तु क्षण-क्षणमें क्षयके लिए प्रवृत्त होने वाले परिच्छेद्य आत्माके पर्यायको ही यह ग्रहण करता है और छोड़ता है। जैसे दर्पणके सामने कोई लड़के ऊधम मचा रहे हों तो दर्पण तो निरंतर यह कह रहा है कि पर उपाधिका निमित्त पाकर प्रति समय अपने आपमें नया-नया प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है और छोड़ता है। यही उसका काम है। इसी प्रकार आत्माका यही काम है कि प्रतिक्षण नया नया जाननरूप परिणमन करे नया नया ज्ञेयाकार रूप बनता रहे। सो तीसरी सरणीमें यह बात कह रहे हैं कि यह आत्मा अपने ही क्षण-क्षणमें नये-नये होने वाले ज्ञेयाकारको जानता है, पर यह मैं ध्रुव आत्मा उन ज्ञेयाकारों रूप नहीं हूँ। पर पदार्थ रूप नहीं हूँ, यह तो पहिले एकत्वमें

ही कह दिया था। इस तीसरे एकत्वमें यह कह रहे हैं कि परमार्थसे मैं जिस ज्ञेयाकारको जानता हूँ उस ज्ञेयाकार रूप भी मात्र मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह ज्ञेयाकार पर्याय प्रतिक्षण दूर होरही है। सो क्षण-क्षणमें क्षयके लिए परिणमते हुए परिच्छेद्य पर्यायके ग्रहण करने और छोड़नेका भाव होनेसे यह अध्रुव है। मैं तो ध्रुव हूँ ना? अध्रुव रूप मैं अपने आपको नहीं पा रहा हूँ। मैं वह हूँ जो अनादिसे हूँ, अनन्त काल तक हूँ, एकत्वस्वरूप हूँ। ऐसा यह मैं अनादि अनन्द एकत्व ज्ञायक स्वभाव आत्मा ध्रुव हूँ।

आत्माकी आन्तरिक शुद्धता :—यह आन्तरिक अंतरंग एकत्व है कि अपने आपके ज्ञेयाकार परिणमनोंसे भी मैं पृथक् अपनेको देखरहा हूँ। केवल अनादि अनन्त त्रैकालिक स्वभावमात्र अपनेको मानरहा हूँ। सो मैं या चेतन्य स्वभावसे तो तन्मय हूँ और विभावोंसे रहित हूँ तथा परिच्छेद्य पर्यायसे ज्ञेयाकार पर्यायसे भी मैं जुदा हूँ। वे पर्यायें क्षण क्षणमें क्षय होती रहती हैं। इस प्रकार परिच्छेद्य जो परिणमन है वह पर द्रव्य हुआ अनादि अनन्त ध्रुव जो एक ज्ञायक स्वभाव है वह मैं निज द्रव्य हूँ। ऐसा अपने धर्म से तो अविभक्त हूँ और परसे विभक्त हूँ। अथवा जाननोंसे मैं न्यारा हूँ और उनके निमित्तसे जिसमें जाननरूप स्व धर्मकी व्यक्ति होती है उस स्व धर्मसे अविभक्त ऐसा यह मैं शुद्ध आत्मा हूँ। शुद्ध आत्माके विषयमें इस प्रकार त्रिपुटीसे उत्तरोत्तर अंतरंगकी ओर ले जाते हुए शुद्धताका वर्णन होता है। मैं ऐसे अपने आपको, शुद्ध आत्माको मानता हूँ।

निज शुद्धताके दर्शनका प्रताप :—ऐसे निज शुद्धत्वके दर्शनका वह प्रताप है जिसके कारण कर्मोका क्षय होता है, सम्वर होता है। सम्वर और निर्जरा करनेका उपाय और क्या है? इस प्रकार अपने शुद्धत्वको मानो। इस मान्यतामें कितने विकल्पोंका विश्राम हो जाता है? जहाँ विकल्प नहीं है वहाँ ही यथार्थ चरित्र प्रकट होना है मैं अपने आपको अत्यन्त शुद्ध आत्मा मानता हूँ। कुन्दकुन्द स्वामीके शब्दोंमें यह ज्ञानी अपने आपको भा रहा है कि इस प्रकार मैं ज्ञानात्मक दर्शनभूत अतीन्द्रिय महार्थ ध्रुव अचल निरालम्बी अपने आपको शुद्ध मानता हूँ। यही भावना हो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ मैं ज्ञानका ही ज्ञान करता हूँ। भावात्मक अर्थक्रियाके अतिरिक्त और मेरा कोई काम नही है। जानता हूँ, जाननस्वरूप मेरे कर्म है और जानन स्वरूप मेरा फल है। परमार्थसे जाननेके अतिरिक्त मुझमें अन्य कोई व्यवसाय नही है। ऐसे ज्ञानी संत जब अपने आपको मात्र ज्ञाननन्दात्मक ही अनुभव करते है तो उस समय अनेक संकट विकल्प विश्रान्त हो जाते हैं। और केवल

ज्ञान रसका स्वाद रहता है।

संकट मात्र भूल—भैया ! इस जीवपर सबसे बड़ा संकट तो विकल्पोंका है, कोई दूसरा इसे ताड़ नहीं रहा, पीट नहीं रहा। ताड़े पीटे भी तो भी उसकी प्रवृत्तिसे कुछ मुझमें आता नहीं है। मैं ही मोही हूँ, ममता किए हुए हूँ। सो बाह्यमें अपने आत्माकी दृष्टि देकर भीतर ही में अनात्मतत्त्वरूप अपनेको समझकर मैं अपनेको दुखी किया करता हूं, नहीं तो मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानमात्र है और मेरा कार्य शुद्ध जाननवृत्ति है। इसप्रकार यह शुद्ध आत्मा यह एक ही ध्रुव है, इसकी ही प्राप्ति करना चाहिए।

शुद्ध आत्माकी प्राप्तिका उपाय—इसका उपाय शुद्धनयकी दृष्टि है। शुद्ध-नयकी दृष्टिमें चिन्मात्र आत्मतत्त्व विषय होता है और शुद्धनयसे जो जाना है उसका जब वर्णन करते हैं तो ज्ञानमात्र ही निरूपण हो पाता है। ऐसा यह मैं शुद्ध हूं। मोटे रूपमें कहें तो जितने अपने आपको सबसे न्यारा समझ सकोगे उतनी ही शांति प्राप्त होगी। जितना अपनेको परद्रव्योंमें मिला हुआ समझोगे उतनी ही अशांति होगी। परसे मिला हुआ, लगा हुआ आशय हो तो उसको अशुद्ध दृष्टि कहते हैं। परसे न्यारा अपने आपको मानें तो उसे शुद्ध दृष्टि कहते हैं। भैया, परिचय करके भी देखा होगा कि जब-जब अपनेको दूसरोंसे न्यारा माना होगा तब-तब आप शांति प्राप्त करते होंगे और जब परमें लगते होंगे तब अपनेको अशांत पाते होंगे। परमें लगनेको अशुद्ध दृष्टि कहते हैं और परसे न्यारा अपनेको माननेको शुद्धदृष्टि कहते हैं।

शुद्ध होनेका उपाय शुद्ध दृष्टि—आत्मा स्वरूपसे ज्ञानमय है, आनन्दघन है। इसमें न ज्ञानकी कमी है और न आनन्दकी कमी है। यदि ज्ञानानन्दमय अपने आत्माको समझ जावो तो वहाँ मोक्षमार्ग मिलता है। और, यदि अपनेको पर्यायरूप ही समझो, कि मैं अमुक गाँवका वासी हूँ, अमुक पोजीशन वाला हूँ, इतने बच्चोंका बाप हूँ, किसी तरह भी परद्रव्योंसे अपने अपनेको लगा हुआ निरखोगे तो कर्मधूलिका बन्धन होगा। मैं सबसे न्यारा हूँ, पुद्गलादिसे न्यारा हूँ, परजीवोंसे न्यारा हूँ, धर्म और अधर्म, आकाश, द्रव्योंसे न्यारा हूँ, इन द्रव्येन्द्रियोंसे न्यारा हूँ, भावेन्द्रियसे न्यारा हूँ, और किसी भी प्रकार जानना बना, वहाँ परमार्थसे अपने आपके ज्ञेयाकार परिणमनको जाना, वहाँ भी मैं ज्ञेयाकारसे न्यारा ध्रुव ज्ञायकस्वरूप हूँ। ऐसा अपने आपको देखें, इसे कहते है अपने आपके एकत्वको देखना, अपनी शुद्धताका निरखना। ऐसी शुद्धताकी दृष्टिके उपायसे ही अरहंत भगवंत सिद्ध महंत हुए है। इनके दर्शनसे हमें यही शिक्षा लेनी चाहिए कि अपनेको

सर्वप्रकारसे न्यारा देख सकूं, बस इसी देखनेका नाम ही शुद्ध दृष्टि है, ऐसे शुद्ध आत्माको मैं मानता हूँ।

ज्ञानीकी ज्ञानभावना—ज्ञानी पुरुष अपने आत्माको शुद्ध एकत्वविभक्त देखरहा है। वह अपने आपकी भावना कररहा है कि यह मैं जो सहज परम आनन्दस्वरूप हूँ, आनन्द ही जिसका स्वभाव है ऐसा अपने आत्माको पारहा हूँ। कैसा है यह आत्मतत्त्व? जो रागादिक दोषोंसे रहित है, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि संयोगोंसे पृथक् है। आत्माका जो सहज स्वरूप है, असाधारण लक्षण है उसको दृष्टिमें रखते हुए सोचो कि यह मैं ज्ञायकस्वभाव-मात्र हूँ। यद्यपि मेरी आत्मामें परिणमन अनेक प्रकारके होते हैं किन्तु जो मेरे स्वयंके कारण हो, स्वभावके कारण हों वह तो मैं हूँ और जो स्वभावके कारण नहीं है किन्तु उपाधिका निमित्त पाकर है उसकी आत्म-भूमिकामें क्षणवर्तना है फिर भी मैं वह नहीं हूँ। ऐसा मैं शुद्ध ज्ञायक स्वभाव ध्रुव हूँ।

आत्माकी टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चलता—यह मैं आत्मा निश्चल हूँ, टंकोत्कीर्णवत् निश्चल हूँ। जैसे टाँकीसे उकेरी हुई प्रतिमामें कोई अङ्ग हटा नहीं सकते, हाथ, पैर अंगुली कुछ हिला न सकेंगे, सरका न सकेंगे। वह पूर्ण प्रतिमा ज्योंकी त्यों अचल है। इसीप्रकार यह मैं जो स्वलक्षणभूत ज्ञायक स्वभावी हूँ सो मैं पूर्ण अचल हूँ। यह मैं चलित नहीं हो सकता।

निजसे परमात्मत्व—दूसरी बात यह है कि जैसे प्रतिमा जो बनती है वह उस ही उपादानभूत पाषाणमें से प्रकट होती है। कारीगर आदि अनेक कारण हैं पर उन कारणोंसे वह प्रतिविम्ब प्रकट नहीं होता, किन्तु वह अपने ही पाषाणमें प्रकट होता है। इस ही प्रकार यह आत्म-विकाश यद्यपि आत्मविकाशके निम्न पदोंमें बहुतसी सामग्रियां होती है, व्रत, तप आदि आवश्यक कर्तव्य हैं पर वे सभी मन, वचन, कायकी चेष्टायें हैं। मन, वचन, काय अचेतन पदार्थ हैं, उन मन, वचन, कायोंसे आत्मविकाश नहीं होता किन्तु उपादानभूत निज आत्मासे ही आत्मविकाश होता है।

निजमें परमात्मत्व—तीसरी बात यह है कि पाषाणसे निकलनेवाला वह प्रतिविम्ब पाषाणमें ही है किन्तु पाषाणके जो अनेक खण्ड हैं उन अनेक खण्डोंसे वह प्रतिविम्ब आवृत है। वह प्रतिविम्ब किसी अन्य वस्तुओंसे विकसित नहीं होता है और विकसित भी क्या होता है, पाषाणमें जिस जगह जो था वहींका वहीं प्रकट हुआ है। वह बनाया नहीं गया है किन्तु जो आवृत था, ढका था वह ही प्रकट होता है। इसप्रकार वह परमात्मपद,

शुद्ध विकाश जिसका नाम सिद्ध भगवान है, यह शुद्धस्वरूप कहींसे बनाया नहीं गया, किन्तु वह आत्मामें स्वयं ही अपने अस्तित्वके कारण अनादिसे था, जो कि रागद्वेष आवरणोंसे वह ढका हुआ था। जैसे पत्थरसे निकली हुई मूर्तिके ढके रहनेका ढंग और किस्मका है—वैसे ही यहाँ आत्माके शुद्ध चैतन्य परमात्मपदके ढकनेका ढंग और प्रकारका है। पर ढका वहाँ भी ढका यहाँ भी। जब रागद्वेष आदि आवरण प्रज्ञारूपी छैनीसे पृथक कर देते हैं तो वहाँ परमात्मपद प्रकट हो जाता है।

अशुद्ध अवस्थामें भी परमात्मत्वके दर्शनका दृष्टान्त—भैया, पाषाणका खण्ड सामने रखा है और आपने कारीगरको बुलाया तथा कहा कि देखो इसमें वीर प्रभुकी ऐसी मूर्ति निकालो, आकार, प्रकार, मुद्रा, फोटो सब दिखा दिया। कारीगर बड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे पहिले पाषाण खण्डको देखता है। यों देखता है कि कारीगरके उस पाषाणमें वह मूर्ति एकदम झलक गयी है। जैसी कि लोगोंको वह मूर्ति बादमें दिखा करेगी। उस पाषाणमें दबी हुई मूर्ति उसे निरख गई ज्ञानबलसे, आँखोंसे नहीं। अब उद्यम करता है उस मूर्तिको ढकनेवाले जो अगल बगलके पाषाण खण्ड लगे हैं उन खण्डोंको बाहर करनेका। उनको बाहर करनेके लिए पहिलेसे वह हथौड़ी और छैनी ग्रहण करता है। तथा मामूली सावधानी रखकर उन टुकड़ोंको निकालता है। कुछ टुकड़े निकल जानेके बाद कुछ छोटा छैनी और छोटी हथौड़ी लेता है अब कुछ विशेष सावधानी रखकर पाषाणके टुकड़ोंको अलग करता है इसके बाद बिल्कुल छोटी छैनीसे जो अत्यन्त छोटी है, तथा अत्यन्त छोटी हथौड़ी लेकर बड़ी सावधानीसे बहुत धीरे-धीरे पाषाणके नन्हें-नन्हें कड़ोंको अलग करता है। बस ये तीन प्रकारके उद्यम होजाने पर मूर्ति प्रकट हो जाती है। लोगोंको दिखने लगती है। भैया, वह मूर्ति पाषाणमें पहिलेसे ही बसी हुई थी, बनाई नहीं गई है। कारीगरने बाहरसे लाकर उसमें कुछ नहीं लगाया। वह मूर्ति तो वहींकी वहीं जो अन्तर अंशमें थी प्रकट होगई।

अशुद्धावस्थामें भी परमात्मत्वका अन्तर्दर्शन:—इस ही प्रकार यह परमात्म पद जिसकी हम रोज उपासना करते हैं, पूजा करते हैं, जिसकी चर्चा सुनते हैं और ऐसा होनेका मन किया करते है वह परमात्मपद कहीं बाहरसे लाया नहीं जाता। इसमें अन्य चीज कोई बाहरसे नहीं लगाई जाती, यह बनाया नहीं जाता, किन्तु वही है सहज स्वरूप जो आत्मामें अनाद्यनन्त है। उस सहज स्वरूपके आवरण जो द्रव्य कर्म, भावकर्म और नो कर्म है, इनको अलग कर दिया जाय, इनको हटा देनेपर वह परमात्मपद स्वयमेव प्रकट

हो जाता है।

परमात्मत्व विकासका प्रथम उद्योग :—तब पहिले उद्यम क्या है कि मामूली सावधानीसे मामूली हथौड़ी छैनी लेकर पहिले शरीरसे अपनेको न्यारा समझो। धन वैभव की कहीं चर्चा नहीं, धन वैभवसे तो आत्माका रंच भी सम्बन्ध नहीं है। भैया! जड़ पदार्थोंमें आत्मीयता ढूढ़ना यह तो महती मूढ़ता है, इससे बाहरमें करनेका उपदेश तो देने की आवश्यकता नहीं है किन्तु जो आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप रह रहा है ऐसे आवरणसे दूर होने का उपदेश किया जाता है प्रथम उद्योग इस शरीरसे अपने को भिन्न पहिचानने का है। शरीरका विकल्प हटाकर अपनेको पृथक् समझो।

परमात्मत्वविकासका द्वितीय उद्योग :—दूसरे उद्योगमें इस शरीरसे भी सूक्ष्म जो कार्मण शरीरका आवरण लगा है ऐसी उपाधि साथ है उससे अपनेको भिन्न निरखना है। इसमें कुछ साधना, कुछ उपासना करना पड़ता है। प्रज्ञा भी कुछ सूक्ष्म मालूम पड़ती है। ये द्रव्य कर्म जड़ हैं, भिन्न-भिन्न हैं, पौद्गलिक है। यह मैं आत्मतत्त्व चैतन्य हूँ, स्वयं हूँ। इस प्रकार देखकर इन द्रव्य कर्मोंसे भी अपनेको न्यारा समझो।

परमात्मत्व विकासका तृतीय उद्योग :—इसके बाद फिर बहुत सूक्ष्म प्रज्ञा लेकर और बड़ी सावधानी रखकर अपने ही आत्माके गुणका जो विकार कलंक है उस विकार कलंकको हटाना है, विकारको दूर करना है बड़ी सावधानीसे, क्योंकि वह तो आत्माके उस कालमें तन्मय है। ये दो आवरण तो एक क्षेत्रावगाहमें हैं किन्तु आत्मामें तन्मय नहीं हैं, न शरीरमें तन्मय है और न कर्मोंमें तन्मय हैं, किन्तु आत्मविभाव जिस क्षण होता है उस क्षण आत्मासे तन्मय है। ऐसे आत्माके अत्यन्त निकट बसे हुए भावकर्मोंसे अपने को दूर किया जाना है। तीसरे उद्योगमें जहाँ रागद्वेषादिक भावोंको, तर्क वितर्कोंको, छुटपुट ज्ञानको और अपने आपमें ज्ञेयाकाररूप परिणमे हुए निज परिणमनसे भी भिन्न ध्रुव निश्चल ज्ञायकस्वरूप अनुभवमें आता है तो उस अनुभूतिका प्रताप है परमात्मपदका विकास। यह परमात्मपद कहीं बाहरसे नहीं लाया जाता है अर्थात् वह सब कुछ यहाँ ही स्थित है, केवल उसके आवरणको दूर करना है इस प्रकार ध्रुव अविनाशी यह मैं आत्मतत्त्व हूँ।

आत्माकी ज्ञानदर्शनात्मकता :—यह मैं आत्मतत्त्व अखण्ड ज्ञान दर्शन स्वरूप हूँ। ज्ञान दर्शन उपयोग रूप नहीं, किन्तु अखण्ड ज्ञान दर्शनमय हूँ। ये ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग आत्माकी वृत्तियां हैं, परिणतियां हैं। ये होती हैं, दूसरी क्षण नहीं रहती। दूसरा ज्ञानोपयोग, दूसरा दर्शनोपयोग होता है यह

सब ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग मेरा अवश्यम्भावी नियमित परिणमन है, फिर भी यह परिणमन है। मैं स्वयं क्या हूँ ? ध्रुव हूँ। इस परिणमनरूप ही यदि मैं हूँ तो यह परिणमन मिटा तो इसका अर्थ यह होगा कि मैं भी कुछ नहीं रहा। यह शुद्ध परिणमन भी, स्व परिणमन भी मिटता है पर मैं नहीं मिटता। ऐसा शाश्वत एक ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूँ, अखण्डज्ञानदर्शनस्वभावात्मक हूँ।

आत्माका अतीन्द्रियपना :— मैं अतीन्द्रिय हूं, ये इन्द्रिय मूर्त हैं किन्तु मैं अतीन्द्रिय हूँ। जब आत्मा किसी गड़बड़ीमें आ जाता है, आकुलताओंसे ग्रस्त हो जाता है, पागलपनका जब परिणमन हो जाता है, लोग हैरान हो जाते हैं उसको समझानेके लिए, गोदमें लेकर भी अनेक प्रकारके मधुर वचनोंसे बहुत-बहुत प्रेम दिखाकर भी खूब समझाया जाता है पर वह कब्जेमें नही आ पाता है, कोई मूर्त चीज भी तो नहीं कि जो अधिकारमें आ सके। यह आत्मा अमूर्त है, इसमें विकार यद्यपि निमित्तदृष्टिसे मूर्त कहे जाते हैं फिर भी रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित होनेके कारण अमूर्त हैं और फिर जो स्वरूप है, स्वभाव है वह तो अमूर्त ही है। ये इन्द्रिय मूर्त हैं किन्तु मैं आत्मा अमूर्त हूँ ये इन्द्रिय विनश्वर हैं किन्तु यह मैं आत्मा अविनश्वर हूँ। इस प्रकार इन्द्रियोंसे रहित होनेके कारण अमूर्त अविनाशी अतीन्द्रिय स्वसंवेद्य हूँ।

आत्माकी महार्थता :— ज्ञानी पुरुष अपनेमें सहज शुद्ध आत्मस्वरूपके दर्शन कर रहा है। यह मैं महार्थ मोक्षरूपी महान् पुरुषार्थका साधने वाला यह ही तो शिव है, महान् प्रयोजन है, महात्मावोंका लक्ष्यभूत है, ऐसा यह मैं महान् अर्थ हूँ।

आत्माकी अचलता :— यह मैं अचल हूँ, मन, वचन, कायकी चेष्टा ही चल स्वरूप है। मनकी कितनी द्रुत गति होती है। अभी यहाँ बैठे हैं हजारों मील तक यह मन एक सेकेन्डके सौवें हिस्सेमें ही घूम आता है और अपने आपको कितना परेशान और उपद्रुत कर डालता है। ये वचन भी बड़े चचल हैं। किसीको तो वचनोंका पता भी नहीं पड़ता कि इसके मुखसे फूल झड़ेंगे या बाण निकलेंगे ? जो क्षणमें रुष्ट हो जाता है, क्षणमें तुष्ट हो जाता है, जिसकी समताकी प्रकृति नहीं है पैदा उसके वचनोंका कुछ अनुमान नहीं किया जाता। ये वचन भाषावर्गणाओंकी पर्यायें हैं। ये पैदा होती हैं और नष्ट होती हैं। इस मुखको धनुषकी उपमा दी गयी है। जब कोई मनुष्य बोलता है तो बोलते हुएमें इस मुखका आकार खींचे हुए धनुषकी तरह बन जाता है और इस मुखसे जो कठोर वचन निकलते हैं वे बाणोंकी तरह एकदम

निकलकर दूसरोंमें चुभ जाया करते हैं। ये वचन अत्यन्त चंचल हैं और शरीर भी अतिचंचल हैं। कितनी ही स्थिरतासे आप बैठे हुए हों फिर भी चञ्चलता चलती ही रहती है, किन्तु यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे निश्चल हूँ।

आत्माकी निरालम्बता व अध्रुवकी प्रीतिके त्यागकी प्रेरणा :— यह मैं स्वाधीन हूँ अपने शुद्ध ज्ञान स्वभावसे भरपूर हूँ। समस्त पराधीन परद्रव्योंके आलम्बनसे रहित हूँ, निरालम्ब हूँ। ऐसा यह मैं अपने आपके स्वरूपको प्राप्त होता हूँ। अन्य जो पर्यायें हैं, समागम हैं वे भी अध्रुव हैं, जैसे चलते हुए मुसाफिरके शरीरपर नाना प्रकारके वृक्षोंकी छाया आकर तुरन्त निकल जाती है मुसाफिर बरावर चलता जाता है और सड़क पर जो पेड़ पड़ते हैं उनकी छाया इस शरीरमें आती है। वह छाया थोड़ी देरको छूती है और निकल जाती है। इसी प्रकार यह द्रव्यआत्मा कितनी गतियोंमें भ्रमण कर रहा है। कितने संयोग मिलते है, कितनी परिणतियां होती हैं वे मात्र वृक्षों की छायाकी तरह अध्रुव हैं उन अध्रुव समागमोंसे लाभ क्या है? उन अध्रुव समागमोंकी प्रीतिको त्यागकर एक इस ध्रुव आत्माको ही ग्रहण करो।

अपना एक आत्मा ही ध्रुव है। उस अपने ध्रुव तत्त्वके अतिरिक्त अन्य चीजें सब अध्रुव है इसलिए उनका ग्रहण न करना चाहिए ऐसा अब यहाँ उपदेश करते हैं :—

> **देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा सत्तुमित्तबंधुजणा ॥**
> **जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१९३॥**

देह है, धन है, सुख दुःख अथवा शत्रु मित्र जन है, ये सब चीजें ध्रुव नहीं है। ध्रुव तो एक निज उपयोगात्मक एक आत्मा ही है। यह मैं आत्मा मात्र पर द्रव्योंसे ही जुदा नहीं हूँ किन्तु जो पर द्रव्योके निमित्तसे उपरज्यमान स्वधर्मसे भी जुदा हूँ अशुद्धताका कारण होनेसे ये सब आत्माके कुछ नहीं लगते हैं।

स्वातिरिक्त समस्त जीवोंका अन्यपना :— एक जीव द्रव्यको छोड़कर बाकी अनन्ते जीव इस जीवके ध्रुव नहीं हैं यद्यपि वे सब अनन्ते जीव ध्रुव हैं मगर वे खुदके लिए ध्रुव हैं, मेरे लिए ध्रुव नहीं हैं, क्योंकि उनका तो मुझमें प्रवेश ही नहीं है, वे मेरे कुछ लगते ही नहीं हैं। सो मेरे स्वरूपको वे ध्रुव कैसे कहे जा सकते हैं? इस कारण अनन्ते जीव सब मेरे लिए ध्रुव नहीं है।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरका आत्मासे अन्यत्व :— यह शरीर जो कि अनन्ते पुद्गल परमाणुवोंका पिंड है, एक क्षेत्रावगाहरूपसे ठहरे हैं, कौनसा चमड़े का ऐसा हिस्सा है जहाँ जीव न हो? कौनसा मांस, हड्डी इत्यादिका हिस्सा

है जहाँ जीव न हो ? जितना यह शरीर है समस्त शरीरमें एक क्षेत्रावगाह रूपसे यह जीव बस रहा है। सो ऐसा एक क्षेत्रावगाहमें रहकर यह शरीर इस मुझ आत्माका कुछ नहीं है एक तो यह शरीर अध्रुव है, बिनाशीक है और फिर दूसरे पर द्रव्य हैं। जो पर द्रव्य हैं वे भी मेरे लिए ध्रुव नहीं है और जो पर्यायें हैं वे भी मेरे लिए ध्रुव नहीं है। और कार्माण शरीर जो कि अनन्ते कार्माण वर्गणाओंका पुन्ज है वह भी मेरे लिए ध्रुव नहीं है। उसके भी ये दो कारण हैं। एक तो बिनाशीक हैं और दूसरे वे पर द्रव्य हैं।

विभावोंका आत्मासे अन्यत्व :—भीतरमें इन कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जो रागद्वेष भाव होते हैं वे परिणाम भी मेरे ध्रुव नहीं हैं। यद्यपि वे परिणाम मेरे ही गुणोंके परिणमन है, तथापि अध्रुव हैं, औपाधिक हैं। वे भी मेरे ध्रुव नहीं है। और सुख दुःख जैसा हम आप उपयोग करते हैं ये सुख दुःख मेरे ध्रुव नहीं है। ये कल्पनाएँ मात्र हैं। किसी भी स्थितिमें कल्पनाएँ कर लीं कि मैं सुखी हूँ तो सुखी हूँ। और कैसी भी स्थितिमें दुःखकी कल्पनाएँ कर लीं तो मैं दुःखी हूँ।

सुख व दुखकी आपेक्षिकता :—सुख और दुःखको जीवने आपेक्षिक लगा रखा है। दूसरे जीव यदि कुछ आराममें रहते हों तो उनको देखकर अपनेमें दुःखकी कल्पनाएँ करली जाती हैं कि मैं बड़ा दुःखी हूँ दूसरेको दुःखी देखकर उनकी अपेक्षा यदि आराम अपनेको अधिक है तो अपनेमें सुखका अनुभव कर लेता है किमैं सुखी हूँ। यदि केवल अपनी ओरसे ही देखो तो यह दुःखोंमें हार नहीं मान सकता। किन्तु दूसरोंकी जो गणित लगाते है कि ये कितने सुखमें है, ये कितने आराममें है उस दृष्टिसे अपने आपमें हम दुःखका अनुभव करते हैं अन्यथा कितना ही दुःख हो। केवल अपने आपकी ही परिणति दृष्टि रहे तो यह अपने दुःखका अनुभव नहीं कर सकता। यहाँ और गोरख धंधा जगतमें है ही क्या ? दूसरोंका विषय देखकर, दूसरोंका आराम देखकर जो कल्पनाएँ बना लेतें हैं, ये कल्पनाएँ ही इस जगतमें क्लेशका कारण हो रहीं हैं।

आत्मासे धन वैभवकी प्रगट भिन्नता :—भैया ! जब कार्माण शरीर रागादिक भाव ये भी मेरे ध्रुव नहीं है तो धन या अन्य शत्रु मित्र जन वे मेरे ध्रुव कैसे हो सकते हैं ? अपना शरण किन्हीं दूसरे पदार्थोंमें न मानो। इस जगतमें यदि कोई किसी दूसरेको अपना शरण समझ रहा है तो इससे बढ़कर और कोई धोखा की बात न होगी। जैसे बच्चे लोग कभी मजाक करते हैं कि बिना बुनी खटिया जिसमें केवल पाया लगे हुए हैं उसके ऊपर चादर तानकर बिछा दिया और कच्चे सूतके धागोंसे कस दिया। फिर

दूसरे लड़केसे कहते कि आवो बैठो। दूसरा समझता है कि यह सजा सजाया पलंग है। यदि बैठ जाता है तो सिर पैर सब इकट्ठे हो जाते हैं। इसी तरह जगतकी सम्पदाको और दूसरोंका शरण मानना यह आशय तुम्हारा धोखा देने वाला है। इन आशयोसे केवल संक्लेश ही भोगना पड़ता है।

बहिर्गत अर्थोंकी अध्रुवताके कारण :— ये सब बाह्य पदार्थ मेरे ध्रुव नहीं हैं क्योंकि ये सब माया हैं, स्वयं असत् हैं, पर्यायरूप हैं और हेतु वाले हैं, किन्हीं कारणोंसे ये सब उत्पन्न होते हैं। शरीर है, धन है, सुख है, दुःख है, शत्रु है, मित्र है, ये सब सहेतुक हैं, आदि अंत वाले हैं। इनका आदि है और अंत है। पर पदार्थोंका निमित्त पाकर प्रसिद्ध होते हैं इसलिए ये सब मेरे लिए ध्रुव नहीं हैं। देह क्या चीज है? यहाँ परमार्थभूत तो देहगत पुद्गल परमाणु है, जिन परमाणुवोंके संघात होनेसे स्कंध पर्यायें बनती है और ये स्कंध मायारूप है, परमार्थ नहीं है। यह माया मेरे लिए ध्रुव नहीं। धन क्या है? अनेक पुद्गल परमाणुओंके संघातसे उत्पन्न हुए स्वर्ण चांदी, नोट, कागज, ताँवा, पीतल ये स्कंध पर्यायें बनती हैं। ये स्कंध पर्यायें जिनसे इस जीव लोकको प्रीति है यह माया है। माया मेरे लिए ध्रुव नहीं हैं।

सुख दुखकी अध्रुवता :— अपने निश्चल ज्ञान दर्शनात्मक आनन्दघन स्वरूप से चिगकर बाह्य रूप, रस, गंध, स्पर्श शब्दोंमें दृष्टि देकर उनके ज्ञान करनेके साथ रागद्वेष बनाकर इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके सुख अथवा दुःख मानते हैं। वह सुख अथवा दुःख परतः सिद्ध है। मेरा स्वरूप नहीं है। इसलिए ध्रुव नहीं है।

शत्रुपनेका आधार भ्रम :— शत्रु क्या है? कोई जीव किसीका शत्रु है क्या? एक भी जीव किसीका शत्रु नहीं है। द्रव्य है, चैतन्य है और जैसा उनका उपादान है वैसा उनका परिणमन है सब जीव अपने अपने परिणमनसे निरंतर परिणमते चले जारहे हैं। इसमें कौनसी गुंजाइस है? यह कैसे कहते है कि यह अमुकका शत्रु है कोई किसी दूसरे पदार्थको दूसरेके गुण पर्यायमें प्रवेश नहीं कर सकता फिर कोई किसीका शत्रु कैसे कहलाया? अपने आये हुए आराममें, विषयोंमें, भोगोंमें जिनका निमित्त पाकर कुछ बाधा हुई, अपने आपमें कुछ हीनता अनुभव की, वश उस ही निमित्त भूतको यह ही अपना शत्रु मान लेता है। शत्रु मान लेनेसे कोई शत्रु बन नहीं जाता किन्तु यह मेरी कल्पना मात्र है।

मित्रपनेका आधार भी कल्पना :— इसी प्रकार इस लोकमें मित्र कौन है? जब किसी जीवकी कोई अन्य जीव कुछ भी परिणति नहीं कर सकता, रंच

भी स्पर्श नहीं कर सकता तब फिर किसीका कोई मित्र कैसे ? सभी जीव अपने-अपने कषायोंके अनुसार अपना परिणमन करते चले जारहे हैं। कोई मंद कपायका परिणमन कर रहे हैं कोई तीव्र कषायका परिणमन कर रहे हैं। वे परिणमन यदि अपने कषायोंमें, भोगोंमें, आराममें, निमित्त भूत साधक हो तो उन निमित्तोंको हम मित्र मान लेते हैं। वस्तुतः उनमें कुछ भी ऐसा नहीं है कि वे मित्र कहला सकें। वे भी चेतन पदार्थ हैं, परिणमते हैं। मित्र और शत्रुका नाता ही क्या ? और अन्य भा जिन किन्हीमें इष्टताकी बुद्धि हो वे मेरे कुछ नहीं हैं। ये तो अपने आपके स्वरूपके प्रदेशोंमें रहकर अपने आपका परिणमन कर रहे है और अपने परिणमनका फल सुख या दुःख वे भोग रहे हैं। इसके अतिरिक्त वे कुछ करतूत नहीं करते।

अपने आपमें ही रहकर कल्पनाकी चक्कीका चलन :—यहाँ ये अपने ही प्रदेशों में विराजमान रहते हुए सर्व हिसाबोंको लगा रहे है। वे जो कुछ करते हैं, अपनेमें करते है। पर किसीका भी किन्ही बाह्य वस्तुवोंमें कुछ भी दखल नहीं है। मेरी आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई चीज ध्रुव नहीं। फिर भी देखो इस देह और मुझ परमात्मतत्त्वमें कितनी भिन्नता है। मै आत्मा देह रहित हूँ, परमपवित्र हूँ, मैं ज्ञानानन्द भाव मात्र हूँ, और यह देह, रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिंड है। यह अचेतन है, इसका और मेरा क्या सम्बंध है ? सब अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्वमें रह रहे है। और भी जितने पंचेन्द्रियके भोगोंके साधन हैं वे सब भी अपने निमित्त नैमित्तिक भावोंसे अपने आपमें अपना परिणमन बनाते हुए स्थित हैं। किसी पदार्थसे मेरा कोई सम्बन्ध है। यह स्वरूपास्तित्त्व दृष्टि देकर कहा जारहा है और इस अन्तः मर्ममें जो पहुँचता है और इस पहुँचके कारण जिसके भेद विज्ञान प्रकट होता है वह ही आत्मा अपने उपयोगात्मक ध्रुवका स्वाद लेकर आनन्द तृप्त रहता है और कर्मोका विनाश करता है। उसके आगामी कर्म रूकते है, वह मोक्षके मार्गमें लगता है। ऐसे ही जीवोंको हम धर्मात्मा कहते हैं। उन जीवोंकी उपासनामें अपना तन, मन, धन, न्योछावर करदो।

ये मोही प्राणी घरके लोगोंको ही अपना सर्वस्व मानकर श्रम किए जा रहे हैं। रात दिन अपने शरीरको कुटुम्बके लिए अपना योग लगाए हैं। उन का तन, मन, धन सब अपने कुटुम्बके लिए है। जिस कुटुम्बके लिए अपना तन, मन, धन अर्पित करते है वे कुटुम्बके जीव अपने हितमें कितने साधक हो सकते है। अनुमान तो करो। साधक होना तो दूर है किन्तु राग और मोहका कारण बनते हैं, हमारी दुर्गतिके कारण बनते हैं। किन्तु ये मोक्ष-

मार्गी धर्मात्मा पुरुष, पंचपरमेष्ठी इनकी उपासना, इनकी सेवा, इनके लिए अपना सर्वस्व समर्पण हो तो इस उपयोगमें हमें कितना लाभ होता है। अनुभव तो करो।

धर्म ध्यानका आदर—धन कमानेसे उत्पन्न नहीं होता। दूकान, मील, कम्पनी चलानेसे यह उत्पन्न नहीं होता किन्तु जितना धर्म किया था, पुण्य किया था उसके उदयसे ये सारी सामग्रियाँ स्वमेव आकर प्राप्त होती हैं। इसका मूल कारण धर्मध्यान है। संसारके सर्व संकटोंसे भी दूर होनेका मुख्य कारण धर्मध्यान है। इस आत्माकी सेवा, उपासना धर्म वत्सलता आदिक जितने भी धर्मके कार्य हैं, इनके करते हुए हानि तो कभी हो ही नहीं सकती। यह धर्मकी ही बात चल रही है कि मेरा धर्म मेरा अनादि अनन्त चैतन्यस्वभाव है। उसकी दृष्टि करो सो धर्मका पालन है। यह मेरी शक्ति, मेरा सर्वस्व मेरे पास अनादिसे अनन्तकाल तक सदा रहनेवाली है। इससे मुझे धोका नहीं मिल सकता। मेरा यह ज्ञानस्वरूप मुझे धोका देने वाला नहीं है। प्रत्युत आनन्दका ही देनेवाला है। एकतो यह मेरा ज्ञान-स्वरूप सदा रहता है इसलिए इसके वियोगकी शंका ही नहीं है। कदाचित् यह मेरा प्रभू, मेरा यह ज्ञानस्वरूप मुझसे अलग हो जाय तो मैं क्या करूँगा ऐसी शंकाकी बात रंच भी नहीं है।

मेरा प्रभु सदा मेरे कल्याणके लिए उद्यत—इस प्रभूको हम जान पायें अथवा न जान पायें किन्तु यह प्रभू मेरा भला करनेका व्रत लेकर अनादिसे मुझमें बैठा है और इसकी अन्तरध्वनि यह है कि रे उपयोग तू मुझे जान अथवा न जान, मैं तो तेरा कल्याण करनेके लिए अनादिसे अब तक और अनन्तकाल तक सतत् रह रहा हूँ ! जरा मेरी ओर दृष्टि तो करले। तेरा सदाके लिए कल्याण होगा। किन्तु विषय वासनाओंमें मूर्छित हुई यह मेरी दृष्टि इस मेरे प्रभूकी ओर झुकती नहीं है। यदि झुक जाय तो कल्याण है।

मोहकी अहितकरता—परन्तु संसारीजनोंके उपयोगमें कुटुम्ब धन मित्र रिश्तेदार निरन्तर ऐसी दृढ़तासे संस्कारोंमें बने हैं कि ये अपनेको सबसे निराला ज्ञानमात्र कभी अनुभव नहीं कर सकते। किन्तु याद रखिए कि जिन पुद्गलोंमें हम भूल रहे हैं, भटक रहे हैं, जिनको अपना मान रहे हैं। यह कुछ भी हितकर नहीं हो सकता प्रत्युत अहित ही बनेगा। जो स्वयं मोही है, स्वयं वासनाओं वाला है। स्वयं भोगोंका इच्छुक है उसकी आत्मा अन्यके लिए भी हितकारी कैसे हो सकती है। मेरा ध्रुव जगतमें अन्य कोई नहीं। एक उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही मेरे लिए ध्रुव है। जो मेरे

लिए ध्रुव है ऐसा वह शुद्ध परमात्मदेव यहाँ न हो, अन्यत्र हो ऐसा नहीं है। यहाँ अभी स्वयंही यह आत्मा मौजूद है। आप अपनी भावनामें निरखो कि यह शुद्ध आत्मामें अभी ही मौजूद हूँ।

द्रव्य शुद्धताका भाव—शुद्धकी बात सुनकर रागद्वेष रहितके रूपसे अपना ध्यान नहीं करता। यहाँ शुद्धका मतलब रागद्वेष रहितपनेका नहीं है। उसकी चर्चा ही नहीं है। रागद्वेष होना, रागद्वेप न होना, यह जीवका लक्षण नहीं है। ये जीवकी दशायें हैं। कभी रागद्वेष विकार होते है, कभी नहीं होते हैं। रागद्वेषका होना न होना जीवका लक्षण नहीं है। किन्तु प्रत्येक वस्तुका लक्षण स्वरूप चतुष्टयसे होना और पररूप चतुष्टयसे नहीं होना है। यही असाधारण लक्षणोंको बतानेकी कुन्जी है। अपने आपके स्वरूप सर्वस्वको इसप्रकार निहारो कि यह मैं आत्मा समस्त परद्रव्योंसे अत्यन्त पृथक हूँ और यह मैं स्वयं अपने अस्तित्त्वके कारण जैसा हूँ, लो यह हूँ, इसप्रकारके एकत्व विभक्त आत्म-स्वरूपकी दृष्टि बने तो वहाँ धर्म होता है। धर्मका बड़ा अमिट प्रभाव होता है पर जिस पद्धतिमें जिस दृष्टिमें धर्म होता है वह पद्धति दृष्टि हमें आना चाहिए।

अन्य विस्मरणका सन्देश—भैया, स्वातिरिक्त अन्य सब उपयोगोंको छोड़ दो। परिवार, धन, इज्जत, पोजीशन, सब बातोंको बिलकुल भुलादो, इसकी वासना रखते हुए परम ज्ञानका अनुभव नहीं हो सकता है। जैसे एक म्यान में दो तलवारों को रखते नहीं बनता है इसीप्रकार एक उपयोगमें विषय-कषाय भोगना और ज्ञानानुभवका पान करके अमृत स्वाद लेना ये दोनों बातें नहीं हो सकती हैं। इस धूलिसंसारमें विषयभोग करते हुए, तृष्णाएं करते हुए, पंचेन्द्रिय भोगोंमें आशक्त रहते हुए इतना समय तो गुजर गया, पूर्वभवकी बातोंको भी छोड़दो, इस भवकी बातें देखो तो जन्मसे लेकर अब तक इस जीवने उद्यम क्या क्या नहीं किया, जब जिसकी समझमें जो भोग आया उसके लिए निरन्तर अमर है। और जहाँ मोह बसाया वहाँ लोकको अपना समझा। और वे मन, वचन, कायको समझा आया, कभी भी अपने आपके एकत्व विभत्वका अनुभव नहीं किया। सो कितने खेदकी बात है कि जो बातें मेरे लिए अहितकर हैं उनमें तो दौड़ लगा-लगाकर पहुँचते हैं और जो चीज मेरे लिए हितकर हैं उनकी ओर जराभी रुचि करनेका यत्न नहीं होता है।

मनुष्य भवके ये दुर्लभ साधन—आज यह मनुष्यभव पाया, कितने दिन

व्यतीत होचुके ? कितना जीवन और शेष रह गया ? अनुमानतः कोई १० वर्ष मानता है, कोई ५ वर्ष मानता है। वैसे तो कलको कोई नहीं कह सकता। यदि कोई कलको ही कहे कि कल तक तुम्हारी मृत्यु नहीं तो वह अनगिनते वर्षो तक नहीं मर सकता क्योंकि कल तो सदा आता ही रहेगा। मृत्यु तो अचानक ही होती है। फिर यह जो जीवन है इसका क्षणभरका भी भरोसा नहीं है। किन्तु यह कल्याणके लिये बहुत साधक जीवन है। इसमें मन प्रबल मिला है। यह इन्द्रिय आयु सब साधन उत्तम मिले हैं जिससे हम अपने हितका व अहितका निर्णय कर सकते हैं और अहित को छोड़कर हित को पहिचान सकते हैं ऐसे इस उत्कृष्ट जीवनका हम कितना दुरुपयोग कर रहे है ? ख्याल तो करो कि हमें करना क्या चाहिए था और क्या करनेमें लग गये हैं।

पर्यायकी शान व्यर्थ :—इस पोजीसन को धूलमें मिला दो। मैं सेठ हूँ, मैं धनी हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं इतनी पोजीसन वाला हूँ, अरे ये सब मायाके बबूले हैं। यह परमार्थभूत तत्त्व नहीं। इसका विस्मरण करते जावो, अपने आपमें बसे हुए अनादि अनन्त अहेतुक स्वतः सिद्ध ज्ञानमात्र निज स्वरूपका दर्शन तो करो। सबसे अत्यन्त भिन्न इस परमात्मतत्त्वका आश्रय तो लो। फिर देखो कि भव-भवके संचित कर्म कटते हैं या नहीं। आज जो हम आपकी भूमिकामें कर्म बस रहे हैं वे कर्म भाव दुःखके कारण बन रहे हैं इनके रहते हुए पोजीशनका क्या अभिमान।

स्वरूप स्मरणकी महिमा :—ऐसे असंख्यात भावोंके संचित कर्म लाख-लाख दो दो लाख करोड़ों वर्षोके नहीं, असंख्याते वर्षोके कर्म अपने निजस्वरूपके अवलोकनसे ध्वस्त हो सकते हैं केवल अपने ज्ञान स्वरूपके अनुभवसे ही ये भव-भवके संचित कर्म ध्वस्त हो सकते हैं। हमारे उपद्रवोंके विनाशका उपाय कोई दूसरा नहीं है। है। अपने आपका ध्रुव जो आत्मस्वरूप है उसको प्राप्त करो, वही शुद्ध आत्मा परसे निराला अपने आपमें तन्मय है। यह मैं ध्रुव हूँ, सो यद्यपि ये अध्रुव शरीर आदिक उपलभ्यमान हो रहे है। मेरे पीछे पड़ गए हैं, इस दलदलमें यह आत्मा फस गया है, इसमें झंझट है तिस पर भी किसी अन्यको न देखूँ तो झंझट नहीं है।

सर्व विस्मरण योग :—अभी यहाँ बैठे ही बैठे पहिने हुए कपड़ोंको भी भूल जावो। आखिर तुम तो इनके प्रदेशोंसे बाहर हो न ? इसका ख्याल छोड़ दो और ज्ञानोपयोगका, ज्ञानकी चर्चाकर, ज्ञानके स्वरूपके दर्शनमें खूब उद्यत हो जाओ जिसके प्रतापसे यह शरीर भी विस्मृत जायगा। यह शरीर भी

आपके उपयोगमें न रहेगा। इन सबको भूलकर केवल ज्ञानको दृष्टिमें देते रह जावो तो देखो कैसे भार रहित आनन्दमग्न अपने प्रभुके दर्शन होते हैं। ये हैं तो रहें पर इनकी ओर दृष्टि न दो तो ये न रहनेके बतौर हैं। और कुछ समय बाद रह भी न सकेंगे।

परसे अलग होनेके उपायका एक दृष्टांत—न भैया! ये परद्रव्य मेरे पीछे कब तक पड़े हैं जब तक हम इन परद्रव्योंकी ओर दृष्टि देते हैं। रास्तेमें चलते हुए कभी कोई कुत्ता मिल जाता है न और उसको अगर सू-सू करो, पुचकारो तो वह पीछे लग जाता है। यह पीछे लगा रहेगा जब तक आप का प्रेम पाता रहेगा। आपके पीछे पड़ गया तो आप सोचेंगे कि यह जान पर पड़ गया है। जब घर तक चलेगा तो इसकी रखवाली करनी पड़ेगी। यह सारा झंझट बन जायगा। इसको अलग करना है तो आप उस की उपेक्षा करदें। उपेक्षा करनेके बाद भी कुछ समय तक आपके पीछे चलेगा पर निरन्तर आपकी उपेक्षा बनी रहेगी तो वह कुत्ता कहाँ तक पीछे चलेगा? मील दो मील चलनेके बाद व स्वयं अपनी कल्पनाओंके मुताबिक किसी जगह बिखर जायगा, निकल जायगा।

परसे अलग होनेका अमोघ उपाय—इसीप्रकार ये शरीर और कर्म मेरे पीछे लग गये हैं। क्यों लग गये हैं? मैंने इनका आदर किया है। इनकी मैंने रुचिकी, इनसे मैंने हित माना। इस शरीरके पोषणमें अपना उपयोग जो कुछ किया है सो शरीरके खातिर किया है अभीभी घरमें समाजमें जो कुछ थोड़ी लड़ाई हो जाती है, मैं इतना काम करता हूँ, यह कुछ काम नहीं करता है। अक्सर घरोंमें हो जाता है न? ये क्यों आकुलतायें आयीं। यह खोटा विचार क्यों आया? यों आया कि हमें अपने शरीरका मोह है। शरीरमें मोह हुआ कि यह मैं हूँ, उसे आरामसे रखनेमें हित है। ऐसे जो पर्यायबुद्धिरूप मिथ्यात्वका विष पी लिया है इसकारण ये घबराहट, बेचैनी, आकुलतायें आदि उत्पन्न हो गई हैं। यह शरीर ये कर्म मेरे पीछे कब तक लगे रहेंगे? जब तक कि इनका आदर करते हैं। इनसे दूर होने का उपाय क्या है? इनका आदर छोड़ो, इनकी उपेक्षा करो, शरीर, धन, आदिकी उपेक्षा कर चुकनेके बाद भी ये कुछ समय तक पीछे लगे रहेंगे। लगे रहें पर इनकी ओर मुड़कर भी न देखूँ, अपने ज्ञानमात्र स्वरूपके अनुभवमें रहूँ तो कुछ समय बाद ये अवश्य मुझसे अलग हो जायेंगे।

दृष्टिका स्वाद—मैं इस अध्रुव शरीरादिको जो उपलभ्यभाव हैं, एक क्षेत्रावगाह है, लगा हुआ है तिस परभी मैं उस अध्रुवको नहीं पाता हूँ।

न देखता हूं। मैं तो एक ध्रुव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता हूं। जैसी दृष्टि होती है वैसाही मैं स्वाद लेता हूँ। हम किसी जगह बैठे हैं उस जगह का स्वाद नहीं आयगा किन्तु हमारी दृष्टि जिस ओर लगी है उसका स्वाद आयगा। मन्दिरमें भी बैठे है किन्तु दृष्टि परिवार मित्रजनोंमें लगी है। तो मोहका स्वाद आयगा। और बैठे हों घरमें किन्तु गृह समागम ये सारे झंझट लग रहे हैं और सर्वसे विनिर्मुक्त मात्र अपने आत्मस्वरूपकी धारणा में आपकी उत्सुकता लगी है तो स्वाद आयगा अपने आप ज्ञानरसका जैसी दृष्टि होती है वैसे स्वाद आता है। इसलिए इस गृहस्थीके समागमको भी भुलाकर किसी क्षण यदि आपने अपने ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव किया तो आप उस समय गृहस्थ नहीं हैं, उपासक हैं। और यदि व्रत और तप धारण करके, संयमके श्रम करके भी दृष्टिभोग साधनामें लगी है तो आप को स्वाद इस शुभमार्गका न आयगा किन्तु उस विषका ही स्वरूप आयगा।

ज्ञानरसके स्वादका प्रयोग—भैया! इस ज्ञानामृतके स्वादके लिए सबको भूल जावो, मैं कैसी पोजीसनमें पड़ा हूँ, इसका विस्मरण करो। मैं तो देह से रहित हूँ, में तो परेशानियोंसे परे हूँ। ध्रुव, निरंजन, निर्विकार ज्ञान-मात्र हूँ। ऐसे अपने ज्ञान रसका स्वादलो और इन सब बातोंको भूल जावो तो देखो एक अनौखी अलौकिक दुनियाँमें आप पहुंचेगे, जिसका अनुभव कर के आप अन्तरमें यह मान उठेंगे कि मैं कृतकृत्य हो चुका। मेरेको करनेके लिए इस लोकमें कुछ काम नहीं। ऐसे अपने आपमें बसे हुए खजानेका उप-योग तो करलो और इस दुर्लभ नरजीवनको सफल करलो।

परकी व्यवस्था असंभव—लोकमें पदार्थोंकी सत्ता जुदी-जुदी है तभी तो घरमें बीसों मनुष्य रहते हैं कोई कभी पैदा हुआ, कोई कभी मर गया, कोई कभी सुखी, कोई कभी दुःखी हुआ। कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, कोई चाहे कि हम अपने घरकी बहुत बढ़िया व्यवस्था बनालें तो यह आत्म-व्यवस्था नहीं बन सकती किन्तु चीजें सब न्यारी-न्यारी हैं। जब जिसे पैदा होंना है पैदा होता है और जब मरना होता है मर जाता है। उनकी भी व्यवस्था यह जीव नहीं बना सकता है। जैसे हम इतना वैभव बढ़ालें, इतना धन संचय करलें, अमुक-अमुक प्रकारका उपाय बनालें, सो कोई व्यवस्था नहीं कर सकता है। जिस किसीकी व्यवस्था हो रही है उसके करनेसे नहीं बन रही हैं, वह तो पूर्वकृत कर्मोंका उदय है। कोई जीव चाहे कि हम व्यवस्था बनालें तो यह उसके हाथकी बात नहीं है। इसके बलकी बात तो भावोंकी व्यवस्था बनाना तक है। बुरे भाव न करो, शुभभाव

बनाओ, ज्ञानमार्गमें, मोक्षमार्गमें अपनेको लगाओ। विषयकषायोंमें अपनेको जुटाए, विवादमें, झगड़ेमें विपयोंमें जुटाए इतना तो यह कर सकता है, पर बाहरी चीजें उसकी मंशाके मुताबिक नहीं बनी रहती। जैसा मैं चाहूँ तैसा बन जाय कोई इतना अधिकार हमारा किसी जीवपर नहीं है। जो व्यवस्था हो रही है वह हो रही है, उसमें कारण है पूर्वकृत कर्मोंके विपाकका उदय। ऐसा क्यों है? योंकि परपदार्थ जुदा-जुदा है, जीव भिन्न-भिन्न हैं और जैसे जीव जुदा-जुदा है तैसे यह जो पदार्थोंका संग्रह मिला है घर, द्वार, धन वैभव आदि ये सब जुदा-जुदा परमाणुओंके पिण्ड हैं।

धर्मकी नीव यथार्थ श्रद्धा—भया! ऐसा निर्णय करो कि मैं आत्मा समस्त परद्रव्योंसे न्यारा हूँ। मैं शुद्ध आत्मा हूँ। यह मैं ज्ञान और आनन्दके सिवाय और कुछ नहीं कर सकता हूँ। यह विश्वास हो तो धर्म होता है। यदि यह विश्वास नहीं है तो धर्म नहीं होता है। सबसे मूल बात कही जा रही है, जिस बातके पकड़ लेनेसे आप निर्भय हो जायेंगे। यदि ज्ञानबल है तो लेटे हुए भी आपको धर्मलाभ मिलता रहेगा। अपने आपमें ऐसा विश्वास बनाओ कि यह मैं आत्मा केवल अपने ज्ञान व आनन्द भावको कर सकता हूँ, दूसरेके किसी भी कामको करनेकी मुझमें ताकत नहीं है। इतना विश्वास है तब मन्दिरमें, दर्शन पूजनमें,स्वाध्यायमें आप धर्म लेते चले जायेंगे। और भीतरमें यदि विश्वास नहीं है, उल्टा श्रद्धान है कि मेरे कुटुम्ब है, परिवार है, इन पर मेरा अधिकार है, जैसा चाहूँ वैसा इनको बना दूँ, यदि भीतरमें ममता और अहंकारका रंग लगा हुआ है तो धर्मके नामपर कितने ही काम कर डालो धर्म नहीं मिल सकता है। सो अपने आपको सबसे न्यारा ज्ञानमात्र निरखो, ऐसा निरखनेसे क्या होता है, इस बातका निरूपण इस गाथामें करते हैं।

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१९४॥

जिस किसी भी विधिसे मैं अपने आपको सबसे न्यारा जान रहा हूँ, अपने शुद्ध आत्माके ज्ञानस्वरूपमें लग रहा हूँ तो मेरा आत्मा शुद्ध हो जायगा अर्थात् कार्य परमात्मा हो जायेगा।

दुनियावी ज्ञानसे लाभका अभाव—भैया, जरासी एक मोटी बात सोच लो कि हमें क्या बनना है? अपने-अपने बारेमें यह सोचो कि हमें क्या बनना है? बालबच्चों वाले बनना है। अच्छा, बालबच्चों वाले बनकर फिर क्या करोगे? आगे क्या बनना है? जिन्दगी तो बिल्कुल थोड़ी है, बालबच्चों वाले ही बन लो। इनको यों उनको यों किया मानते रहो। कोई किसी गतिसे

आया, कोई किसी गतिसे आया, उनमें आत्मायताकी भ्रान्तिसे अपनेको चक्करमें फांस लिया। सारा जीवन चला गया, क्या लाभ मिलेगा? उद्देश्य बताओ कि हमें क्या बनना है? धनवान बनना है? तो उससे क्या लाभ होगा? लखपती होगए, मकान आदि बहुत होगए, धन बहुत होगया। अब क्या करोगे? इज्जत वाला बनना है? दस बीस हजार आदमी प्रशंसा कर देंगे, और क्या होगा? अच्छी पोजीसन वाला बनना है? अच्छी पोजीसन वाले भी बन गए। पर आत्मा तो वही है। ऊपरी बनावटसे कहीं विकारोंमे तो अन्तर न आ जायगा। भैया! अपने सत्य स्वरूपकी प्रीति नही है तो क्लेश ही क्लेश है। लोगोंने मेरी बात न मानी, मेरे पोजीसनके लायक बात न रखी इससे तो आकुलतायें नही मिट सकती। तुम्हारा उद्देश्य बताओ क्या बननेका है? सोचते जावो कि सरकारमे मिनिस्टर बनना है, मन्त्री बनना है? बन जावो बनकर बतलाओ क्या करोगे? अकुलतायें और क्लेश तो वहाँ भी बनते रहेंगे। सम्यग्ज्ञान बिना आकुलता नही मिटती।

यथार्थ उद्देश्यके चिंतनका भी चमत्कार—अच्छा, अब समतापूर्वक सोचो कि तुमको क्या बनना है? ऐसा अपने मनमें सोचो कि हमें परमात्मा बनना है याने शुद्ध आत्मा बनना है, सर्व विश्वका ज्ञाता बनना है, सत्य आनन्दमग्न बनना है, यदि इस उद्देश्यकी कल्पनायें भी करो तो आपको कुछ संतोष मिलेगा। और और कुछ बननेसे लाभ कुछ नहीं मिलेगा। एक वीतराग, निर्दोष, केवल ज्ञानानन्दमय, शुद्ध स्वरूप बननेमें सर्वलाभ हैं। इससे जन्म-मरणके चक्कर समाप्त हो जायेंगे। फिर किसी प्रकारका संकट नहीं आ सकता है। यहाँ पर सर्व संकटोंकी ही बातें हैं। आज इस घरमें पैदा हुए कहींसे घूम-फिरकर। कदाचित इस घरमें न पैदा होकर, दूसरे घरमें पैदा होते तो सर्व ममता, सर्व चितायें वहाँ भी लगा बैठते। तो कौन तुम्हारा है? किसे मानते हो कि यह मेरा लड़का है, यह मेरी स्त्री है? किसे क्या मानते हो? कोई हो तब ना?

अज्ञानका सर्वत्र नर्तन—भैया! इस प्राणव्यामोही जीवने अज्ञानमें आकर मान्यताका बंधन बना लिया है कि जहाँ गया जो पर्याय पाई वही मैं हूँ, ऐसी ममताका यह मेरा है। आज मनुष्य हुए हैं तो हाथ पैरवाले लोगोंसे प्रेम बढ़ाते हैं और कदाचित घोड़ा-बैल होते तो! क्या यह जीव घोड़ा बैल बना नहीं। घोड़ा बैल आदिकी पर्यायमें वहाँ बछेड़ी, बछड़ा आदिको यह अपना मानता, उनमें रमता। जहाँ जीव जाता है वहाँ ममता कर लेता है। ममता करने योग्य तो इस दुनियाँमें है ही नहीं, मगर इस अज्ञान भावके

कारण जहाँ यह जीव जाता है वहीं ममता बना लेता है। सो भैया पहिले उद्देश्य बनालो कि हमको बनना क्या है? भीतरमें सोचलो। कुटुम्बवाले बनकर भी शांति नहीं मिलेगी। इज्जत वाले बनकर भी शांति नहीं मिलेगी। बहुत धनी हो जानेपर भी शांति नहीं मिलेगी। या कैसा ही घर बना लेने पर भी शांति न मिलेगी। शांति तो तब मिलेगी जब यह उद्देश्य बन जायगा कि मुझे तो वीतराग, निर्दोषी, शुद्ध, स्वच्छ अपने स्वरूप रूप रहना है और द्वैतसे मुझे प्रयोजन नहीं है। ऐसा शुद्ध उद्देश्य बन जायगा तो शांति मिल सकेगी अन्यथा शांति प्राप्त करनेका कोई मार्ग नहीं है।

शुद्धात्मत्व प्राप्तिका उपाय—शुद्ध आत्मा बनानेका उपाय है भेद-विज्ञान। मैं जुदा हूँ, शरीर जुदा है। मैं ज्ञानमात्र आत्मा जुदा हूँ, ये रागद्वेष भाव जुदे हैं। जो मुझसे जुदा है, दोषरूप है, अध्रुव है उसकी क्या प्रीति करना। मेरा यह ज्ञानमात्र आत्मा ध्रुव है। उसकी प्रीतिसे, उसकी प्रवृतिसे आनंद का विकाश होता है। इसकारण अनन्त शक्ति चैतन्यमात्र परमात्माका एकाग्ररूपसे जो ध्यान होता है वही ध्यान मोक्षमें साधक होता है।

परके ध्यानसे हितका अभाव—भैया, ध्यान निरन्तर हर एक कोई बनाए रहता है, कोई पुत्रोंका ध्यान बनाए हैं, वे चाहते हैं कि मैं बहुत ऊँचा बन जाऊँ, कोई स्त्रीका ध्यान बनाए है कि यह कैसे प्रसन्न रहे। कोई धन वैभवका ध्यान बनाए है कि मैं धनी बन जाऊँ। ध्यानके बिना कोई नहीं है। हर एकका ध्यान जुदा-जुदा है। वे बालक हैं, ये भी कुछ न कुछ सोच रहे हैं। जिनकी परीक्षा होगई है सोच रहे हैं कि पास होऊँगा कि नहीं? अथवा जिनकी परीक्षा नहीं हुई वे सोच रहे होंगे कि पेपर कैसे होंगे? कोई न कोई ध्यान यह बच्चे भी बनाए हैं। बच्चोंकी बात छोड़ो, ये भेड़, बकरी, पशु, पक्षी सब जीव कुछ न कुछ ध्यान बनाए हैं। ठीक है, ध्यान तो बनाए हैं पर ऐसा ध्यान बनाओ कि जिस ध्यानसे शांति मिले। परपदार्थोंमें कुछ परिणमन कर देनेवाला ध्यान शांतिका कारण नहीं है।

निजका ध्यान हितका हेतु:—यह ध्यान है कि मैं सबसे न्यारा हूँ, परमात्म तत्व हूँ। मुझे परमें कुछ करने का काम नहीं है क्योंकि मैं परमें दूसरोंमें कुछ कर भी नहीं सकता हूँ। केवल भाव बनाता हूँ। परद्रव्योंमें कुछ कर देनेकी भावना न हो तो यह आत्मा अपने आप सुखी हो जायगा। जब अपने ज्ञानमें एक सामान्य रूपसे एक चेतन तत्त्वकी प्रसिद्धि होगी तो अनादि कालसे बांधे हुए ये दृढ़तर कर्म भी मोह भी नष्ट हो जायेंगे।

मोहकी गाँठ :— ये जीव मोहकी गाँठ लगाये हुए हैं। रात दिन, जिसमें मोह है उसी में अपना उपयोग बसाये हुए हैं। जो इस शरीर का जो नाम रख दिया उसीमें ऐसी कल्पना हो जाती है कि मैं अमुक नाम वाला हूं, यह फैसी दृढ़ वासना बनी है कि सोते हों, नींद में हों और कोई उसका नाम लेकर पुकारे तो झट नींद खुल जाती है और दूसरे का नाम लेकर कोई बुलाए तो नींद नहीं खुलती है। तो अपने नाम की इतनी दृढ वासना इस जीवमें बनी है। किसी ने इस ही नाम को लेकर कोई दो गालियोंके शब्द सुना दिया तो उसके आग लग जाती है, झट, क्रोधसे आग बबूला हो जाता है। यह क्या है ? यह नामका मोह है। मैं अमुक चन्द हूं, मैं अमुक लाल हूं, यह जो नामका मोह लगा है इसीसे बेचैन हैं।

मोह ग्रन्थिका भेद :— यदि यह जान जाते कि मैं तो नाम रहित, शुद्ध ज्ञानमात्र एक चेतनतत्त्व हूं, जिसका किसीसे कोई वास्ता नहीं है। ऐसा यह मैं स्वतन्त्र प्रभु हूं। ऐसी दृष्टि रहे तो बाहरमें कहीं कुछ भी परिणमन हो, उस परिणमन से इसको बाधा नहीं आ सकती। सो जब तक नामसे भी न्यारा, शरीरसे भी न्यारा और रागद्वेष कर्मोंसे भी न्यारा केवल ज्ञान प्रकाश मात्र मैं आत्मा हूं ऐसा भीतर जब तक ज्ञान नहीं करता है तब तक इसके मोहकी गाँठ नहीं खुल सकती।

मोहका क्लेश मोहसे मिटना असंभव :— दुःख दूर करनेका उपाय मोह करके, राग करके नहीं हो सकता है। जैसे खूनसे रंगा हुआ कपड़ा खूनसे ही धोना चाहें तो खूनके दाग नहीं मिटेंगे किन्तु दाग और बढ़ेंगे। इसी तरह हम आपको जितने भी दुःख हैं वे सब मोह और रागके कारण हैं। और उन दुःखोंसे परेशान होकर मोह और रागके करनेका ही उपाय किया जाय तो बतलावो फिर क्या दुःख मिट सकेंगे और मोहसे ही दुःख हुआ और दुःख दूर करने के लिए मोह ही करते हो तो दुःख दूर नहीं हो सकता। चाहे दुःख दूर करनेका आज उपाय बना लो या अनन्ते भव भ्रमण करके फिर भविष्यमें बना लेना। दुःख दूर करनेका उपाय एक ही किस्मका है सबसे न्यारा अपने को समझो। इसी को कहते हैं शुद्धका दर्शन अपने आपको न्यारा जाने बिना इसकी आकुलताएं दूर नहीं हो सकती।

यथार्थ ज्ञानका फल :— भैया ! अपने को न्यारा समझ जाने का फल क्या है ? शुद्ध आत्माके दर्शन होनेका फल क्या है ? वह फल है मोहकी गाँठका छूट जाना। जब तक मोहकी गाँठ नहीं टूटती तब तक इस गाँठ में गढ़ा हुआ यह जीव धर्मका पालन नहीं कर सकता। जगतमें जितना भी सुख मिलता

है वह सुख धर्मके प्रसादसे मिलता है, वह धर्म सुगमता से कैसे मिलता है ? वह ज्ञानसे मिलता है। देखो कठिनाई की बात कि संसारका वड़ा वैभव सच्चे ज्ञानसे मिला करता है किन्तु इस मोही जीवमें सच्चा ज्ञान न करके प्रमाद किया है। कुछ खर्च करनेकी बात नहीं कही जा रही है, कुछ परिश्रम करनेकी बात नहीं कही जा रही है, कुछ श्रम करानेकी बात नहीं कही जा रही हैं किन्तु अपने ही भीतर बसे हुए एक शुद्ध ज्ञानका काम कर लो अर्थात् सत्य-सत्य जान जावो कि परपदार्थ न्यारे हैं। किसीसे मेरा सम्बन्ध नहीं है कोई सुधरे इससे मेरा सुधरना नहीं होता कोई बिगड़े उससे मेरा विगड़ना नहीं, ऐसा सही ज्ञान कर लो तो इस सही ज्ञानके प्रसादसे अनन्त आनन्द प्राप्त होगा। कितनी सरल और सुगम बातें इस जीवके कल्याणके लिए हैं कि जैसा वस्तुका स्वरूप है तैसा जान भर जावो कल्याण तो अपने आप अवश्य होगा।

मोहकी पैशाचिक लीला :—भैया, इस जीवके आगे मोह पिशाच लगा है इस कारण वह सही ज्ञान पर नहीं डट सकता। यह जिस चाहे को मान वैठता है कि यह मेरा है। जैसे कोई पागल पुरुष किसी सड़क के किनारे कुयें पर वैठा हो, रास्तेमें मोटर वाले निकले उनके प्यास लगी, वे कुयें पर पानी पीने लगे। यह पागल क्या सोचता है कि मोटर मेरी है, और मोटर वाले पानी पीकर चले जाते हैं वह पागल सोचता है हाय मेरी मोटर चली गई। जब मोटर आई तो समझा कि मेरी है और जब चली गई तो क्लेश करता है।

गृहस्थका मुख्य तप :—गृहस्थीका सबसे वड़ा तप क्या है ? जो समागम मिले हैं उन्हें यह मानना कि ये मिट जाने वाले है और जव तक हैं तब तक मेरे नहीं है। इनसे मेरा हित नहीं है। ऐसा विचार रहे समागम के रहते हुए भी तो उस गृहस्थी को कष्ट नहीं हो सकता है और कर्मोका क्षय बराबर चलना रहता है। सब ज्ञानोंसे वड़ा ज्ञान यही है कि पदार्थो का स्वरूप न्यारा न्यारा उनके अपने-अपने स्वरूपमें देखो। किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थ का किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। सब पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं। ऐसे इस सम्य ज्ञानका फल इन जीवोंके मोक्षका मार्ग है।

लौकिक स्वतन्त्रतामें भी सुख की झलक :—अभी देख लो वच्चे लोग जब तक स्वतन्त्र हैं; शादी नहीं हुई तब तक ये कितने प्रसन्न हैं और जव इनके बंधन हो जायगा चिन्तन हो जायगा कि वे एक दूसरेकी आत्मा को कैसे प्रसन्न करें ? अरे कहाँका कौन आत्मा है, कहाँ भ्रम रहा है, इस जगतमें

किसी आत्माका कुछ पता भी है ? अचानक अपरिचित और अब भी अपरिचित आत्माके स्वरूप को कौन जानता है ? पर को देख कर यह कल्पना किया कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है पर वास्तवमें परिचय किसीका नहीं है। अब बंधनमें बंध गये। अब वह कला नहीं रही कि जो बचपनमें स्वयं आनन्द भोगते थे। अब पराधीनता आ गयी। और कुछ दिन व्यतीत होते हैं कुटुम्ब बढ़ जाता है तो और पराधीन हो जाते हैं।

दुर्लभ साधनों के सदुपयोगकी प्रेरणा :—भैया, चालीस लाख योनियोंमें भ्रमण कर करके बड़ी दुर्लभतासे यह मनुष्य देह मिली है। मिली तो इसलिए है कि यह धर्मका साधन करके संसारके कष्टोंसे सदाके लिए छूट जावे। यह मनुष्य शरीर मिला तो इसलिए था किन्तु करने क्या लगे है कि मोह ममतामें ही मस्त हो गए, दो चार जीवोंके प्रसन्न रखनेमें ही मस्त हो गए उनको सुखी रखनेकी चिन्तामें मग्न हो गये है। काम बिल्कुल विपरीत बन गया है। सो काम तो चल ही रहा है पर अपने २४ घंटेमें २ घंटेका समय ऐसा फ्री रखो कि जिसमें आत्माकी ही बातें, ज्ञानकी ही बातें करो। इतने समयमें सब प्रकारके विकल्पोंको त्याग कर अपने आपमें अपने धर्मकी साधना करो। इतनी हिम्मत बनाओ, रात दिन मोह ममताके स्वप्नोंहीमें क्यों बिता रहे हो। इस रफ्तारसे तो आत्मा को शान्ति न मिलेगी। इस कारण कुछ ज्ञानकी ओर बढो, आत्म चिन्तनकी ओर बढ़ो, और ज्यादा न बन सके तो एक आसनसे बैठकर ऐसे विश्रामसे स्थित हो जावो कि मुझे किसी पदार्थका चिन्तन नहीं करना है, मुझे अपने ज्ञानमें किसी परपदार्थ को नहीं लाना है। देखो अपने आप ही शुद्ध ज्ञान और आनन्दका विकास होगा।

मोहकी गांठ संकटके दूर करनेका उपाय :—लोकमें जितने भी संकट हैं वे सब मोहकी गांठके संकट हैं। किसी भी प्रकार यह मोहकी गांठ टूटे तो इसको शान्तिका मार्ग मिल सकता है। मोह कैसे नष्ट होता है इसका उपाय पहिले कई गाथाओंमें कहा है अर्थात् भेद विज्ञानसे मोह दूर होता है। धन वैभव सम्पदासे अपनेको न्यारा समझो, कुटुम्ब परिवारके परिग्रहसे अपने को न्यारा समझो। एक क्षेत्रावगाहमें रहने वाले इस शरीरसे अपने को न्यारा समझो और ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मोंसे अपने को न्यारा समझो, राग द्वेष विकार भावोंसे अपने को न्यारा समझो छुटपुट ज्ञानों को अपनेसे न्यारा समझो और स्वाभाविक भी परिणमन है फिर भी वह एक समय रह कर खिरजाता है इस कारण उससे भी न्यारा समझो। एक ध्रुव ज्ञायक स्वभाव हूँ मैं यों अपने आपको निरखना मोह को दूर करनेका उपाय है।

इस उपायके करनेके पश्चात् क्या फल मिलता है इस बातका निरूपण इस गाथामें करते हैं।

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१६५॥

जो महात्मा मोह ग्रन्थिको नष्ट करके और राग द्वेषोंका क्षय करके श्रामण्यपदमें रहता है, समता भावमें रहता है वह सुख दुःखमें समान परिणाम रखता हुआ अविनाशी सुख को प्राप्त होता है।

रागद्वेषके क्षयका मूल हेतु मोहका क्षय :—मोहकी ग्रन्थिका क्षपण होनेसे रागद्वेषोंका क्षपण होता है। जैसे वृक्षकी जड़के विनष्ट होनेसे पुष्प पत्तों आदिका हरापन नष्ट होता है इसी प्रकार मोहके नष्ट होनेसे राग द्वेष नष्ट हुआ करते हैं क्योंकि राग द्वेष भावोंका मूल तो मोह है। मोहके माने है दो पदार्थोंमें सम्बन्ध समझना। जैसे मेरा शरीर है, मैं शरीर हूँ, मेरा घर है, इस प्रकार अनेक पदार्थोंमें अपना सम्बन्ध समझना इसका तो नाम मोह है और कषाय विषय परिणाम हो जाय यही हैं राग द्वेष। राग द्वेष को सींचने वाले मोह कर्म हैं। तो जब मोहका क्षय हो तो रागद्वेषोंका क्षय अपने आप हो जायगा। रागद्वेषोंसे ही दुःख है और राग द्वेष जिसे दूर करना है उसे अपना मोह दूर करना चाहिए। तो मोहके विनाश करने से मोह मूलक जो राग द्वेष हैं उनका विनाश होता है।

समताका मूल रागद्वेषका प्रक्षय :—भैया, जब राग द्वेष समाप्त होंगे तो सुख और दुःखमें समान परिणाम हो ही जायगा। यह मेरा धन है, यह मेरा भैया है, यह मेरा लड़का है, यह भाई का लड़का है। इस प्रकारका दुविधापन क्यों हो गया ? राग द्वेषके कारण। अपने बालक राग है, दूसरे बालक से राग नहीं है तो दो बातें हो जाती हैं। नहीं तो घरके बच्चे और जगतके जितने भी जीव हैं। वे सब जीव एक समान हैं। चाहे हम आप हों, चाहे वह प्रभु हो, चाहे पेड़ वगैरह एकेन्द्रिय जीव हों, सब जीव द्रव्य एक ही समान हैं। मेरे राग द्वेष होते हैं तो उसमें दुविधा हो जाती है कि यह मेरा है, यह दूसरेका है, यह भला है, यह बुरा है। तो जिन साधुजनोंके राग द्वेष समाप्त हो गये उनको अन्य वस्तुओंमें तो समता है ही, अपने आपमें उत्पन्न हुए सुख और दुःखके परिणामोंमें भी समता आती है।

मध्यस्थताका मूल समता :—जहाँ सुख दुःखका समान भाव होगा वहाँ परम मध्यस्थता प्रकट होगी। एकदम मध्यस्थ हो गया साक्षी हो गया। गवाह हो गया। सो मध्यस्थ और गवाह दोनोंका एक मतलब है जैसे गवाह होता है

तो किसीके पक्षकी बात नहीं कहता। जैसी बात घटी है वैसी बात जो कहता है। उनका ही नाम गवाह है अर्थात् गवाह न उधर रहेगा न इधर किन्तु बात जैसी थी उस सही बात को बोलता है। ऐसा मध्यस्थ परिणाम रूप जो श्रामण्य हैं उस श्रामण्यमें यह निर्मोही स्थित हो जाता है और जब समता परिणाममें स्थिति हो तो उससे अनाकुलता उत्पन्न होती है। आकुलताएँ क्यों हैं? समता परिणाम नहीं है। अभी इस गाँवमें ही मेलेमें देखो, नुकसान हो गया है तो उस नुकसान को हृदयमें बैठाये हैं और अपने धर्म कार्य को भी भूल बैठे हैं। नहीं तो यह सोचना चाहिए कि जो छति हो गई। सो हो गई, होना था। और बहुतसे ऐसे जीव हैं जो तुमसे भी अधिक दुःखी हैं। उनके दुःखकी कल्पनाएँ तो करो। उन्हें अधिक दुःख है मगर इस जीव को राग द्वेष मोहके परिणाम चैन नहीं लेने देते हैं। यदि राग द्वेष मोहके परिणाम न हों तो इतनी बेचैनी न हो पर ऐसी पर्याय बुद्धि लगी हैं कि उसका जो कुछ सर्वस्व है वह धन है। धन गया तो जान गया, जान वैसे छोड़ा नहीं जाता चाहे धन भी चला जाय, मगर इतनी चिन्ता रहती है, आशक्ति रहती है कि धर्मका अवसर ही नहीं मिलता है।

जन्मका सदुपयोग धर्मधारण :—भैया! बतलावो यह मनुष्य जन्म पाया तो इसका क्या सदुपयोग है? इसका सदुपयोग है धर्म। धर्म ही समता परिणाम का उपाय हो सकता है। धर्म करो तो तुम्हें धन भी अनायास मिलेगा समय है तो क्या, सम्पदा मिटती है तो क्या रहती है तो क्या, जितनी सम्पदा है उतनी ठीक, न हो तो ठीक। जिन कर्मोंके उपायसे हम आप उत्पन्न हुए हैं कर्मों का उदय इस जिन्दगी को पार करेगा, और भगवानकी भक्तिसे हमें यह भावना आनी चाहिए कि हे प्रभो! कब वह समय आये कि मैं शरीर, कर्म, राग द्वेष भाव, परिग्रह सबसे न्यारा होकर केवलज्ञान और आनन्द रसमें लीन रहूँ। यह भावना तो होनी ही चाहिए जो गया वह पहिलेसे ही अलग था। मेरी आत्माहीमें मिला हुआ नही। फिर उसका खेद क्या करें। भैया! अपने आत्मामें बसी हुई उस निधि को देखो जिस निधिके प्रताप से भगवान अरहंत सिद्ध देव पूज्य हुए हैं, वीतराग सर्वज्ञ देव हुए हैं।

देवका स्वरूप :—देव क्या है? देव वह है जिसमें ज्ञानका चरम विकास हो, आनन्दका चरम विकास हो, आनन्दका चरम विकास हो और राग द्वेष न हों, उसका ही नाम देव है। देवका कोई अन्य मतलब नहीं हैं, वह तो ऋषभ महावीर इत्यादि पुरुषोंकी पर्यायमें आये हुए आत्माने राग द्वेष नष्ट किया, पूर्ण ज्ञानानन्द पाया सो लोग ऋषभदेव महावीर स्वामी नाम लेकर

पुकारते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो देवका नाम क्या है ? जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो उसका नाम देव हैं। ऐसा ज्ञान प्रकाश जो निर्दोष हैं, परम ज्ञान है उसका नाम भगवान है तो जैसा स्वरूप प्रभुका है तैसा स्वरूप परम ज्ञानानन्दमय है,अपने आपका है। उनके स्वरूपकी भक्ति करके अपने स्वरूपकी उपासना करो और अपने उस शुद्ध सहज आनन्दस्वरूपका स्वाद लेकर कृतार्थ मानो।

आनन्दमय स्वरूपकी दृष्टि करनेका सन्देश :—कुछ भी दुख नहीं है, ऐसा अपने मनमें दृढ़ संस्कार बनाओ। हमें दुःखी है ऐसा किसी भी समय रंच भी न सोचे। चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, गरीबी हो, कोई उपसर्ग हो प्रत्येक स्थितिमें अपने को आनन्दस्वरूप अनुभव करो। अपने को आनन्दस्वरूप अनुभव करोगे तो आनन्द पावेंगे और अपने स्वरूपको देखो, वहाँ तो ज्ञान और आनन्दके सिवाय कुछ मिलता ही नहीं है। ऐसा एक चेतन पदार्थ है जो ज्ञान स्वभावको लिए हुए है उसमें संकटोंका प्रवेश ही नहीं है। तो अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को निरखो और ऐसा निरन्तर विश्वास बनाए रहे कि यह मैं आत्मा आनन्द स्वरूप हूँ। इसमें दुःखोंका प्रवेश ही नहीं है। किसका दुःख मानते हो। किसी दुसरे जीवोंका ख्याल करते हो तो मोह राग द्वेष बनाकर ही तो दुःख मानते हो। तुम तो शुद्ध हो, अकेले हो, सबसे न्यारे हो, केवल अपने को दुःखी कभी अनुभव न करो और आत्माके आनन्द स्वभाव को ही निरखते रहो।

अविनाशी सुख :—जो समता परिणाम करेगा वह अनाकुलतारूप अविनाशी सुखको प्राप्त करेगा। इस प्रकार मोहके मिट जानेका फल अविनाशी सुख की प्राप्ति है। सुख तो सभी चाहते हैं पर ऐसा सुख चाहो जो सुख कभी न मिटे और ऐसी आपकी इच्छा भी है कि हमको वह सुख मिले जो सुख कभी न मिट सके और ऐसा आप लोग यत्न भी करते है मगर ऐसा सुख नहीं हो पाता जो कभी न मिटे। इसका कारण क्या है कि विषय सुखकी चाह है।

विषय सुखकी विनाशीकता :—विषय सुख नियमसे मिटने वाला है कौनसा ऐसा विषय सुख है कि जो एक दिन भी ठहर सके एक घंटा भी ठहर सके, दो मिनट भी ठहर सके ? ऐसा कोई विषय सुख नहीं है जो मिट जाने वाला सुख है ऐसे विषय सुखकी वाञ्छा करते हैं तो उससे सुख कैसे हो सकता है ? विषय सुख तो पंचेन्द्रिय व मनके निमित्तसे होने वाले जो सुख हैं उन्हें कहते हैं। स्पर्शन इन्द्रियसे एक विषयभोगका सुख लिया अथवा गर्मीकी वेदना है तो ठंडी चीज छूनेका सुख लिया, ठंडकी वेदना है तो गर्म चीज छूनेका सुख लिया, पर यह स्पर्शन इन्द्रियका सुख क्या स्थायी है ? क्या सदा रहेगा ?

नहीं। वह अविनाशी सुख नहीं है। विनाशीक सुखकी इच्छा करते हैं यही कारण है कि हम आप जीवन भर दुःखी रहते हैं, यद्यपि इस विनाशीक सुख के बिना भी गुजारा नहीं है लेकिन यह तो मानते रहो कि यह सब विनाशीक सुख है। इस सुखसे आत्माको लाभ नहीं है, ऐसा तो समझते रहो।

जो अविनाशी सुख है वह इन्द्रियोंका आश्रय छोड़नेसे उत्पन्न होने वाला सहज सुख है।

इन्द्रियज सुखकी असारता :— स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें जो सुख उत्पन्न होता है वह अविनाशी नहीं है, मिट जानी वाली चीज है। रसना इन्द्रियका सुख देखो, कोई चीजका स्वाद, लिया, जीभकी नोकका संग जब तक भोज्य वस्तुके साथ है तब तक रसका स्वाद है, जीभके बीचमें भी भोजन हो जाय तो भी स्वाद नहीं रहता है और गलेके नीचे उतर जाय तो उससे कल्पना भी नहीं रहती है कितनी देरका सुख है और जीभकी नोक कितनी देर जीभ को छुये रहती है, इतनी देरका कल्पनाका सुख है। उस सुखमें भी अनाकुलता रहती हो सो बात नहीं है, भोगनेकी विह्वलता रहती है। और फिर इस विषय सुखके भोगनेके बाद कितनी आपत्तियां आती हैं? लालसा बढ़ जाय फिर दुबारा उसी सुखकी कल्पना आ जाये, उसका ही उद्यम का श्रम किया जाय, धन ज्यादा कमाना पड़े, बीमारी बन जाय दूसरे जीवोंके आधीन यह सुख है ना दूसरोंकी दासता करना पड़े, अर्थात् सुखापेक्षा करना पड़े, कितनी प्रकारकी उस विषय सुखमें आपत्तियां हैं। विषय सुख विनाशीक हैं उनकी रुचि न करो किन्तु अविनाशी सुखकी रुचि करो।

विषय सुखकी पराधीनता :— भैया भले ही यह सारा जमाना उस विषय सुखमें लगा है और विषय सुखके साधनोंमें जुटानेमें लग रहा है पर उनके ऐस आराम को देखकर अपने मनमें ऐस आरामकी कल्पना मत करो। ये विषय सुख पराधीन हैं। कितनी पराधीनता इस विषय सुखोंमें है कि आप तो निराकुलताका उदय चाहते पर कर्मोंका उदय भी अनुकूल हुआ, पुण्यका उदय होने लगा परन्तु उसका मौका न मिला तो बाहरमें अनुकूल सामग्री चाहिए, योग्य परिवार हो, आज्ञाकारी लोक समुदाय हो, कितनी पराधीनताकी सम्हाल चाहिए। इतने पर भी कोई विघ्न आजाय तो इतना उद्योग करनेके बादभी उस सुखकी भेंट नहीं हो सकती। मानलो बहुत बढिया भोजन तैयार किया, कितना परिश्रम किया और उस भोजनमें ऊपरसे छिपकली गिर गई, मच्छियाँ गिर गई तो भोजन बेकार हो गया। सब सुखोंकी ऐसी ही बात जानो कि बड़ी पराधीनता को सहकर,

बहुत उपज करके कुछ यत्न भी सुख प्राप्तिका कर लो किन्तु विघ्न आ गये तो फिर ? विषय सुख भोगनेमें आ जाये किन्तु वे फिर नष्ट हो जाते हैं और फिर यह सुख नष्ट करके एक तृष्णा उत्पन्न कर जाती हैं तो जीवन भर दुःख रहा।

विषय सुखकी दुःख पूर्णता :—चौथा ऐब इस विषय सुखमें क्या है कि इन कल्पनाओंके सुखके बीच-बीचमें भी अनेक दुःख आते रहते हैं। ये सब तो आप लोगोंके अनुभवकी बातें होगी। विशेष क्या कहें। कौनसे सुखकी साधनोंमें आपको निरन्तर आराम मिलता है ? अनेक दुःख बीचमें आते हैं सो सुखके संगमें भी अनेक दुःखोंसे दुःखी होना पड़ता है।

विषय सुखसे पापबन्धन :—इतना ही नहीं ५वाँ ऐब इसमें यह है कि यह विषय सुख पापोंका बीज है। विषय सुखकी अनुरक्तिसे पापोंका बंध होता है। तो इस विषय सुखसे पापोंका बंध हो जाता है ऐसे ये विषय सुख हैं। इसको सुख कहो कि दुःख कहो। जो ज्ञानी संत पुरुष हैं वे इन विषय सुखोंको दुःख ही मानते हैं, आपत्ति और कष्ट ही समझते हैं। इनमें वे आराम नहीं समझते। ऐसी विषय सुखोंकी प्रीति है तो फिर जगतके जीवोंका सच्चा रास्ता कहाँसे रहे।

घ्राणेन्द्रियके विषयकी भी व्यर्थता :—और भी विषय सुख देखो। घ्राणेइन्द्रिय विषय क्या है ? अच्छा पुष्प सूँघ लिया, अच्छा तेल लगा लिया, तो इससे क्या शरीर मोटा हो गया ? क्या स्वास्थ्य अच्छा हो गया था आत्म बल बढ़ गया या आत्मा को शान्ति मिल गई ? कुछ भी तो नहीं मिलता। व्यर्थका यत्न है।

नेत्रेन्द्रियके विषय सुखकी मूढ़ता :—चक्षुरिन्द्रियका सुख देखो। सुन्दर रूप देख लिया। रूप दूर स्थित है और आप दूर स्थित है। उस रूप पदार्थका आपमें प्रवेश नहीं है। न मुकाबला होना है, न उसमें सम्बन्ध होना है, न संयोग होना है किन्तु बाहरमें रूपमात्र ही देख लिया और यह खुश हो गया। सो रूपकी भी बात देखो कि बिल्कुल अचेतन पदार्थ है, जैसे घड़ी, टेबुल, कुर्सी आदि सजाली जायें तो सुन्दर जचती हैं, चिकनी होने से सुन्दरता होती है आखिर वह सब रूप जड़का रूप है। सर्वरूपोंसे आपकी आत्मामें क्या अभ्युदय होता है और जो चेतन अचेतनका असमानजातीय द्रव्य पर्याय है पुरुष स्त्री बालक बालिक अथवा घोड़ा, पशु पक्षी आदिक इन सबमें भी दृश्यमान रूप अचेतनके रूप हैं। सो वह रूप क्या है ? शरीर तो यह बड़ा अपवित्र है, माँस, हड्डी, मज्ज, खून, मल, मूत्रसे भरा हुआ है। पवित्र चीज

शरीरके अन्दर क्या है ? अपवित्र ही अपवित्र चीजका पिंड है सो इस अपवित्र पिंडके उस रूप को देखकर मन जो चलित होता है सो उससे वतलावो क्या लाभ मिलता है ? आत्मा अपने स्वरूपसे चलित हो गया और विपत्तियोंमें फंस गया।

कर्णेन्द्रिय सुखकी निर्मूलता :—कर्णेन्द्रियका सुख देखो तो कोई सुन्दर शब्द सुन लिया, मधुर शब्द सुन लिया, कुछ राग भरी बातें सुन ली, और उन को सुनकर कल्पनाएं करली कि मैं बहुत सुखी हो गया हूँ। अरे उन शब्दोंमें क्या सुख और ये शब्द कहीं ठहरते भी हैं क्या।

मनके विषयकी अनियमितता :—मनका विषय तो इतना अटपटा है कि इसके सुख विषयका नियम भी कुछ बांधा नहीं जा सकता क्या करना कि यह अपने मनमें कल्पनाएं करता कि मैं क्या-क्या बन जाऊं, धनी हो जाऊं यशस्वी हो जाऊं। अरे इस अशरण संसारमें किसके लिए बड़ा बनना चाहते हो ? यहाँ कोई तुम्हारा शरण नहीं है। किसको तुम अपनी कला कौशल दिखाना चाहते हो ? उन सबकी प्रीति को छोड़ो, अपने आपमें बसे हुए प्रभु के स्वरूपका आदर करो जिसके प्रतापसे ये संसारके सारे संकट टल जाते हैं। तो ये संकट टलते हैं मोहके नाश करने से।

मोहक्षयका फल :—मोहका नाश कर देनेसे कितनी ऋद्धियाँ प्राप्त होती है प्रथम तो राग द्वेषका विनाश होता है। राग द्वेषका विनाश होनेसे सुख दुःख अथवा अन्य वस्तुओंमें समता प्रकट होती है और समताके प्रकट होनेसे श्रामण्य भाव प्रकट होता है। मुनिपन आता है मध्यस्थता आती हैं और जहाँ मध्यस्थ हो गये साधू हो गये तो वहाँ अनाकुलता रूप अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार मोहके विनाश करनेसे अक्षय सुखकी प्राप्ति होती हैं तो अविनाशी सुखके पानेके प्रयोजनसे सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि हम अपने मोह को और अज्ञान को हटाएं। मोह और अज्ञानके हटानेका उपाय वस्तु स्वरूपका यथार्थ चिन्तन करना है सो ज्ञान स्वाध्याय द्वारा वस्तु स्वरूपका सही ज्ञान करो तो यही सुखका मार्ग है।

धर्मसाधनोंका प्रयोजन :—जितने भी धर्मके साधन हैं उन साधनोंका प्रयोजन यह है कि यह आत्मा अपने आपके सहज स्वरूपके ध्यानमें लग जावो। देव पूजा करते, अथवा सामायिक करते कुछ भी धर्मकी साधना करें सबका प्रयोजन मात्र एक यह ही है कि आत्मा अपने सहजस्वरूपमें उपयुक्त हो जाय अर्थात् एकाग्र सचेतन हो जाय। आत्मा अपने आपके ध्यानमें मग्न हो जाय। ऐसा ध्यान आत्माकी अशुद्धताको नहीं होने देता। आत्म ध्यानके प्रतापसे

आत्माकी शुद्धता प्रकट होती है। आत्मामें राग द्वेष न हों, आकुलताएँ न यही शुद्धता कहलाती हैं। यह शुद्धता आत्म ध्यानमें ही प्रकट होती है। इस हीं बातका निश्चय इस गाथामें कर रहे हैं।

जो खविद मोहकलुसो विसयविरत्तो मणोणिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥१९६॥

जिसने मोहकी कलुषताका क्षय किया है, जो विषयोंसे विरक्त हो गया और विरक्त होकर मनका निषेध करके जो स्वभावमें स्थित हो चुका हैं वह आत्माका ध्यान करने वाला कहलाता है।

उत्कृष्ट आत्मध्यानीका मूल उद्यम :—आत्माका उत्कृष्ट ध्यानी कौन है। जिसमें प्रथम मोहकी कलुषताका क्षय किया वही आत्म ध्यानी बन सकेगा। मोह एक गहन अंधकार है, दूसरोंसे अपना सम्बन्ध मानना, सम्बन्ध तो रंच भी नहीं है। प्रत्येक जीव जुदा है, वैभव बड़ा है। शरीर तकसे भी आत्मा जुदा है। इसका किसीके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है। फिर भी यह न्यारा रहते हुए वाह्य पदार्थोंका सम्बन्ध जो मान रहा है, यह मोह अंधकार है इस मोहमें सत्य मार्ग नहीं सूझता। शान्ति प्राप्त हो सके ऐसा उपाय इसे नहीं सूझता। इस कारण आत्माका ध्यानी सबसे पहिले मोहका क्षय कर चुकता है।

मोहक्षयका प्रभाव :—मोहकी कलुषता मिटती है तो परद्रव्योंकी प्रवृत्तिका अभाव होता है। दूसरे द्रव्योंमें जो हम लगते हैं उसका कारण है मोह। मोह न हो तो दूसरे द्रव्योंमें कौन लगेगा। विषयोंमें लगना, विषयोंके साधनों में लगना, परिवार कुटुम्बके प्रेममें लगना, मोह है तभी तो लगते हैं और मोह मिट जाय तो परद्रव्योंमें कौन प्रवृत्ति करेगा। मोहका क्षय होनेके कारण परद्रव्योंकी प्रवृत्तिका अभाव हो जाता है। परद्रव्योंमें न लगें तो विषयोंसे विरक्ति हो जायगी। परद्रव्योंमें लगे हों और यह कहें कि हम विरक्त हैं तो यह गलत बात है। अगर विषयोंसे विरक्ति है तो विषयोंके साधनोंमें फिर लगाव क्यों है? तो विषयोंकी विरक्ति मोहके नष्ट हो जानेसे होती है।

मनकी अन्यत्र निराश्रयता :—परद्रव्योंकी प्रवृत्ति न रही विषयोंमें वैराग्य हो गया तो मनका अधिकरण तो परद्रव्य था और परद्रव्योंमें प्रवृत्ति रहे नहीं सो यह मन अब अशरण हो गया। यह लगे कहाँ जब ज्ञान हो गया, परद्रव्योंमें प्रवृत्ति न रही तो मन कहाँ लगेगा। मन अनन्यशरण हो गया। अर्थात् अब मन आत्मामें लग गया। जब वाह्य पदार्थोंमें मन न लगा रहे तो मन आत्मामें लगेगा, अनन्यशरण होगा।

मनकी अनन्यशरणताका एक दृष्टान्त :—जैसे समुद्रके बीचमें एक जहाज है। जब वह जहाज किनारेसे चला था तो जहाजकी चोटी पर एक पक्षी बैठ गया। वह जहाज समुद्रके बीचमें धीरे-धीरे पहुँच गया। उस समय पक्षी को आस-पास उड़ने को कोई सहारा नहीं मिल रहा। वह पक्षी उड़ कर जायगा तो कहाँ जायगा। थोड़ा उड़ कर जायगा तो फिर अन्यत्र कहीं शरण नहीं मिलता। वह लौट कर वापस आयगा और उस ही जहाज की चोटी पर बैठेगा। समुद्रके बीचमें जहाजकी चोटी पर बैठा हुआ पक्षी क्या करे? उसे कहीं कोई सहारा नहीं है। वह अनन्यशरण होकर जहाजकी चोटी पर बैठता ही रहेगा। इसी प्रकार जिस जीवके ज्ञान उत्पन्न हो गया है, दूर हो गया है, परद्रव्योंका लगाव खतम हो गया है, विषयोंसे वैराग्य हो चुका है ऐसा मन अब बाह्य पदार्थोंमें कहाँ जाय। आत्माके आधारसे यह मन बाहर भी जाय तो बाहर कोई उसे सहारा नहीं मिल रहा है क्योंकि किसी भी विषयोंसे उसको प्रेम नहीं है। तो झट एक आत्मामें ही लग जायगा। इससे मनका निरोध हो गया। यह मन पक्षी आत्मा को छोड़कर दूसरी जगह नहीं लग सकता किसकी चर्चा की जा रही है? जो ज्ञानी हैं, जो निर्मल है, उसका ज्ञान बाहरमें कहीं नहीं लग सकता। इसमें ही मनका निरोध हो जाता है।

मनोनिरोधका परिणाम :—जब मनका निरोध हो गया तो मनकी उड़ान खतम हो गई जब मनकी उड़ान खतम हो गई तो मनकी चंचलता भी खतम हो जायगी। उस चंचलताके विलीन हो जानेसे आत्माका जो सहज स्वरूप है, अविनाशी आत्माका जो सहज ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावमें स्थित हो जाता है। हम आप जीव सर्व सुखी हैं। दुःखी कोई नहीं है। आनन्दका सबका स्वभाव है पर इस मोहने सर्व आनन्दका तिरस्कार कर दिया है। स्वयं यह जीव आनन्द महान है। जैसे जीवका स्वभाव ज्ञान है उसी प्रकार जीवका स्वभाव आनन्द है। मोह छोड़कर देखो आनन्द रहता है कि नहीं। मोह छोड़ना न चाहें और आनन्द को देखना चाहें तो नहीं मिल सकता है। यही तो एक घोरख धंधा है जिसमें संसारका जीव फंसा हुआ है। मुक्तिका रास्ता नहीं मिलता। जिस मोहके कारण यह जीव दुःखी है उस दुःखको नहीं सह सकनेसे मोहको ही प्राप्त करता है। तो जिस काम से दुःखी हुआ उस ही काम को यह करता है। तो दुःख मिटानेका तो कोई अवकाश ही न रहा। मोहको दूर करे तो अपने आप परपदार्थों की प्रवृत्ति समाप्त हो जायगी। परपदार्थोंकी प्रवृत्ति न रहेगी तो विषयोंसे उपभोग

अपने आप हट जायगा। जहाँ विषय का उपयोग हटा वहाँ मन आत्मामें स्थित हो जाता है। और जहाँ मन आत्मामें समा गया वहाँ आत्माकी स्थिति आत्मामें होगी। तो जब आत्मा अपने स्वरूपमें लगेगा तब उसको कोई आकुलता नहीं रहती।

आकुलता का कारण चाह :—भैया आकुलता तो तब होती है जब पर पदार्थोंकी चाह होती है। कुछ चाहो नहीं तो आकुलताओंकी कोई बात नहीं। मगर यह गृहजाल ऐसा है कि इसमें अनेक साधन जुटाने पड़ते हैं। पैसाभी चाहिए, अजीविकाभी चाहिए, रिस्तेदार हैं, कुटुम्ब है तो पर पदार्थोंसे तुम्हारा सम्बन्ध है, तो इसमें कुछ न कुछ चाहह तो है और यह सत्य बात है कि आपके चाहनेसे पर पदार्थोंमें कुछ हो नहीं जाता। आप चाहते हैं तो आपकी चाह आपमें हो गयी और आपमें ही समाप्त है। इस चाहका असर किसी परपदार्थमें हो जाय ऐसा नहीं हो सकता। आपकी चाहका असर आप में होगा। चाहका असर क्या है दुःख होता, व्याकुलताएँ होती, क्षोभ होता। सो जैसेही चाह उत्पन्न होगी तैसेही हममें क्षोभ उत्पन्न होगा कोई चाह न करे तो आनन्द-मग्न रहे।

चाह दूर करनेका सन्देश :—प्रभूकी मूर्ति अपनी मुद्रासे और क्या उपदेश दे रही है दर्शकोंको यही उपदेश दे रही है कि क्यों दुःखी होते हो ? कुछ चाह न करो तो हमारीही तरह आनन्दमग्न हो जाओ। भगवानकी मुद्रा यही उपदेश देती है और यह उपदेश उनका यथार्थ है पर चाह कैसे मिटे ? उसका उपाय नही करते। सुखी होनेके लिए रात दिन जुटे रहे हैं। रोजिगार किया, धंधा किया, यहाँ भागे, वहाँ भागे। जैसे अनेक उद्यम किया करते हैं वैसेही यह उद्यमभी किया जाना चाहिए कि कौनसा ऐसा उपाय है जिसके करनेसे चाहका विनाश होता है। उस उपायमें लगें तो सफलता प्राप्त हो। चाह कैसे मिटती है ? जिस चीज की चाह कर रहा हूँ, उस चीज के साथ मेरा स्वंयभी सम्वन्ध नहीं है। यह बात ज्ञानमें आये तो चाह मिट सकती है। चाह मिटानेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। अब यह उद्यम करके देख लो। जिस-जिस बातकी चाह है। जिस वस्तुकी चाह है उस वस्तुके साथ मेरा स्वयभी सम्वन्ध नहीं है। ऐसा ज्ञान बनाओ।

इच्छा दूर करनेका उपाय सम्यक ज्ञान :—ऐसे ज्ञान कैसे बने कि प्रत्येक वस्तुका स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा है न्यारे-न्यारे प्रत्येक पदार्थ है। स्वरूप चतुष्टय जुदा है। मैं अपने द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे हूँ और परपदार्थ अपने द्रव्यसे, क्षेत्रमें, कालसे, भावसे हैं। तो जब द्रव्यहीं न्यारा है तो सत्ता

नहीं मिलती। इसका कुछ कारणभी खोजा क्या? इतना धर्मकी धुनमें परिश्रम कर डालते है और शान्ति नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि इसने सबसे न्यारा अपने आपके स्वरूपको सोचा ही नहीं। मैं स्वयं आनन्द-स्वरूपको लिए हुए हूँ यह श्रद्धान किया ही नहीं। मुझे ज्ञान अमुक-अमुक गुरुवोंसे प्राप्त होगा। मुझे सुख अमुख-अमुक विषय साधनोंसे होगा इस प्रकार की दृष्टि रखी और पर पदार्थोंकी ओर दौड़ते गये।

भ्रमसे होने वाली बरबादीका दृष्टान्त :—जैसे मरुस्थलमें गर्मीके दिनोंमें कोई कोई प्यासा हिरण पानीकी तलासमें चलता है और देखता है सामने रेत की चमकदार उस नदीके चमकदार रेतको पानी समझकर वह दौड़ लगाता है और आगे जाता है तो देखता है कि यहाँ पानी नहीं है। प्यास बुझानेके लिए फिर आगे चमकदार रेतको देखता है और पानी समझकर दौड़ लगाता है, और दौड़ लगाते-लगाते जब रेतमें पहुँचता है तो देखता है कि यहाँभी पानी नहीं है। फिर वह आगेको दौड़ लगाता है। यों भ्रम-भ्रममें ही हिरण अपने प्राण समाप्त कर देता है।

भ्रमसे बरबादी :—इसी प्रकारसे ये मोही मनुष्य अब बच्चोंसे आनन्द मिलेगा, अब इतने धनसे आनन्द मिलेगा, अब अमुक विषयोंसे आनन्द मिलेगा, इस आशयसे विषयोंके लिए दौड़ लगाते हैं। जिस विषयके निकट पहुँचे आनन्द तो वहाँ मिलता नहीं, सो फिर आगेके विषयोंकी ओर दृष्टि देते हैं कि हमको अमुक जगह आनन्द मिलेगा। सो दौड़ लगाते ही रहते हैं। विश्रामसे बैठ नहीं सकते। बस इन्हीं विषयोंकी धुनमें अपने चैतन्य प्राणों को दबाते रहते हैं, और इस भवकी मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जैसे यहाँ परिणाम किया, जैसा यहाँ कर्मबंध किया इसके अनुसार उन्हें दूसरी गति मिलती है, फिर वे वहाँके क्लेश भोगते हैं। इसी तरह घूमते हुए चारों गतियोंके क्लेशको पाते रहते हैं। शान्ति नहीं मिलती है।

मनुष्य भवमें मुख्य कर्तव्य :—भैया, इस मनुष्य जीवनको पाकर मुख्य कर्तव्य तो यह है कि चाहे रोजिगारमें कमी आ जाय, चाहे जितना धन आपके पास है उससे आधा रह जाय, रह जाने दो, पर उन विषयोंसे मुड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मामें अपना ज्ञान बनाओ। यह उपाय बन सका तो यह मनुष्य जीवन सफल है, आप कृतार्थ हो जायेंगे और अपने आपके ज्ञानकी बात न बना सके तो विषयोंमें दौड़ते जाइये, थकेंगे, परेशान होंगे और अन्तमें अपनी जीवन लीलाको समाप्त कर लेंगे। होगा क्या कि जैसी करनीकी वैसाही फल वहाँ मिलेगा। इस कारण बहुत समझकर चलना

न्यारी हुई जब क्षेत्रही न्यारा है तो उसका परपदार्थोंमें प्रवेश नही। जब काल न्यारा है तो उसके परिणमानेसे कोई पर पदार्थ परिणमता नहीं। जब भावही न्यारा है तो मेरा कोई सम्बन्धही नहीं रहा पर वस्तु से इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वरूप सत्ता जाननेसे यह समझमें आता है कि इस मुझ ज्ञायक-स्वभावी आत्माका अणुमात्रसे भी अणुमात्र सम्बन्ध नहीं है। जब सर्व पदार्थोंकी स्वरूप सत्ता ज्ञानमें आ जाती है तो मोह छूट जाता है और जहाँ मोह छूटा वहाँ चाह छूट जाती है। सुखी होनेका एकही उपाय है कि किसी प्रकारकी इच्छा न करो।

इच्छाके अभावमें उत्कृष्ट ध्यान :—जब आत्मा इच्छा भावोंमें दूर हो गया, अपने स्वरूपमें परिणत हो चुका तो उसे केवल एक अनाकुलताका ही अनुभव होता है। उत्कृष्ट ध्यान वही है जहाँ परम अनाकुलताका अनुभव होता हो। ध्यानका फल सुख है जहाँ परमानन्द हो वही उत्कृष्ट ध्यान है और वह ध्यान कुछ आत्मासे जुदा नहीं है। ध्यान परिणति इस आत्माकी शुद्ध परिणति है तो वह ध्यान आत्माही कहलाता है। ध्यानसे आत्मा जुदा नहीं है। ध्यानकी स्थितिमें आत्मा अपने स्वभावमें ही ठहरा हुआ है। इस प्रकार यह आत्मस्वरूप ही अपने लिए आनन्दका देने वाला है। मेरी आत्मा के आनन्दका देने वाला कोई पर पदार्थ नहीं है।

अब तककी इच्छाओं से क्या मिला ? :—भैया सोचो तो जरा कि जबसे मेरा जन्म हुआ तबसे लेकर अब तक कितनी इच्छाएं कर डाली ? प्रथम तो ५ मिनटमें ही देखलो कितनी इच्छाएं आ जाया करती हैं ? फिर कितना समय गुजर गया ? बचपनमें क्या इच्छाएं करते थे ? कोइ नया खेल होना चाहिए। कोई नई मन रमानेकी चीज चाहिए। न मिली तो रोने लगे। और बढ़े तो किस-किस प्रकारकी इच्छाएं हुई ? पढ़ते समयमें कैसी-कैसी इच्छाएं हुई ? अब बड़े हुए, शादी हुई, गृहस्थ बने तो किस-किस प्रकारका अरमान उठाया जाने लगा ? कुछ बड़े हुए तो धनकी इच्छा बढ़ गई। और बड़े हो गये, बच्चे हो गये, अब उनकी शादीकी इच्छा बढ़ी। अब तक जितनीभी इच्छाएं कर डाली, सर्व इच्छाओंसे आपके हाथ क्या लगा ? तुम तो ज्योंके त्यों अकेलेके अकेले बैठे हो। इस आत्मामें वृद्धि क्यों हुई ? इस आत्माको कौनसा फायदा हुआ ?

स्वभाव श्रद्धा बिना धर्म यत्नकी निष्फलता :—भैया, आप साधनाभी बहुत कुछ करते हैं, देव पूजाभी करते, गुरुभक्तिभी करते, शक्तिके अनुसार संयम भी करते, शुद्ध भोजनभी करते, इतना श्रम करते पर अन्तरमें शान्ति

नहीं मिलती। इसका कुछ कारणभी खोजा क्या? इतना धर्मकी धुनमें परिश्रम कर डालते हैं और शान्ति नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि इसने सबसे न्यारा अपने आपके स्वरूपको सोचा ही नहीं। मैं स्वयं आनन्द-स्वरूपको लिए हुए हूँ यह श्रद्धान किया ही नहीं। मुझे ज्ञान अमुक-अमुक गुरुवोंसे प्राप्त होगा। मुझे सुख अमुख-अमुक विषय साधनोंसे होगा इस प्रकार की दृष्टि रखी और पर पदार्थोंकी ओर दौड़ते गये।

भ्रमसे होने वाली बरवादीका दृष्टान्त :—जैसे मरुस्थलमें गर्मीके दिनोंमें कोई कोई प्यासा हिरण पानीकी तलाशमें चलता है और देखता है सामने रेत की चमकदार उस नदीके चमकदार रेतको पानी समझकर वह दौड़ लगाता है और आगे जाता है तो देखता है कि यहाँ पानी नहीं है। प्यास बुझानेके लिए फिर आगे चमकदार रेतको देखता है और पानी समझकर दौड़ लगाता है, और दौड़ लगाते-लगाते जब रेतमें पहुँचता है तो देखता है कि यहाँभी पानी नहीं है। फिर वह आगेको दौड़ लगाता है। यों भ्रम-भ्रममें ही हिरण अपने प्राण समाप्त कर देता है।

भ्रमसे बरबादी :—इसी प्रकारसे ये मोही मनुष्य अब बच्चोंसे आनन्द मिलेगा, अब इतने धनसे आनन्द मिलेगा, अब अमुक विषयोंसे आनन्द मिलेगा, इस आशयसे विषयोंके लिए दौड़ लगाते हैं। जिस विषयके निकट पहुँचे आनन्द तो वहाँ मिलता नहीं, सो फिर आगेके विषयोंकी ओर दृष्टि देते हैं कि हमको अमुक जगह आनन्द मिलेगा। सो दौड़ लगाते ही रहते हैं। विश्रामसे बैठ नहीं सकते। बस इन्हीं विषयोंकी धुनमें अपने चैतन्य प्राणों को दबाते रहते हैं, और इस भवकी मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जैसे यहाँ परिणाम किया, जैसा यहाँ कर्मबंध किया इसके अनुसार उन्हें दूसरी गति मिलती है, फिर वे वहाँके क्लेश भोगते हैं। इसी तरह घूमते हुए चारों गतियोंके क्लेशको पाते रहते हैं। शान्ति नहीं मिलती है।

मनुष्य भवमें मुख्य कर्तव्य :—भैया, इस मनुष्य जीवनको पाकर मुख्य कर्तव्य तो यह है कि चाहे रोजिगारमें कमी आ जाय, चाहे जितना धन आपके पास है उससे आधा रह जाय, रह जाने दो, पर उन विषयोंसे मुड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मामें अपना ज्ञान बनाओ। यह उपाय बन सका तो यह मनुष्य जीवन सफल है, आप कृतार्थ हो जायेंगे और अपने आपके ज्ञानकी बात न बना सके तो विषयोंमें दौड़ते जाइये, थकेंगे, परेशान होंगे और अन्तमें अपनी जीवन लीलाको समाप्त कर लेंगे। होगा क्या कि जैसी करनीकी वैसाही फल वहाँ मिलेगा। इस कारण बहुत समझकर चलना

है। सबसे पहिले तो यह काम करना है कि व्यर्थके भ्रमका जो मोह लग गया है यह मोह दूर हो। केवल सत्य बात समझनेका यत्न करना है कि मोह खतम हो गया। चीज छुटानेकी बात नहीं है। घर छोड़कर चल देनेकी बात नहीं कही जो रही है किन्तु यथार्थ बात तो समझ लो कि प्रत्येक पदार्थ जुदा हैं, मेरा कुछ है नहीं। बस मोह दूर हो जायगा।

मोहक्षयका फलित परिणाम :—मोहके दूर होने पर द्रव्योंका लगाव दूर होगा। पर द्रव्यों का लगाव दूर होनेसे विषयसे यथार्थ वैराग्य हो जायगा। विषयसे वैराग्य होनेसे मनका निरोध हो जायगा। जोकि चारों ओर मन दौड़ रहा था, और ऐसा विकट दौड़ रहा था कि जिसमें मन लगाया था उसमें भी मन रम न सका। उसेभी छोड़कर आगे बढ़ गया। इस तरह चारों ओर से मनकी दौड़ खतम हो जाती है। जहाँ मन की दौड़ खतम हुई कि आत्मा अपने प्रदेशमें ठहर जाता है। अहो! आजकी स्थिति कितनी चिन्तनीय है कि यह उपयोग आत्मामें ठहरनेको था मगर अपनी दृष्टि छोड़कर बाहर घूम गया। जब किसी प्रकार यह उपयोग बाहरसे हटकर अपने आपमें आ जाता है तो इसको अनाकुलता प्राप्त हो जाती है।

उपयोगके मूलमें आनेका पानीका दृष्टान्त :—जैसे पानी बरसता है तो जो बरसने वाला पानी है क्या आप बता सकते हैं कि वह असलमें कहाँसे निकलता है ? यह पानी समुद्र से निकलता है, समुद्रसे भाप बनी। भाप बनकर यही पानी बादल बना और बादलसे झड़कर वह पानी यहाँ आया और यहाँसे गिरकर छोटी नदियोंमें पहुँचा फिर बड़ी नदियोंमें पहुँचा और बड़ी नदियोंसे चला हुआ पानी फिर उसी समुद्रमें पहुँचा। जिस समुद्रसे पानी निकला था और बर्षा था वहीं पानी धीरे-धीरे पहुंच जाता है।

उपयोगका अपने स्थानमें आना :—इसी प्रकार जो उपभोग अपने आत्मासे निकलते हैं और निकलकर चारों तरफ घूमते हैं, कहीं किसी जगह विश्वास बना है और कहीं किसी जगह रमता, इसी तरह सर्वत्र बरसने वाला यह उपयोग आखिर कहाँ जाकर मिलेगा ? कभी परेशान होकर भी सही ज्ञानी बनकर इस उपयोग को सब जगहसे समेट कर अपने आत्मामें ही लावो। अपने आत्मासे निकला हुआ उपयोग जब तक यह बाहर रहता है तब तक तो इसको परेशानी है अनेक आकुलताएँ है, और जब यह फैला हुआ उपयोग सिमिट कर अपने आपमें आ जाता है तब इसको शान्ति प्राप्त होती है तो अनाकुलताके अनुभवका उपाय है एकाग्र रूपसे आत्माका ध्यान बन जाना। जब यह उपयोग बाहरी सब पदार्थोंसे हट कर आत्मामें स्थिर

जाता है तब आत्मामें अनाकुलताका अनुभव होता है और आत्मीय शुद्ध आनन्दका अनुभव होनेसे ये अनगिनते भावोंके ठहरे हुए कर्म स्वयंमेव खिर जाते हैं। कर्म खिर जायेंगे इस प्रकारसे। शरीरका सम्बन्ध भी हट जायगा। जन्म मरणके संकट दूर हो जायेंगे। मुक्ति मिल जायगी सो भैया मोक्षका अनन्त सुख पानेके लिए मोहका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

जिसका ध्याता उसका उपलम्भक :—जिन जीवोंके ध्यानमें जो चीज रहती है वे जीव उस चीजको पाने वाले कहलाते हैं। जिसके ध्यानमें घर गृहस्थी बनी है वह घर गृहस्थीका पाने वाला कहलाता है। जिसके ध्यानमें परमात्मत्वका ही स्वरूप बसा है वह परमात्माको पाने वाला कहलाता है। जिसके ध्यानमें अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा बसा है वह अपने ज्ञानस्वरूप का पाने वाला कहलाता है तो जिन्होंने अपने ज्ञान स्वरूपको प्राप्त कर लिया पूर्णरूपसे उनका नाम है अरहंत और सिद्ध प्रभू। सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। तो वह सकल परमात्मा जो कि समस्त विश्वका ज्ञाता है वह क्या ध्यान करता है इस प्रश्नका वर्णन इस गाथामें कर रहे हैं। जैसे हम और आप ध्यान करते हैं तो कभी आरम्भ परिग्रहका भाव किया तो कभी देव, शास्त्र गुरुवोंका ध्यान करते हैं यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जिस प्रभुने अपने शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लिया वह प्रभु किसका ध्यान करता है? ऐसा प्रश्न किया जा रहा है। उसके प्रश्न रूपमें ही इस गाथाको कुन्दकुन्दाचार्यजी कहते हैं।

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि किमट्ठं असंदेहो ॥१९७॥

पूज्यताका कारण :—परमेष्ठी ५ होते हैं—(१) अरहंत (२) सिद्ध (३) आचार्य (४) उपाध्याय और (५) साधू व्यक्तिकी पूज्यताका कारण एक है। जिन व्यक्तियोंमें आत्माका श्रद्धान, ज्ञान और चरित्र गुण प्रकट होता है वे पूज्य माने जाते हैं। नामकी पूजा नहीं होती है, शरीरकी पूजा नहीं होती है किन्तु आत्माके गुणोंकी ही सदा पूजा होती है। हम आप आत्माके गुणों की ही सदा पूजा क्यों करते हैं कि खुद आत्माके गुणोंके विकासकी वाञ्छा है। हम अपने आत्माके गुणोंको विकसित करें, हमारा श्रद्धान निर्मल हो, हमारा अज्ञान परिणमन न हो, ऐसी यदि वाञ्छा हो तो यह स्वाभाविक बात है कि जो ऐसे हो चुके हों उनकी ओर दृष्टि जायगी तो इस ही प्रयोजन को लेकर पंच परमेष्ठी पूजने के योग्य हैं।

पंच परमपदोंका क्रम :—उनमें सर्व प्रथम साधू परमेष्ठी वनने जाता है। कोई ज्ञानी गृहस्थ जव आत्मा के स्वरूपका लाभ ले लेता है और यह जान जाता है कि जगतमें प्रत्येक समागम असार हैं, असरण हैं, किन्हीभी वाह्य समागमोंसे आत्माकी पूर्ति नहीं होती है। तो सर्व समागमोंको छोड़कर केवल एक आत्मदेवकी उपासनाके लिए सर्व कुछ त्याग कर देते हैं। ऐसे महा पुरुषों का न म है साधू। साधू परमेष्ठी जव वहुत निष्णात सो जाते हैं। तव वे आचार्य अथवा उपाध्याय वना लिए जाते हैं। सर्व साधू गणोंने जिसको मुख्य मान लिया वे आचार्य कहलाते हैं। और आचार्य महाराज साधुओंको उपाध्याय कह दें वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं। मतलब यह हुआ कि परमेष्ठी, उपाध्याय, आचार्य और साधू ये साधू ही कहजाने हैं। देव शास्त्र और गुरू इनमें शास्त्रतो वाणी का नाम है और देव और गुरू साधूका ही नाम है। आचार्य, उपाध्याय और साधू ये तीनों परमेष्ठी गुरू कहलाते हैं।

गुरू अवस्थाके पश्चात् अरहंत अवस्था :—इन तीनों प्रकारके गुरुओंमें से जोभी गुरू चार घातिया कर्मोंको नष्टकर देता हैं वह अरहत वन जाता है, परम गुरू वन जाता है। कर्म इस जीवके साथ ८ प्रकारके लगे हुए हैं— (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अंतराम। इनमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराममें आत्माके गुणोंका विनाश या आवरण करते है, घात करते हैं,। ऐसे ये चार घातियां कर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरण से आत्मा का ज्ञान दव गया। हम आप ज्ञान मात्र आत्मा है, हम आपमें विशाल ज्ञान है जितना कि ज्ञान प्रभूमें है। ज्ञानस्परूप प्रभूभी हैं, ज्ञानस्वरूप हम आपभ हैं। कुछ न कुछ तो जानते ही हैं। जानने का हमारा और आपका स्वभाव है। तो हमारा और आपका ज्ञान तो छोटा है इसलिए किसी वातको असन्मुखतामें नहीं जान सकते। इन्द्रिय ठीक हो तो जान सकें और वाहरी साधन ठीक हो तो जान सकें, अगर भगवानके जिनके ज्ञानावरण कर्म नहीं कर रहें वे अपने आत्माके सर्व प्रदेशोंसे विना इन्द्रियोंके, विना वाह्य सामग्रियों के अपने आप सर्व विश्वको जान जाते हैं। उनके ज्ञानसे अवशिष्ट कुछ नहीं हें; जो दुनियांमें सत है वे सव भगवानको ज्ञात है। जैसी विशाल ज्ञानकी चीज प्रभूने पाई वैसीही विशाल ज्ञानकी चीज हम आपने पाई। मगर हमारा आपका ज्ञान दव गया है क्योंकि राग द्वेष, इष्ट, अनिष्ट वुद्धिमें हम आप फस गये हैं।

अपने आपकी बात :—भैया, बतलाओ इस मुझ आत्मामें मेरे ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त और है क्या ? मगर इन जड़ पदार्थोंमें अथवा इन मनुष्यादिक जीवोंमें इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि मान रहे। आखिर जी तो रहे हैं, पर मर जाना अवश्यभावी होगा। मरकर किसी दूसरी गति में पहुँचना होगा। किस गतिमें पहुँचेगे ? क्या अपने आप पर घटेगी ? फिर यहाँ क्या कोई समुदाय परिग्रह काममें आयेगा ? नहीं आयेगा ? लेकिन उन जीवोंमें मोह का इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ है कि कुछ-कुछ जानकरभी ज्ञानके मार्ग पर नहीं चल पाते हैं। ये आचार्य, उपाध्याय और साधू, ये गुरुदेव जब अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करके चार घातिया कर्मोको नष्ट कर देते हैं तब उन्हें अरहंत परमेष्ठी कहते हैं। अरहंत सर्वज्ञ वीतराग होते हैं। तो घातिया कर्मोंके नाश होनेके बाद समस्त विश्वके गुणपर्यायको समस्त अर्थको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। जितने जगतके अन्दर ज्ञेय हैं वे सब उनके ज्ञानमें समा जाते हैं।

प्रकृत प्रश्न :—ऐसा परमात्मा किस पदार्थका ध्यान करता है ऐसा यहाँ प्रश्न किया है ? देखो अपने ध्यान में और भगवानके ध्यानमें बहुत अन्तर है। हमतो ध्यान करते हैं उसका जिसके भोजनकी इच्छा हो फिर भगवान इच्छारहित है हमतो ध्यान करते हैं उसका जिसको जाननेकी इच्छा पैदा होती है मगर भगवानको किसीभी पदार्थके जाननेकी इच्छा नहीं पैदा होती है, जाननेकी इच्छा तब होती है जब जानना पूर्ण न हो। पर भगवान सर्व विश्वको जान चुके हैं तो उनको जाननकी इच्छा नहीं होती है। हमें जिस पदार्थकी इच्छा है उस पदार्थका ध्यान किया करते हैं मगर भगवान जिज्ञासित पदार्थकी इच्छा नहीं करते हैं। हम ध्यान करते हैं उस पदार्थका जिसमें कुछ संदेह होता है। अमुक चीज इस प्रकार की है अथवा अन्य प्रकारकी है, इस प्रकारका जिसमें संदेहहोता है उसको ध्यान किया करते हैं पर भगवानके संदेह नहीं होता है। उनको सर्व विश्व ज्ञात हैं संदेह किसी पदार्थमें नहीं है। भगवान संदिग्ध पदार्थोंका ध्यान नहीं करते हैं।

क्लेशका मूल मोह संकट :—यहाँ देखो, लोक किन-किन इष्ट विषयोंका ध्यान करते है। यही तो मोह है। दुनियांमें सबसे बड़ा संकट मोहका है। इस मोहको त्यागकर अपने आत्मस्वरूप पर दृष्टि दें तो वहाँ ज्ञान और आनन्दप्रकाश स्वयं प्रतीत होता रहता है। रंचभी हम और आपमें दुःख नहीं है। पर अपने स्वरूपसे चिगकर जब पर पदार्थोंमें मोह कर लेते हैं तो दुःख हो जाते हैं क्योंकि मोहमें इच्छा पैदा होती है बाहरी पदार्थोंके परिणमन

की। जैसी इच्छा करते हैं वाहरी चीजोंमें वैसा जव वनता नहीं है तो दुःख उत्पन्न होता है। आप चाहते हैं कि हम लखपती हो जायें और जव धन नहीं आता है तो आप दुःखी हो जाते हैं। पर पदार्थ नहीं आते तो न आयें, उनकी कोई आवश्यकताभी नहीं है। हम अपने आनन्दस्वरूपको निहार कर अपने आत्मस्वरूप का स्वाद लें। निर्धनतासे क्लेश नहीं होते हैं। क्लेश तो होते हैं मोह के कारण यदि मोह न होते क्लेश नहीं हो सकते हैं।

तृष्णाका कारण मोहका सद्भाव व ज्ञानकी रुकावट :—वह जीव लोक मोह का सदभाव होने पर और ज्ञानकी जो शक्ति है उस शक्तिकी रुकावट होने पर इनके तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। हम और आपके जो तृष्णा लगी है उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि मोह मौजूद है कि धर्म के सम्वन्धमें पूरा ज्ञान नहीं है। जव ज्ञान रुक जाता है और मोह पैदा होता है तो तृष्णा हो जाती है। जिस चीज से आपको तृष्णा है उस चीजका यदि ज्ञान है तो तृष्णा नहीं हो सकती। अगर यह ध्यान हो कि ये तो आयेंगे ही नहीं तो तृष्णा नहीं रह सकती। यदि यह ध्यान है कि इतना धन इतने वजे इस रूपसे आयगा तो यहाँ तृष्णा नहीं होगी। और यदि यह ज्ञान नहीं है तो तृष्णा उत्पन्न होगी। जव मोह लगा है तव मोह लगनेके कारण यह जीव तृष्णा वाला वन जाता है।

तृष्णाका एक कारण अप्रत्यक्षार्थता : अप्रत्यक्ष अर्थमें इस जीवके अभिलाषा उत्पन्न होता है। जिसके जो तृष्णा है वह तृष्णा अन्य वस्तुओंकी इच्छाके कारण है। यदि इच्छा न हो तो तृष्णा नहीं होती है। परोक्षभूत अर्थका विपय करके इच्छा पैदा होती है। सव संकटोंका मूल कारण है इच्छा। वच्चोंसे लेकर वूढ़ो तक जितनेभी दुःखी हैं सव इच्छाके कारण दुःखी हैं। जिसके इच्छा नहीं है वहाँ किसीभी प्रकारका दुःख नहीं उत्पन्न होता है।

जिज्ञासा भी क्लेशका कारण :—कितने ही पुरुष ऐसे होते हैं कि जिनके ोह अधिक नहीं है। भोगोंकी अधिक अभिलाषाभी नहीं है पर इच्छा उनके ाननेकी लगी है। ऐसे पुरुषभी पड़े हैं जिन्हें धनकी विल्कुल इच्छा नहीं है र उनके ज्ञानकी तृष्णा लगी है। जैसे आजकल वड़े-वड़े वैज्ञानिक लोगोंकी दृष्टि धनकी तरफ नहीं है, केवल उनकी धुनि है विज्ञानके प्रयोगोंको सफल करनेकी। किन-किन परमाणुओंके मेल करनेसे कैसा-कैसा असर होता है? यह केवल उनके जाननेकी इच्छा है। उनके धन वैभवकी इच्छा नहीं मगर

वे वैज्ञानिक लोग केवल जानने की इच्छा में दुःखी हो रहे हैं। जिज्ञासित अर्थमें ध्यान करते हैं और उस जिज्ञासित अर्थका ध्यान करकेभी तृष्णा और क्लेश उपयोगगत होता है।

भगवानमें त्रिदोषका अभाव :—सकल परमात्मा न तो किसी प्रकारका कुछ अभिलाषित करता है और न कुछ जाननेकी चाह करता है। और न उसे किसी बातका संदेह होता है। हममें और भगवानमें तीन बातोंमें अन्तर है। हम इच्छा किया करते हैं, भगवान इच्छा नहीं करता। हम भगवानके दर्शन करने क्यों जाते हैं? भगवानसे यह सीखनेके लिए जाते हैं कि हम किसी भी प्रकारकी इच्छा न करें क्योंकि इच्छाका ऐसा रङ्ग रंगा हुआ है कि इसके रंगे जन रातदिन बेचैन रहते हैं। हे प्रभो आप जैसा आत्मबल हममेंभी प्रकट हो और किसी पदार्थकी वाञ्छा न रहें। क्रोधमें भी हममें शांति मौजूद हो। किसीभी प्रकारकी मेरेमें वाञ्छा न रहे। यदि ऐसी भावना हो तो वह गृहस्थ भी सुखी है। क्या ऐसा हो नहीं सकता है।

भरतजी घरमें वैरागी :—भरत चक्रवर्ती जिसके ६ खण्डका राज्य था; करोड़ों राजा लोग जिनके सेवक थे। कितना वैभव था, कैसी सुन्दर उनकी रानियाँ थी पर उन्होंने अपने ज्ञान रसका स्वाद लिया था तो सबसे विरक्त रहते थे। धन वैभव समागममें रह कर भी भरत जी विरक्त रहते थे। भरतभो तो गृहस्थ थे। वे भी तो स्त्री वाले थे। धन वैभव समृद्धि वाले थे। वे जब ऐसे समागमोंसे विरक्त रह सकते हैं तो क्या हम और आप समागमोंसे विरक्त नहीं रह सकते हैं। और जैसी भरतकी आत्माथी वही आत्मा तो हम और आपकी है। यह व्यर्थका मोह का क्षोभ लगा है।

सम्यक ज्ञानकी शरणता :—गृहस्थीमें रहकर परिवारका पालन-पोषण करना यह एक गृहस्थका धर्म है किन्तु यदि एक बातकी समझ बनी रहे कि सब भिन्न पदार्थ हैं, जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा। यह विश्वास यदि हो गया तो दुःख नहीं होता है। उस ज्ञानस्वरूप निज आत्माका यदि ध्यान बना रहे तो उसकी एक यह शक्ति है। ऐसा ज्ञान क्या गृहस्थ नहीं कर सकता है? ज्ञानमें तो कोई बाधा नहीं। इस ज्ञानके प्रताप से घर कुटुम्बमें भी रहकर यह जीव धर्मका पालन कर रहा है। मोक्ष मार्गमें चल रहा है। अपने भविष्यको सुधार रहा है। ऐसा ज्ञान और श्रद्धान बनाए रहना यह गृहस्थका एक कर्तव्य है।

भगवानका सर्वज्ञत्व सर्वदर्शित्व :—भगवान सर्वज्ञ देव घातिया कर्मोंको

नष्ट कर चुके हैं। घातिया कर्म हैं चार—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहिनीय और अन्तराय। ज्ञानावरण हम आपमें लगा है सो देख लो क्या ज्ञान का हाल है ? यहाँ हम आपमें कोई मनुष्य ऐसा नहीं मिलता जिसके सब प्रकारका ज्ञान प्रकट हो गया हो। दर्शनावरण कर्मों के उदय से सर्वज्ञान सम्पन्न आत्माके स्वच्छ स्वरूपका दर्शन नहीं हो पाता है। जब स्वच्छ स्वरूप का दर्शन नहीं है तब फिर बाहरी पदार्थों में सुख और हित ढूंढ़ा करते हैं। भगवान सर्वज्ञ देवको उनको अपने स्वरूप का निरन्तर दर्शन हो रहा है।

भगवानकी वीतरागता :—तीसरा घातिया कर्म है मोहनीय यह कर्म इतना प्रबल है कि इसके कारण श्रद्धान सही नहीं रह पाता है किन्तु मोह उत्पन्न हुआ करता है। इस मोहके उत्पन्न होनेसे प्राणी घरके लोगोंमें कुटुम्ब परिवारमें मित्रोंमें अपना बड़प्पन मान रहे हैं। पर इन बाहरी पदार्थों से इस जीवका रंचभी बढ़प्पन नहीं है। ये बाहरी पदार्थ पर हैं, न्यारे है। मैं आत्मा सबसे जुदा हूँ। ये जीव कल्पनाएँ बना-बनाकर अपना घातकर रहे हैं। सो इस मोहनीय कर्मके उदयके कारण इन जीवोंकी श्रद्धा सही नहीं हो पाती है। कदाचित कर्म दूर हो जाये और श्रद्धा सही हो जाय तो भी अपने श्रद्धानके मालिक चल नहीं पाते हैं। श्रद्धा हो गयी कि ये सब पदार्थ असार हैं, अपना आत्मस्वरूप ही शरण हैं। सो इस अपने अमूर्त आत्माका ध्यान करके अपने ज्ञान मात्रका स्वाद लेने पर वे कर्म नहीं रह पाते। यह इस ज्ञानस्वरूपका ही प्रताप है। ये घातिया कर्म उस सर्वज्ञ देव भगवानमें नहीं रहे इसलिए वह भगवान वीतराग है।

भगवानकी अनन्त शक्ति सम्पन्नता :—चौथा घातिया कर्म है अंतराय। अन्तराय कर्मके उदयसे हम और आपमें पूर्ण बल नहीं प्रकट हो रहा है। इस कारण हम आपको सफलता नहीं मिलती। हम चाहते हैं कि कुछ दान दें मगर अन्तराय कर्मभी निकट लगा है कि दानका परिणाम ही नहीं होने देता। हम चाहते हैं कि हमको लाभ हो मगर अन्तराय कर्म ऐसा विकट लगा है कि हम आप लाभ से बंचित हैं। भोग उपभोग बाधा रही आती है। हम चाहते हैं कि हमारा आत्म बल खूब विकसित हो जिसके कारण जैसा इस जगतमें चाहें वैसा कर सकें अथवा चमत्कार पा सकें मगर अंतराय कर्म ऐसा लगा है कि आत्मबल प्रकट नहीं होने देता। पर भगवान सर्वज्ञ देवके ऐसे अंतराय कर्मों का क्षय हो चुका है इस कारण सर्वज्ञ देवके किसीभी प्रकार विघ्न नहीं। इस प्रकार चारों घातिया कर्म दूर होनेके कारण भगवान सर्वज्ञ देवके मोह रंचभी नहीं रहा।

मोह परिणामकी गंदगी :—भैया, जगतमें सबसे गंदी चीज क्या है ? कोई कहेगा कि मूत्र है, गोबर है, मल है, या नालीका गंदा पानी है पर दुनियामें सबसे गंदी चीज है। यह जो माँस, हड्डी, मल, मूत्र इत्यादि बना है वह किस चीजसे बना है ? जिस चीजसे ये बने हैं उसका नाम है आहार वर्गणा। किन्तु भैया जीव द्वारा आहार वर्गणा ग्रहण करनेसे पहिले आहार वर्गणाओंमें जरा भी गंदगी नही है। वे सब शुद्ध स्कन्ध हैं। उनमें माँस, मल मूत्र आदि का नाम नहीं। पर जब मोही जीवका सम्बन्ध हो जाता है मैं माँस, खून, हड्डी, मल, मूत्र आदि बनने लगता है।

मूलकी गंदगीका एक दृष्टान्त :—अभी यहीं लड़कोंमें ही देख लो। किसी लड़केका पैर यदि विष्टामें भर गया है तो उसको कोई नहीं छूता है और वह लड़का अगर दूसरेको छू लेता है तो दूसराभी अस्पृश्य हो जाता उस दूसरे को भी कोई नहीं छूता है और दूसरा अगर तीसरे को छू लेता है तो तीसरे लड़क को भी कोई नहीं छूता है। इसी तरह कई लड़के छू जाने पर वे सब दस पाँच लड़के अछूते हो गये। वे सब लड़के अछूते हो गए तो जरा यह तो बतलावो कि वास्तवमें कौन सा लड़का उन दसोंमेसे मूलमें अछूता है ? सब की मूल है केवल एक लड़का जिसका पैर विष्टासे भिड़ गया। इसीके छू लेनेसे ये ६ लड़के गंदे बन गये। तो मूलमें अछूता लड़का कौन है ? वह एक।

मोहके सम्बन्धसे पुद्गल स्कंधमें अशुचिता :—इसी तरह आत्मामें ये दिखने वाले जो पुद्गल हैं ये पुद्गल तो इस जीवके छू जानेके कारण गंदे बन गये है। ये चीजें गंदी नहीं है। इनको गंदा करने वाला कौन है ? इनको गंदा करने वाला है यह मोहीं जीव अगर मोही जीव इस शरीर को ग्रहण न करता तो ये माँस, हड्डी, खून आदि कैसे बन जाते ? जीवके आये विना ये माँस, हड्डी, खून आदि नहीं बनते हैं। जब जीव इन आहार वर्गणाओं को ग्रहण करता है तब इस शरीरमें माँस, हड्डी, खून आदि बनते हैं तो ये चीजें अपवित्र कैसे हुई ? इस मोही जीवके छूनेसे ही चीजें अपवित्र हुई। जीव द्रव्य गंदा नहीं पर जीवमें उदित हुआ जो मोह परिणाम है वह ऐसा गंदा है कि जिसको ग्रहण कर ले वही अपवित्र हो जाता है। दुनियांमें पुद्गल पदार्थ अपवित्र नहीं है। धर्म द्रव्य अपवित्र नहीं अधर्म द्रव्य अपवित्र नहीं, आकाश द्रव्य अपवित्र नहीं और काल द्रव्य अपवित्र नहीं किन्तु इस जीवके साथ जो राग द्वेप मोह लगे हैं वे विकार अपवित्र हैं। तब हम और आपको इन विकारोंसे घ्रणा करना चाहिए।

संकट समाप्तिके दो कारण :—मैं आत्मा तो शुद्ध ज्ञानवान आनन्द निधान

हूँ, अमूर्त आत्मा हूँ फिर भी इसमें ये राग द्वेष मोह आदि कैसे लग गये। मैं तो ज्ञान और आनन्द निधान हूँ, कृतार्थ हूँ। मेरे इस लोकमें करने को कोई काम नहीं है। अपने स्वरूपको सम्हालूँ तो हमारे सारे संकट समाप्त हो गये ऐसा समझना चाहिए। भगवान सर्वज्ञ अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें रम रहे हैं सो उनको कोई संकट नहीं रहे। भगवानमें किसी भी प्रकारके संकट नहीं रहे इसके दो कारण हैं। एक तो भगवानके मोह नहीं रहा और दूसरे ज्ञान की शक्तिकी रुकावट नहीं हुई अर्थात् तृष्णायें नहीं हुई? इन्हीं दो कारणोंसे भगवानके ऊपर कोई प्रकारके संकट नहीं रहे। हम आपके तो मोहका सद्भाव है और पूर्ण ज्ञानका अभाव है।

भगवान का निर्दोष अनुभवन :—भगवानके न तो मोह रहा और न ज्ञान शक्तिकी रुकावट रही क्योंकि उन्होंने चारों घातिया कर्मोंका क्षय कर दिया है इस कारण उनके तृष्णा नहीं रही। जब तृष्णा नहीं रही तो समृद्धि भगवानमें अपने आप प्रकट होगी। अपना सर्वस्व अपने आपको प्रत्यक्ष हो गया है इस कारण अपने आपके आनन्दमें निरन्तर मग्न रहते हैं। उनके किसी पदार्थ को पानेकी इच्छा ही नहीं होती है, किसी को इष्ट माननेका भाव ही नहीं होता है। क्योंकि आनन्द स्वरूप निज आत्मतत्त्व पूरा उनको प्रत्यक्ष भूत हो गया है। तीनों लोकके जितने भी पदार्थ हैं, द्रव्य गुण पर्याय हैं वे सबके सब उस भगवानके ज्ञानमें ज्ञात हैं। याने सारे विश्वका उन्होंने पार पा लिया है। इसलिए किसी भी चीजके जाननेकी इच्छा उन्हें नहीं होती है। उस भगवान को सर्व कुछ ज्ञात होता है इसी कारण किसी पदार्थमें उन्हें सदेह नहीं होता है। सो प्रभु इच्छा रहित है, सदेह रहित है। उन प्रभुके तो सर्व विश्व हाथमें रखे हुए अमलककी तरह स्पष्ट झलक रहा है। इस कारण वह प्रभु किसको जाननेकी इच्छा करे? किसका संदेह करे, इस कारण भगवान अन्य किसी चीजका ध्यान नही कर सकता है।

प्रभुका ध्यान मात्र ज्ञानानन्दानुभवन :—तब फिर भगवान किसका ध्यान करता है ऐसा प्रश्न इस गाथामें किया गया है। इसका उत्तर अगली गाथामें करेंगे। सामान्य रूपसे यह उत्तर जानो कि भगवान किसका ध्यान करता है, वह भगवान तो आनन्द सुख को भोगता रहता है। ध्यान करनेकी वृत्ति जब होती है जब कुछ चाहें अथवा किसी चीजका संदेह हो तब ही बाहरी पदार्थोंका ध्यान चलता है पर भगवान तो कृतकृत्य है, अपने स्वरूपमें मग्न है। भगवान बाहरी पदार्थोंका ध्यान नहीं करता किन्तु अपने आनन्दका निरन्तर उपभोग करता रहता है। उस प्रभुका ध्यान इस ही प्रकारका है कि

वह अपने सहज आनन्दस्वरूपका अनुभवन करता रहे। अर्थात् अपने सर्वज्ञपने और शाश्वत आनन्दका निरन्तर भोग करता रहे।

सकलज्ञातृतत्व होने पर भी निजानन्दरसलीनता :—देखो भैया, एक बिनती जो अभी लड़के लोग बोल रहे थे। उसका प्रारम्भमें दोहा है सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्दरसलीन इस छोटेसे दोहेका यह अर्थ होता है कि यह प्रभु समस्त विश्वका ज्ञाता है फिर भी अपने आनन्द रसमें लीन है। प्रभुकी यही विशेपता है कि सर्व विश्वका वह ज्ञाता है और अपने आनन्द रसमें लीन है। ऐसा कोई हो सकता हैं। बाहरी पदार्थोंसे जान कर भी सुखकी आशा न रखो और अपने आनन्द रसमें लीन रहे। वर्तमानमें ऐसी सामर्थ्य जगतके अन्य जीवोंमें है क्या ? नहीं है। भगवानमें यह सामर्थ्य प्रकट होती है कि वह विश्वके समस्त पदार्थों को जानता रहे। पर उन सबको जान कर भी अपने आनन्द रसमें लीन रहा करे। यही प्रभुकी विशेषता है।

भक्तिका प्रयोजन निजस्वरूप दर्शन :—जो भैया, मंदिरमें जाकर प्रभुके स्वरूपके दर्शन कर लेता है और वहीं आनन्द रसमें लीन हो जाता हैं वही भगवानकी सच्ची भक्ति करता है। सेठ धनंजयके पुत्र को सांपने डस लिया। उसकी स्त्री बच्चे को मंदिरमें धनंजयके पास रख गई थी। वे देवोपासनामें मग्न थे उन्होंने बच्चेकी ओर ध्यान भी नहीं दिया भगवानकी भक्तिमें लीन रहनेका परिणाम यह हुआ कि उस बच्चेका साँपका विष स्वयमेव दूर हो गया। सो प्रभुकी भक्ति करके अपने ज्ञान और आनन्दकी वृद्धि करो। बाह्य में कुछ न चाहो। भक्तिका प्रयोजन निजस्वरूपका दर्शन ही मानो जिसने अपने शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लिया है ऐसा सर्वज्ञ देव जिसकी मूर्ति मंदिर में स्थापित होती है वह सर्वज्ञ देव किस चीजका ध्यान करता है। ऐसे प्रश्न पर उत्तर दे रहे हैं।

सव्वाबाधविजुत्तो समंत सव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खं परं सोक्खं ॥१९८॥

वह सर्वज्ञ देव सब प्रकारके बाधाओंसे रहित है। पहिले तो सर्वज्ञ देवका स्वरूप कहा जा रहा है। स्वरूप समझनेके बाद यह तुरन्त समझनेमें आ जायगा कि भगवान सर्वज्ञदेव किसका ध्यान करते हैं।

सर्वज्ञ देवकी विशेषता :—भगवान सर्वज्ञदेव सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित है और अपने आत्माके सर्व प्रदेशोंसे समस्त सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण है। संसारके सब लोग अपने इन्द्रिय और मनके द्वारा जितना ज्ञान और आनन्द भोगते हैं उससे भी अधिक ज्ञान और सुखसे परिपूर्ण है और अक्षा-

तीत है। इन्द्रियके विषयोंसे परे है। स्वयं इन्द्रिय रहित है, ऐसे वे सर्वज्ञ देव परम सुखका ध्यान करते हैं। वे सर्वज्ञ भगवान कोई दूसरे जीव नहीं है। यह ही आत्मा है, जैसे हम आप हैं वैसे ही वे आत्मा थे। यह ही आत्मा जिस समय इन्द्रियातीत हो जाता है तब अनन्त ज्ञान और अनन्त सुखका भण्डार बन जाता है। वैसे तो वह अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख सहज स्वभावरूपमें हम आपके इस समय भी है पर उनमें बाधा डालने वाले निमित्तभूत कर्म हैं। और अन्तरमें उनमें बाधा डालने वाला आन्तरिक हेतु राग द्वेष विकार है। तो जिस समयमें अतरंग और वहिरंग दुःखोंका साधन का अभाव हो जाता है उस समय वे इन्द्रियातीत होकर सर्वज्ञान और सुख से परिपूर्ण हो जाते हैं।

इन्द्रियां सर्वज्ञानकी बाधक :— हम और आपके जो इन्द्रियां लगी हैं उन इन्द्रियोंके कारण हम सर्व दिशाओंकी बात नहीं जान सकते हैं। जैसे किसी कमरेके भीतर बैठे हुए पुरुष किसी दरवाजेसे या खिड़कीसे ही जान सकता है, वह सर्व दिशाओंसे नहीं जान सकता है, इसी प्रकार शरीर रूपी कमरेके अन्दर बन्द यह आत्मा शरीरके जो ५ दरवाजे हैं,शरीरकी ५ इन्द्रियां है उन इन्द्रियोके द्वारसे ही जान सकते हैं। सर्व ओरसे नहीं जान सकते हैं। इन्द्रियों के द्वारसे भी जाननेमें सब कुछ नहीं जान सकते हैं। किन्तु स्पर्शन द्वारसे स्पर्श जानते हैं। रसन द्वारसे रस जानते, घ्राणद्वारसे गध जानते हैं और चक्षु द्वारसे रूप जानते हैं और कर्ण द्वारसे शब्द जानते हैं। इसी प्रकार कुछ कुछ ज्ञानके कारण भूत और कुछ कुछ सुखके कारणभूत इन्द्रियोंका जहाँ अभाव हो जाता है और उन इन्द्रियोंके अभाव होनेसे जब वह स्वयं इन्द्रिय रहित रूपपनेका अपना प्रवर्तन करता है उस ही समय यह अक्षातीत हो जाता है। अर्थात् भगवान स्वयं इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता है। और भगवान को दूसरे लोग भी इन्द्रियों द्वारा नहीं जानते हैं।

इन्द्रियां सत्य सुखकी बाधक :— भैया, जब तक इस जीवका इन्द्रियोंसे प्रसंग है तब तक जीवको निराकुलता नहीं रहती। इन्द्रियोंके कारण हम आकुलताओंमें पड़ते हैं। उन्हीं इन्द्रियोंसे प्रीति है जिनमें आकुलताएं मिलती हैं। सो यदि इन्द्रियोंके संकटोंसे बचना है तो इन्द्रियोंकी प्रीति पहले छोड़ना होगा। शरीरकी प्रीति छूटे तो इन्द्रियोंसे छुटकारा मिले। संसारी जीवके साथ ये इन्द्रियां लगी रहती हैं पर भगवानके साथ इन्द्रियां नहीं हैं। हम इन्द्रिय वाले और इन्द्रिय रहित को पूजते हैं। हम इन्द्रिय वाले और इन्द्रिय वाले ही भगवान हों तो हममें और भगवानमें क्या विशेषता रहती

जिससे वे परम पूज्य कहलाते हैं और हम उनके उपासक बनते हैं। तो सर्व प्रकारसे इन्द्रियोंसे रहित रहने वाले प्रभु सुख और ज्ञानस्वरूप हैं, उनके सुखमें कोई प्रकारकी बाधा नहीं आती है। बाधा तो बाह्य पदार्थों में विषय करने पर आती है। इन्द्रियों द्वारा जब बाह्य पदार्थों को अपनाते हैं और बाह्य पदार्थोंसे अपना हित और सुख समझते हैं, तब बाह्य पदार्थ यदि न मिलें तो आकुलता हो जाती है।

भगवानका सार्वदिक ज्ञान :—सर्व प्रकारकी बाधाओंसे रहित वह भगवान सर्व दिशाओंका ज्ञान करता है। पूर्व दिशामें आकाश कितनी दूर है। क्या उसकी सीमा बता सकते हो कि जिसके बाद फिर आकाश न हो। इसी प्रकार चारों दिशाओंमें आकाश कहाँ तक फैला है क्या इसकी दिशा बता सकते हो? नहीं। पूर्व आदि जो दिशाएँ बनाई गई हैं वे स्वयं पदार्थ नहीं है। किन्हीं सिद्धान्तोंमें दिशा को भी पदार्थ माना है। जिस ओरसे सूर्यका उदय होता है उसको ही पूर्व दिशा कहते हैं। स्वयं पूर्व, पूर्व नहीं है। जिस दिशामें सूर्यका अस्त होता है उसको पश्चिम कहते हैं। पूर्वकी ओर मुख करके यदि खड़े हों तो पीठ पीछे पश्चिम होता है, दाँयें हाथकी ओर दक्षिण होता है और इसके अतिरिक्त जो दिशा बचती है उसे उत्तर दिशा कहते हैं। ये दिशाएँ कोई स्वयं पदार्थ नहीं है। और दिशाओंका वर्णन केवल इस ही थोड़ी दुनियामें है। पर जहाँ पर सूर्य नहीं है वहाँ दिशाओंका क्या काम है। पर अपनी दृष्टिसे देखो, पूर्व दिशाकी ओर कितनी दूर तक आकाश मिलेगा? दक्षिण पश्चिमकी ओर कितनी दूर तक आकाश मिलेगा? असीम है आकाश भगवान सर्वज्ञ देव असीम क्षेत्र तक जाना करते हैं और समस्त द्रव्यों को जाना करते हैं। सो ऐसा अनुमान कर लो कि सर्व क्षेत्रोंमें रहने वाले पुरुषों को जो सुख होगा, जो ज्ञान होगा उससेभी परिपूर्ण सुख और ज्ञान भगवान के होता है। वह आत्माके सर्व प्रदेशोंसे समस्त सुख और ज्ञान युक्त हुआ करता है।

भगवानके ध्यानका उपचार व एक प्रश्न :—ऐसे स्वरूपमें स्थित भगवान किस चीजका ध्यान करते हैं इन पर दृष्टि दी जा रही है। भगवान ध्यान ही नहीं करता किन्तु ध्यानका उपचार बना कर यह समझाया जा रहा है कि आखिर भगवान क्या-क्या करता है? यहाँ तो हम और आपको काम कुछ न मिले तो विह्वल हो जाते हैं। कोई चीज ज्ञानके लिए या चेष्टाके लिए जब नहीं मिलती है, बेकार बैठ जाते हैं तो आकुलता व्याकुलता हो जाती। और खोजते हैं कि हमको काम मिले। कोई काम मिले तो एक काम

पूर्ण करनेके बाद फिर कामकी तलासमें रहते हैं। कुछ काम न मिले तो ध्यान हमारा उसमें लगा रहता है। पर भगवान सर्वज्ञ देवकी बात देखो कि उनके घर है, न उनके कुटुम्बहै, न उनके कोई अजीविकाका कार्य है न गोष्ठी है, न मिलन भुलन है न सभा सोसाइटी है, शरीर तक नहीं है। सकल परमात्माके शरीर है पर शरीर होना न होना एक समान है। ऐसा भगवान सर्वज्ञ देव क्या क्या करता होगा ? कैसे उनके दिन कटते होंगे ? ऐसा प्रश्न मनमें आ सकता है। यहाँ उसका उत्तर दिया जा रहा है।

भगवानका कार्य व ध्यान :—भगवान सर्वज्ञ प्रभु अपने ज्ञान और सुखका पूर्ण निरन्तर रहा करते हैं। यही उनका ध्यान है। निरन्तर जानन बना रहता है। तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ उनके ज्ञानमें ज्ञात हो गये है और जैसा ज्ञान पहिले समयमें होता है वैसा ही ज्ञान दूसरे समयमे और तीसरे समयमें होता रहता है। उनका काम सर्व विश्वका पूर्ण निरन्तर जानन बना रहता है। उनमें सुख और आनन्द है, कोई प्रकारकी आकुलता नहीं है। ऐसा शुद्ध आनन्द कि जिस आनन्दमें रंचमात्र भी परिवर्तन होने की सम्भावना भी नहीं है। पूर्ण निराकुल आनन्द है। ऐसा आनन्द रसका निरन्तर पान रहा करता है। ये ही उसकी विशेषताएं है जिससे भगवान हम आपके द्वारा पूज्य है।

भगवानके ज्ञानानन्द विकासकी अनन्तता :—भगवानके ज्ञान और आनन्द अनन्त हैं। हमारे ज्ञान अनन्त नहीं है। इन्द्रियों द्वारा जान जायें। इन्द्रियाँ बिगड़ जायें तो न जान सकें। वर्तमान समय की ही बात जानो। बहुत समयकी बात नही जान सकते भविष्यकी बात नहीं जान सकते, किन्तु भगवानका ज्ञान तो सर्व विश्व बराबर है क्योंकि सर्व विश्व उनके ज्ञानमे ज्ञात होता है। ऐसे अनन्त ज्ञानसे परिपूर्ण और आनन्द सुखसे भरपूर भगवान ज्ञान और सुख रूप परिणमता रहता है या यों कह लो कि परम सुख का निरन्तर ध्यान करता रहता है।

आकुलताओंके तीन कारण :—आकुलताओंके कारण तीन होते है—(१) किसी पदार्थकी इच्छा करना, (२) ज्ञान बढ़ानेकी इच्छा करना और (३) किसी बातमें संदेह होना। इन तीनों प्रसंगोंके आने पर आत्मामें क्षोभ हुआ करता है। इच्छा हो तो इच्छाकी वृत्ति आकुलताओं को लिए हुए वर्तती हैं, जैसी इच्छा हो वैसा बाह्य पदार्थोंमें परिणमन नहीं मिलता तो आकुलताएं रहती हैं। आपकी इच्छा हो कि हजारों और लाखोंका लाभ हो और लाभ नहीं होता; परका परिणमन आपके वशकी बात नही है, नही होता है तो

आकुलताएँ हो जाती हैं। तो अभिलाषा भी करना यह दुःखका कारण है। संसारके जीव इस ही रोगके तो रोगी हैं। कोई न कोई इच्छा लिए रहते हैं। बच्चोंसे बूढ़े तक देख लो पर भगवान सर्वज्ञ देवके कोई प्रकारकी अभिलाषा नहीं है। कितना निर्मल ज्ञान है। ज्ञानके परिपूर्ण होने पर अभिलाषाएँ नहीं रहती हैं।

सम्यग्दृष्टिकी निःकांक्षता :—भैया यह तो भगवानकी बात है। पर यहीं सम्यग्दृष्टिकी बात देख लो। जिसका यह पूर्ण निर्णय हो चुका है कि जगतके पर पदार्थ अणु-अणु, सर्वस्व निज निजस्वरूप है, अपना-अपना अस्तित्व लिए हुए हैं। किसीका किसीके साथ कोई प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। मैं अणुमात्र भी परपदार्थोंका स्वामी नहीं हूँ, एक भी अणु किसी भी प्रकार बदलनेमें मैं समर्थ नहीं हूँ इस प्रकारका जब यथार्थ बोध हो जाता है तो इस सम्यग्दृष्टी पुरुषको भी अभिलाषा नहीं रहती है। धन आवे, लाखोंका हजारोंका तो क्या लाभ हो गया ? वे अपनी सत्तासे हैं, पुद्गल हैं, जड़ हैं, उससे कोई सुख और ज्ञानकी किरण हममें नहीं आती है। लखपती भी मरते हैं, छोड़कर चले जाते हैं। धनकी क्या अभिलाषा करें ?

जीवनका उद्देश्य धर्मधारण :—जी रहे हैं धर्म धारण करनेके लिए। जीना तो मिलता रहेगा। पर धर्म सुगमतया नहीं मिलता है। जीवनका मोह छोड़ो और धर्मसे प्रीति जोड़ो। धन वैभवके सम्बन्धमें भारी चिन्ताएँ करना यह मूढ़ता है। लखपती है वह भी आध सेर भोजन करता है, साधारण स्थिति है वह भी आधा सेर भोजन करता है, कपड़े पहिनता है। लखपतीने ज्यादा लाभ क्या पाया ? लाभ नहीं पाया बल्कि लोकमें प्रतिष्ठा चाहनेसे उसने अपने आपमें पाप बसा लिया है। उस धन को तो असार निरखना चाहिए। धर्ममें प्रीति लावो। धनका मोह छोड़ो। यह ग्राम कितनी शांतिका है और काम भी यहाँ २४ घन्टेका किसीका नहीं होगा। शाम सुबह दुकान खोलनेका रहता होगा। दो-चार घंटे मंदिरजी में आकर किन्हीं ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो, अपनी गोष्ठी बनाओ तो आपको वह लाभ मिल सकता है जो शहरके लोगों को नसीब नहीं है। पर ऐसा विश्वास हो कि यह जीवन धर्मधारणके लिए मिला है। बच्चोंके पोषणके लिए ही जिन्दगी नहीं है। उनका भाग उनके साथ हैं, तब निजका काम बने। वे अपने भाग्यके अनुसार स्वयं ही अपना काम करेंगे। तो जिन्दगीका लाभ तो धर्मधारणमें है।

धर्म क्या और कहां :—धर्मधारण तब हो सकता है जब हमें धर्मका स्वरूप विदित हो। धर्म है आत्माका स्वभाव। यह धर्म आत्माके समीप

आत्मामें ही अनादि कालसे अनन्त काल तक बराबर रहने वाला है। जिस धर्मकी चर्चा करते हैं और धर्मके पानेकी इच्छासे बड़े मंदिर बनते है उत्सव करते है, वह धर्म कही बाहर नहीं है। वह धर्म आत्मामें ही है, अनादिसे है। अनन्त काल तक है। आत्माका स्वरसतः अपने आप जो स्वभाव है वही धर्म है। उस धर्मकी जिसे दृष्टि हो, धर्मका अनुभव हो तो उसे धर्मात्मा कहते हैं।

भगवानके अभिलाषाका अभाव :—भगवान सर्वज्ञ देवके सब प्रकारकी अभिलाषाओंका अभाव हो गया है। अब अपने अनुमानसे विचारो कि भगवान सर्वज्ञ देव क्या चाहता होगा ? क्या वैभव घर द्वार आदि चाहता होगा ? क्या प्रतिष्ठा चाहता होगा ? आप किसी दिन मंदिर न जायें तो क्या भगवान को यह आकुलता हो जायगी कि आज दर्शन करने नहीं आये, या दर्शन करने अमुक भैया देरसे आये। उस भगवानमें रंचमात्र भी विकार नहीं है। वह भगवान निरन्तर अपने ज्ञान और आनन्दमें मग्न रहा करता है। किसी भी प्रकारकी आकुलताएँ उस भगवानमें नही हैं। भगवान सर्वज्ञ देव परमसुखका ध्यान करते हैं। भगवान सर्वज्ञदेवमें बाह्य पदार्थोंकी अभिलाषा नही है क्योंकि किसी प्रकारकी अभिलाषासे किसीका हित नही है। वे सर्वज्ञदेव समस्त बाह्य पदार्थोंके स्वरूपको एक समान निरख रहे हैं। पदार्थों का जैसा शुद्ध स्वरूप है वैसा ही वे निरख रहे हैं। इस कारण उन्हें किसी भी प्रकारकी अभिलाषा नहीं है।

भगवानके जिज्ञासाका अभाव :—इसी प्रकार भगवानके जाननेकी भी इच्छा नहीं है। वे विश्व को जानते हैं इस कारण जाननेकी उनको इच्छा नही है। जाननेकी इच्छा वह पुरुष करे जो जानता न हो। जब किसी सम्बन्धका ज्ञान होता है तो जाननेकी उत्सुकता भी नही होती है। जिसे हम आप जान रहे हैं उसे जाननेकी इच्छा तो हम आपको भी नहीं होती है जैसे इस चौकी को जानते है तो इसके जाननेकी इच्छा नहीं होती है। और कल्पनासे वह चीज समाई है और नहीं जान रहे हैं तो उसको जाननेकी इच्छा करते है। भगवान सर्वज्ञदेव तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जानते हैं। इस कारण भगवानके जाननेकी इच्छा नहीं हैं। यह भी एक कारण है कि भगवानके दुःख सुख नहीं है।

भगवानके संदेहका अभाव :—तीसरी बात यह है कि भगवानके संदेहका अभाव है। हम आपको तो पद पद पर संदेह हो जाता है। व्यापारमें कोई चीज खरीद कर रखा है तो यह संदेह रहता है कि आज यह भाव है तो

कल क्या भाव हो जायगा लोगोंसे पूछते हैं कि भैया आज क्या भाव है जब ऐसा मालूम होता है कि भाव घट गया है। तो इतना सुनते ही दुःखी हो गये। ता जहाँ संदेह रहता है वहाँ दुःख ही रहता है। भगवानके संदेह नहीं है। वे तीन लोककी बातों को भी स्पष्ट जानते हैं। समस्त पदार्थोंके गुण पर्याय को यथार्थ विशद जान रहे हैं इसलिए उनको कोई संदेह नहीं है। भगवानके संदेहका अभाव है। हम आपको तो पद-पद पर संदेह हुआ करता है। भगवान संदेहसे रहित हैं इस कारण उनका जो सुख है वह परिपूर्ण सुख है।

भगवानके सुखकी अपूर्वता :—भैया, संसारी जीवके आज तक ऐसा आनन्द नहीं पाया है। युक्त अवस्थासे पहिले ऐसा आनन्द हो ही नहीं सकता है। ऐसा अपूर्व आनन्द भगवान निरन्तर भोग रहे हैं। वह सुख कैसा है ? इसका वर्णन हम आप नहीं कर सकते हैं। हम आप तो अनाकुलता शब्द को ही बोल सकते हैं क्योंकि हम आप आकुलताओंसे परिचित हैं। आकुलताएँ कैसी होती हैं ? कैसा आकुलताओंका परिणमन है ? इन बातों को हम जानते हैं। तो समझ लिया कि भगवानके ऐसी-ऐसी आकुलताओंका अभाव हो गया है। तो भगवानके कोई प्रकारकी आकुलता नहीं रही। ऐसा उनके सुख है। भगवान सुख ही ध्यान करते हैं अर्थात् भगवान एकाग्र रूपसे अनाकुल ज्ञायकस्वभावका निरन्तर सचेतन करते हुए ठहरते हैं। ध्यान तो वहाँ किया जाता है जहाँ ध्यान न बनता हो और फिर बादमें ध्यान करनेमें लगते हों। ऐसे ज्ञानमे लगनेका निमित्त बना कर भगवान किसी पर पदार्थमें उपयोग नहीं लगाया करते। उनके तो सहज स्वरूपका निरन्तर ध्यान बना रहता है, क्या, कि ज्ञान और सुखका अनुभवन बना रहता है और यथार्थ द्रव्य गुण पर्यायका जानन रहा करता है तो एक ज्ञायकस्वभावमें अनाकुलताका एकाग्रय संगत संचेतन होते हुए निरन्तर उपभोग बना रहना यही परम सुख है ऐसी जो भगवानकी स्थिति है वह सिद्धि कहलाती है।

सिद्धिका अर्थ :—कोई कहे कि सिद्धिको प्राप्त करो। तो सिद्धि को प्राप्त करनेका तात्पर्य क्या है। अपने उपयोग को ऐसा निर्मल, निर्लेप बनाओ कि जिससे इस आत्माके उपभोगकी स्थिति आत्मज्ञानकी स्थिरतासे बनी रहे। आत्म ज्ञानसे अनाकुलता को चेतते रहें। ऐसी स्थितिका होना ही सिद्धि कहलाती है। आपका सहज ज्ञान और सहज आनन्द स्वभाव सही हो यही सिद्धत्व है। उसका ही आश्रय होनेके कारण भगवान सिद्ध हो गये हैं। अर्थात् ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण हो गये हैं इस

सिद्ध की न अरहतके कमी है और न सिद्ध भगवान के कमी है। चार घातियाँ कर्म अरहत भगवानमें नहीं हैं और न सिद्धि देव के हैं। सिद्ध भगवान के तो आठों कर्म भी नहीं हैं।

भगवानका ध्यान मात्र ज्ञानानन्दका अनुभवन :—भगवान सर्वज्ञदेव तो शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्द का निरंतर अनुभवन करते हैं। वे छद्मस्त जीवोंकी तरह किसी उपयोग से हटें, किसी उपयोगमें लगे अर्थात् हमारे और आपकी तरह उनका घर परिवारमें ज्ञान नहीं रहता। भगवानका ध्यान तो ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण वना रहना ही है। इसके अतिरिक्त प्रभूका और कुछ ध्यान नहीं है। यही कारण है कि हम भगवान की उपासना करते हैं।

प्रभुकी उपासनामें ध्येय :—भैया, भगवानकी उपासनामें अपना चित्त ऐसा वनाना चाहिए कि प्रभू जैसे सहज शांति और आनन्द को प्राप्त करूं। हे नभो मुझेभी अपने स्वरूप की रुचि है। कव्र वह समय आये जब घर परिवार का माया जाल छूटे। यहाँ के व्यर्थके विकल्प संकट मिटें और मैं निर्विवल्प परम अनाकुलताके सुखको प्राप्त करूं और अपने सहजस्वरूपमें रमण करूं प्रभू ऐसा मुझमें वल प्रकट हो। प्रभूसे मुझे यही चाहिए। अन्य कल्पनाए ना करूँ। घर, वन मकान आदिके मोहसे पूर्ववद्ध पुण्य कम हो जाता है पाप वढ़ते हैं क्योंकि ये सांसारिक वैभव पुण्य नहीं वढ़ाते हैं वल्कि हानि ही पहुँ-चानेके कारण होते हैं। इस संसारको यदि कोई जड़ चीज मिल गई तो उससे लाभ नहीं होगा उल्टा नुकसान ही होगा। या लाभ अधिक होना था सो लाभ कम हो जायगा। भगवानने जैसा चाहा वैसा ही चाहो तो अपने आप पुण्य वढ़ेगा। पापोंका क्षय होगा और स्वयंमेव अनेक सम्पदाएँ प्राप्त होंगी। सम्पदाकी इच्छासे तो धर्मके लाभसे भी वञ्चित हो जायगा और सम्पदासे भी वञ्चित हो जायगा। जैसे कि किसान अनाज उत्पन्न करनेके लिए खेती करता है तो उसे भूसेका लाभ होता है। और किसान यदि भूसा उत्पन्न करनेके लिए खेती करे तो वह लाभ प्राप्त करनेसे वंचित रह जायगा। इस कारण केवल सहज ज्ञानकी प्राप्तिकी चेष्टा करो।

संकटसे मुक्तिका अपर नाम शान्ति :—यह जीव लोकमें वड़े संकटोंमें फंसा हुआ हैं। इसको रंचमात्र भी चैन नहीं है। यह पर वस्तुसे मोह करता है इसलिए चैन नहीं है। और कुछ मोह छुड़ानेकी सोचते हैं तो भीतरसे फिर ऐसी गुदगुदी उत्पन्न होती है कि फिर मोहमें ही जाकर जकड़ता है। इसको किसी जगह चैन नहीं है। यह सब मोहका और अज्ञानका वड़ा वाहरी संकट है। उन संकटोंसे छुटकारा पाना ही शान्ति है। उसका ही नाम मोक्ष है।

जितने संकट लगे हैं उन सब संकटोंसे मुक्ति हो जाय इसका ही नाम मोक्ष है। सो मोक्षका उपाय क्या है? इस बात को ऋषी संतोंने अपनी तपस्या और साधनासे जो जाना है उसको वे ग्रन्थोंमें लिखे गये है।

मोक्ष मार्गकी पद्धति :—मोक्ष मार्ग क्या है? अपने आपका जो शुद्ध आत्मा स्वरूप है उसकी दृष्टि होना ही मोक्षका मार्ग है। कैसे शुद्ध आत्माका पता होता है प्रथम तो ऐसा विचार करो कि यह मैं आत्मा जिसमें सुख और दुःखका अनुभव होता है, जो नाना प्रकारके अपने आपमें विचार बनाता है ऐसा यह आत्मा यदि खालिस होता, इसके साथ शरीरका सम्बन्ध है, इसके साथ कर्मोंका संयोग न होता खालिस यह आत्मा होता तो किस स्वरूपसे रहता, इसका ध्यान करो। शरीर न रहता तो भूख, पानी, शर्दी, गर्मीकी वेदना भी न होती। शरीर न होता तो रिश्तेदार, मण्डली, मित्रजन आदि ये कुछ न होते। यदि शरीर साधन होता तो किसी प्रकारकी बेचैनी इसको होती क्या? यहाँ तो लोग चाहते हैं कि मैं दुनियामें अच्छा कहलाऊँ मेरी इज्जत रहे मुझे कोई बुरा न कहे। शरीर लगा है आत्माके साथ इसी कारण ये सारे ऐब लग गये है। विकल्प होना, दुःख होना, चिंताएँ बढ़ाना ये सब शरीरके ही कारण हो गये हैं। पर यह शरीरमें नहीं हूँ। शरीर जड़ पदार्थ है। मैं इस जड़ पदार्थसे न्यारा हूँ। यदि यह मैं आत्मा इस शरीरसे जुदा हूँ अनुभव करूँ तो यह मैं कितना सुखी हूँ? निराकुल होना, निर्विकल्प होना यही आत्माका सहजस्वरूप है। इसके पहिचाननेकी पद्धति एक यह है कि ऐसा विचार करो कि मैं यह शरीर नहीं हूँ। तो मैं किस रूप हूँ? मैं निराकुल, निर्विकल्प ज्ञान मात्र ज्ञान प्रकाश रूप हूँ। बस ऐसे आत्माके स्वभाव की दृष्टि हो जाना यही मोक्षका मार्ग है।

संकट तो हम आपने जबरदस्ती लगा रखे हैं संकट इस जीव पर कुछ नहीं है। जो सोच लें कि मैं सबसे न्यारा, निराला केवल एक ज्ञान मूर्ति हूँ, मेरा किसीके साथ रंच भी सम्बन्ध नही है तो फिर भला बतलावो कि इस पर संकट ही क्या हुए? संकट तो यही हो रहे है कि हम पर पदार्थोंमें दौड़ लगा रहे है। मोह कर रहे हैं। जैसा हम चाहें वैसा पर पदार्थोंमें परिणमन हो जाय सो नहीं हो सकता। जब इच्छाके अनुकूल परमें परिणमन नहीं देखते हैं तो हम बेचैन हो जाते हैं। तो अपने आपका पता होनेसे मैं शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति करलूँ तो यही मोक्षका मार्ग है। अपने आपके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिका सरल ढंग यह है कि मैं अपने आपको सबसे न्यारा समझूँ। जितना ही न्यारा अपने को विचारोगे उतना ही आप परमात्माके

समीप पहुँचेंगे अपने शुद्ध स्वरूपकी ओर पहुंचेंगे। परमात्माके दर्शनका उपाय यह है कि अपने आपको सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप सोचो। शुद्ध आत्मा की उपलब्धि ही मोक्षका मार्ग है। इस ही बातका अवधारण इस गाथामें करते हैं।

एवंजिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्सय णिव्वाणमग्गस्स ॥१९९॥

जितने जिन हुए है, जिनेन्द्र हैं, जो सिद्ध बने वे इस ही मार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं। सो उस सर्व सिद्ध प्रभुको मेरा नमस्कार हो, और उस मोक्षके मार्ग को मेरा नमस्कार हो।

जीवकी यात्रा के दो मार्ग :—देखो भैया, दो ही तो मार्ग हैं। (१) मोक्षका मार्ग और (२) संसारका मार्ग। संसारका मार्ग क्या है यह सिखानेकी जरूरत नहीं है। उस मार्ग पर चल ही रहे हैं। मोह करना, द्वेष करना, इन्द्रियोंके कारण आशक्ति रहना यह अज्ञान संसारका मार्ग है। और मोक्ष का मार्ग क्या है? मोक्षका मार्ग इसके बिल्कुल विपरीत है। राग द्वेष मोह न करना, इन्द्रिय और मनके विषयोंमें प्रीति न करना, अपने आपके अद्भुत ज्ञानानन्द स्वरूप को देखना यही मोक्षका मार्ग है। देखो जो कल्याणका मार्ग है वह कठिन लग रहा है, किन्तु यह निश्चित है कि जब भी संसारसे पार होनेका अवसर होगा तब उस ही उपाय को पा करके होगा। इस उपाय को पाये बिना मुक्ति नहीं होगी। इस कारण मन न भी लगे, मन को जबरदस्ती लगानेमें किसी प्रकारके कष्ट भी आ जायें फिर भी इस आत्माके स्वरूपकी दृष्टि न छोड़ो।

स्वरूपदृष्टिका फल सिद्धत्वप्राप्ति :—इस ही निज स्वरूप दृष्टिके मार्गसे ही श्रमण जन, साधु जन जिनेन्द्र बनकर सिद्ध हुए हैं। जितने भी मोक्षगामी पुरुष हुए हैं, तीर्थन्कर हुए हैं, सामान्य केवली हुए है वे इस मार्ग को प्राप्त करके ही हुए हैं। तीर्थन्करोमें तो २४ तीर्थं कर वर्तमानके और अनेकों २४ तीर्थंकर भूतकालके तथा चरम शरीरी केवलीमें राम हनुमान नल, नील, सुग्रीव आदि अनेक केवलज्ञानी आ जाते हैं। तो चाहे वह सामान्य चरम शरीरी भगवान हो और चाहे तीर्थन्कर भगवान हो सभीके सभी इस ही उपायसे मोक्षके मार्ग को प्राप्त कर सिद्ध भगवान हुए हैं। सो भैया, इस ही उपायसे अपने आपमें बसे हुए शुद्ध स्वरूपकी प्रवृत्ति करो। देखो, बाहर न देखो, अपनी आँखों को बाहर न लगावो। बाहर लगाये हो तो आंखें बन्द कर लो और किसी प्रकार भी मनमें विकल्प न बनाओ। जो आपका मोह-

कल्पित घर है वह तो आध घंटेके बादमें भी मिल ही जायगा, वह घर कहीं बरोदिया ग्राम को छोड़कर बाहर न भग जायगा। थोड़े समयके लिए सर्व प्रकारके विकल्पों को छोड़कर इन इन्द्रियों को बाहरमें न लगा कर अपने आपमें कुछ न कुछ ढूंढ़नेका यत्न करे। वह यत्न ज्ञान द्वारा होगा।

ज्ञानका ज्ञानकी खोजके लिये यत्न :—ज्ञानके द्वारा अपने इस शरीर को भूलकर मानो यह शरीर नहीं है, केवलमात्र मैं हूँ। जिसमें मैं, मैं का ज्ञान होता है. केवल वहाँ तक अपनी दृष्टि ले जावो, और विश्रामपूर्वक निरखो कि मैं क्या हूँ। यदि सही मापनेमें बाहरी पदार्थोंसे विकल्प हट गया होगा तो अपने को अपने आपमें एक अतुल तेज दीखेगा। जो तेज पौद्गलिक तेज की तरह नही है। रूप, रस, गध स्पर्श वाला नहीं है किन्तु एक ज्ञान तेज है। उस तेज को निरखो। उस तेजके दर्शन होनेके ही साथ बड़ी निराकुलता का अनुभव होगा। वस, वहाँ जो आपको आनन्द मिलेगा वैसा आनन्द लूटते रहना यही मोक्षका मार्ग है।

सहजआनन्दसे मोक्षकी प्राप्ति :—मोक्षका मार्ग दुःखोंसे नहीं मिलता, क्लेशोंसे नहीं मिलता किन्तु बाह्य पदार्थों का विकल्प त्याग देनेके कारण अपने आपमें अद्भुत विश्राम प्रकट होता है उसमें होने वाला आनन्द मोक्ष का मार्ग है। चाहे यह कह लो कि ज्ञान मोक्षका मार्ग है चाहे यह कह लो कि शुद्ध आनन्द मोक्षका मार्ग है। आत्मामें अन्य कुछ नहीं है क्योंकि शुद्ध ज्ञानके साथ ही सत्य आनन्द होता है। अज्ञान रखते हुए हम शुद्ध आनन्द को प्राप्त करलें यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता है। हम परिवारसे स्नेह भी करें और अपने आत्माके उद्धारका, मोक्षका उपायभी बनाएँ ये दो बातें कभी नहीं हो सकती हैं। इसलिए यही निर्णय करो कि हमारा हित मोक्षमें है और वह मोक्ष निराकुलता ही है। वह निराकुलता मुझे अपने स्वरूपकी दृष्टिसे ही प्राप्त होती है।

मेरे लिये बाह्य पदार्थोंकी असारता :—बाह्य पदार्थोंका अपने हितमें विश्वास छोड़ दो। इनमें विश्वास न करो। ये बाहरसे रमणीक लगते है। स्त्री, पुत्र, मित्र अथवा भोजन, सुगंधित वातावरण, अच्छा रूप ये सब ऊपरसे बड़े भले लग रहे हैं मगर ये इतने धोखेकी चीजें हैं कि जो जन इन विषयोंमें लीन हो जाते हैं उनके नरक और निगोदका दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए ऐसी हिम्मत बनाओ, अपनेको मजबूत बनाओ कि विषयोंसे प्रीति न उत्पन्न हो। इन्द्रिय विषयोंके प्रकार देखो ५ ही है। स्पर्शनका विषय क्या है ? कोई स्त्री पुत्रोंका रूप सुहा जाना भला बतलावो इसमें क्या दम है ?

ये ऊपरके नाक, हाथ चमड़ेसे ढका हुआ शरीर अच्छा लग रहा है मगर इसके अन्दर सार क्या है ? जरासी फुंसी हो जाय, फोड़ा हो जाय तो वह सूरत बदसूरत लगने लगती है। कहीं खून निकल आया, कहीं पीप निकल आयी तो रूप बदसूरत लगने लगता है। और इसमें गंध सूंघो तो यह शरीर करीब-करीब दुर्गन्धसे पूरित है। यह तो कहीं इत्र लगा लिया कहीं और कुछ लगा लिया जिससे नहीं मालूम होता नहीं तो यह शरीर दुर्गन्धसे भरा हुआ है यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता। अगर इस शरीरके पास नाक ले जाकर सूंघो तो दुर्गन्ध मालूम होगी। सो दुर्गन्ध को विषयाशक्तिके कारण यह जीव अनुभव नहीं कर रहा है। गंदगी आ रही है, मगर यह जीव कषायोंसे लाभ अथवा शरीरसे प्रेमका अनुभव करता ही है।

विषयों की असारता :—सार इन विषयोंमें क्या है सो बतलावो ? उन सब विषयोंमें खोटा विषय क्या है ? वही ब्रह्मचर्यका घात, मैथुन प्रसग जिस में अज्ञान ही अज्ञान भरा है। मल, मूत्र, रुधिरसे पूरित दुर्गन्ध इस शरीरमें भरी हुई है। इस शरीरके अन्दर प्रीति हो और आशक्ति हो, इसको कितनी बड़ी मूढ़ता कही जाय ? मगर यह मोही जीव लोक अपने स्वरूपके खूटें को तोड़ कर पर पदार्थोंमें ही दौड़ लगाते हैं और इसी कारण जीवन भर दुःखी रहते हैं। भैया, जितने भी महापुरुष सिद्ध हुए है वे इस ही शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रवृत्तिकी विधिसे मोक्ष मार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं। मोक्ष मार्ग को प्राप्त करनेके अनेक प्रकार नहीं होते है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मुक्तिका उपाय मात्र शुद्धात्मदर्शन :—लोग कहते हैं कि धर्म-धर्म सब एक समान हैं। किसी भी धर्ममें लग जावो तो उस ही धर्मसे मुक्ति हो जाती है। पर लग जावो किसी भी महजबमें, पर मुक्तिका जो उपाय है वह अनेक है ही नहीं। मुक्तिका उपाय एक ही है। अपने आपके शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि हो और इस ही शुद्ध आत्मस्वरूपमें रति हो, लीनता हो तो मुक्ति होती है। एक ही मोक्षका उपाय है। अन्य कई मोक्षके उपाय नहीं हैं। इसलिए यह निश्चित किया जाता है कि शुद्ध आत्माका दर्शन ही मोक्षका मार्ग है। दूसरा कोई मोक्षका मार्ग नहीं है। बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन है। जो करेगा सो आनन्द भोगेगा। बचनोंसे कोई सिद्ध नहीं होता है, चरित्रसे ही सिद्ध होते हैं। सो उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी हमारी प्रवृत्ति हो।

अपूर्व नमस्कार :—उन शुद्धात्मावों को व मुमुक्षुओं को हमारा नोआगम भाव नमस्कार हो। ऊपरी नमस्कार नहीं कह रहे किन्तु उनके स्वरूपमें मेरा उपयोग लगे। उनके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करता हुआ मैं उपयोगमें तो

शुद्ध आत्माकी ही तरहसे शुद्धता वर्तता हुआ रहें। यह नोआगम भाव नमस्कार है। उस शुद्ध आत्मतत्त्वमें प्रवृत्त होने वाले जनों को अरहंत सिद्ध भगवतों को मेरा नमस्कार हो। और शुद्ध आत्मतत्त्वमें जो प्रवृत्ति की जाती है यही हुआ मोक्ष मार्ग। सो इस मोक्ष मार्ग को मेरा नमस्कार हो। किस तरहसे नमस्कार हो? देखो कुछ शब्द कठिन लग रहे होंगे। कुछ समझमें भी कम आ रहा होगा। ये बचन उन्हें कुछ कठिन हैं जिन्होंने इस शुद्ध स्वरूप का और धर्मका परिचय नहीं प्राप्त किया फिर भी कुछ श्रद्धाके साथ और कुछ पुरुषार्थके साथ सुनो।

अनंतसतोंका अनुभव :— मेरे कल्याणका तो उपाय यही है जो उपाय बड़े ऋषीजन संत अपने बीसों वर्षों की तपस्याके परिणामस्वरूप लिख गये हैं। ऐसा नमस्कार हो मेरे भगवान को कि भगवानके स्वरूप को ऐसी एकाग्रता से मैं भाऊँ कि भाते ही भाते यह भेद न रहे कि यह तो प्रभु है जिसकी मैं भावनाएँ कर रहा हूँ और यह भक्त है जो भावनाएँ कर रहा है। भगवान और भक्तोंमें भेद न रहे, एकता हो जाय इसको कहते हैं सच्चा ज्ञान नमस्कार नोआगमन भाव नमस्कार। तो शुद्ध आत्मतत्त्वमें प्रविष्टों को और शुद्ध आत्मतत्त्वमें प्रवृत्ति करने रूप मोक्ष मार्ग को मेरा अभेद नमस्कार हो। अर्थात् मैं सर्व कुछ भूल जाऊँ। केवल एक निजस्वरूपका ही अनुभवन करूँ। ऐसी स्थिति हो तो यही मोक्षका मार्ग है।

इस जीवनकी करतूतों का मुनाफा :— इतने बड़े तो आप हो गये, कोई २५ वर्षका, कोई ६०, ७० वर्षका विषय प्रसंगोंमें ही जीवन इतना व्यतीत हो गया। पर बतलावो उन विषय प्रसंगोंसे आज तक कुछ शांति प्राप्त की? आज अपने को देखते हो तो अशांत ही पाते हो। शांतिका कितना तो उपाय कर डाला फिर भी अपने को अशांत ही पाते हो। तो भला बतलावो कि इस मनुष्य जीवन को पाकर नफा क्या पाया? जैसे बच्चे लोग कुछ गीली रेतीली जमीनमें जाकर पैर पर घरबूला बनाते हैं तो घरबूला बनाया, जरा देरमें फिर मिटा दिया। ऐसा ही करते-करते ६ घन्टे हो गए, पर ऐसे में बच्चोंने क्या लाभ पाया सो बतलावो। इसी तरह आप सब भी अपना कोई काम बनाते हैं फिर काम खतम हो जाता है, फिर कोई दूसरा काम बनाते व खतम हो जाता है, घरबूले बनाते जाते और मिटते जाते।

बेचैनीका कारण कार्यकल्पना :— इस भवके अनेक यत्नोंके बाद भी आज अपने आत्मामें देखो तो आत्मामें कोई लाभकी चीज मिल रही हो तो बतलावो। कुछ भी तो लाभ नहीं नजर आ रहा है। केवल बेचैनी ही नजर

आ रही है। यहाँ बैठे-बैठे आपके चित्तमें कुछ प्रोग्राम होगा, अभी आध घन्टेमें क्या करना होगा? कोई सोचता होगा कि घर जाना है और जिनके चौके लगे होंगे वे तो भग ही गये होंगे। तो कितने ही प्रोग्राम आप मनमें सोच रहे होंगे। तो यह बेचैनीका ही तो परिणाम है अगर आपको बेचैनी न हो तो आप अन्य प्रकारकी बातें सोचेंगे कितनी तरहके विचित्र आपके भाव उत्पन्न हो रहे हैं, क्यों हो रहे हैं? अरे ५० वर्ष तो तुमने अपने मनके सारे काम कर डाले, खूब खेती की, खूब अनाज भरा, खूब गाड़ियाँ तोड़ी, खूब बनवाई, फिर भी चैन नहीं है कि इन सबको छोड़ कर शान्तिसे विश्राम तो लें। इन सबको छोड़ कर अपने आपके आत्माके दर्शन तो करो कि यह आत्मतत्त्व क्या है?

बड़प्पनका कारण स्वयंकी निर्मलता :—भैया, शान्तिका उपाय तो एक शुद्ध आत्माके स्वरूपका दर्शन है। इसलिए थोड़ा तो जीवन शेष रहा और इस शेष रहे जीवनमें भी एक आत्माका काम न किया तो यह जीवन व्यर्थ है। सो इस शेष रहे जीवनमें तो एक आत्माका काम कर डालो जितना हो सके, तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करके भी एक अपने आत्माका ज्ञान करो, यही सबसे बड़ा बड़प्पन है। वैभवका सम्बन्ध परिग्रहका सम्बन्ध हैं तो आपको बड़प्पन नहीं मिलेगा। यदि परिग्रही को बड़ा कहेंगे तो मोहीजन ही बड़ा कहेंगे। सो एक यह ध्यान बनाओ कि हमको तो ज्ञान मार्गमें लगना है, धर्म मार्ग में लगना है इन बाहरी समागमों को देखते रहो। जैसा और जीवोंका परिवार है इसी प्रकार यह भी एक समुदाय है। मेरे लिए जैसे चीजें भिन्न हैं वैसे ही ये सब भी मुझसे भिन्न हैं। ऐसी सब जीवोंमें समान भावोंकी दृष्टि रख कर अपने आपके ज्ञान मार्गके लिए उत्सुक होओ?

मोक्षमार्गमें करणीय यत्न :—भैया, मोक्ष मार्ग तो निश्चित हो गया कि यह शुद्ध आत्मस्वरूपका दर्शन ज्ञान और इस ही शुद्ध आत्मस्वरूपमें रमण, यही मोक्षका मार्ग है अब इस रूप उपयोग करनेका यत्न करो। शरीर को भी भूल जावो। और कुछ न बने धर्म पालनके लिए तो सीधा यह रास्ता अपना लो कि जिसमें मैं, मैंका अनुभव कर रहे हो। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं समझता हूँ, जिसके लिए तुम मैं कह रहे हो क्या वह शरीर तुम हो? आँखें बन्द करके यहाँ वहाँकी बातें भूल करके भीतरमें निरखो तो सही कि जिसको आप मैं कह रहे हो क्या वह शरीर है? नहीं शरीर नहीं है। तो शरीर को भूल जावो ऐसा निरखो कि मानो शरीर मुझसे चिपटा ही नहीं

यद्यपि शरीरका और जीवका घनिष्ट सम्बन्ध है फिर भी उपयोग द्वारा इस शरीर को छोड़कर ही आगे बढ़ सकते हो। यदि अपने आप को न्यारा समझो तो इस शरीर को भूल सकते हो और अपने आपको सबसे निराला समझ सकते हो। इन सबको भूलकर अपने आपमें बसे हुए शुद्ध आत्माके दर्शन करो, उसमें ही रमण करो तो मोक्षका मार्ग प्राप्त कर सकते हो।

कर्त्ता और काल्पनिक कृत्यकी क्षणिकता व दृष्टान्त :—भैया, इन मायामय अर्थों में क्या सार है। एक कथानक है कि एक बड़ा रहीस आदमी था। तो उसने बहुत ऊँची हवेली बनवाई जब हवेली बन चुकी तो सेठने गाँव भरके लोगों को उद्घाटनके लिया बुलाया। लोगोंने आकर सेठकी तारीफके पुल बाँध दिए। बहुत बड़े सेठ है, इनका बहुत बड़ा प्रताप है। बहुत अच्छी हवेली बनाया है। तो प्रसंसामें आकर फूल कर सेठजी खड़े होकर आये हुए जनोंसे कहते हैं कि भाई मैंने क्या बनवाया है, सब आप लोगोंका ही प्रसाद है। कहीं ऐसा बोलनेसे यह नहीं सोच लेना कि सेठके अभिमान नहीं है। यह बोलनेकी बात है आप लोग यह बतलावो कि इस हवेलीमें कोई नुक्स है क्या ? यदि कोई नुक्स हो तो अभी दिखवाकर उसको ठीक करवा दें। लोग बोले कि नुक्स कोई नहीं है। यह तो बहुत अच्छी हवेली है।

एक पुरुष उठा, मानो ज्ञानी हो, जैनी हो, सद्ग्रस्थ हो बोला महाराज इस हवेलीमें दो गलतियाँ है। तो झट सेठ कहता है कि इन्जीनियरों इनकी बात सुनो, जो यह गल्तियाँ बतावें उनको अभी ठीक करो। तो वह पुरुष बोला कि महाराज इसमें पहिली गल्ती तो यह है कि यह मकान सदा न रहेगा। अरे किसीका मकान सदा रहता है क्या ? अच्छा बतलावो महावीर स्वामीकी हवेलो कहाँ है ? कृष्ण नारायणकी हवेली कहाँ है ? क्या बतला सकते हो ? मकान सदा नहीं रहते। एक गल्ती तो यह कह रहे हैं। इस बात को सुनकर इन्जीनियर दंग रह गये कि यह गल्ती कैसे सुधारें ? चाहे लोहे का खड़ा करदें पर वह भी कभी न कभी गिर कर मिट्टीमें मिल जायगा, लेबिल हो जायगा। दूसरी गल्ती यह बतलाया कि इस मकानका बनवाने वाला मालिक भी सदा न रहेगा। अब लोग बड़े ही दंग रह गये, परेशान हो गये। सेठजी बहुत घबड़ाये कि अब दो गल्तियाँ कैसे दूरकी जायें ? क्यों कि वे दोनों गल्तियाँ दूर हो सकती हैं क्या ? नहीं। सो भाई इन बाहरी वैभवों को सारभूत न समझो। इनमें कुछ भी दम नहीं है।

विषयोंकी प्रीतिकी हेयता :—भैया, जिन विषयोंमें मस्त रहा करते है। उनको सारभूत न समझो। और उन विषयोंमें सबसे विकट व्यसन है तो वह

है मैथुन विषय भोग, ब्रह्मचर्यका घात हो जाना। जिसमें सभी ऐब है। खून, माँस, पीप आदिसे पूरित शरीरमें रुचि करना इसको कितनी बड़ी मूढ़ता कहोगे। जिसमें तन भी बरबाद होता है, वचन बल भी खतम होता है, ऐसा है यह दुर्व्यसन। रसना इन्द्रियके वश स्वादिष्ट चीज ही खाकर अनर्थ कर कल्पनावश मस्त हो जाते। फिर मिलता क्या है? सभी विषयोंकी यही बात है कि इन विषयोंकी प्रीतिसे आत्माका अकल्याण होता है। सो इन विषयोंकी प्रीति छोड़ो। विषयोंकी प्रीति छूटेगी तो कषाय कम होंगे। और जब विषय-कषाय कम होंगे आपको अपने आत्माके शुद्धीकरणका मार्ग मिलेगा।

सो भाई मोक्ष मार्ग समझ गये कि क्या होता है। और उस मोक्ष मार्गमें चले तो कष्ट ही प्राप्त करोगे। सुबह होता है, सूर्यका उदय हुआ। सूर्यके उदयसे तो आपका इतना ही काम बना कि मार्ग दीखने लगा। पर आपके पैर सूर्य तो नहीं चला देगा, चलना तो आपको ही पड़ेगा सूर्यका कार्य इतना समझ लो कि मार्ग दीखने लगा। पर जो चलेगा वही तो अपने निश्चित स्थान पर पहुंचेगा। इसी तरह एक मोक्षका मार्ग दिख गया अपने आप आचार्य महाराजकी बड़ी अनुकम्पा हुई, तत्व समझमें आ गया प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र हैं। किसीके स्वरूपास्तित्वका किसी अन्यके स्वरूपास्तित्वके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है साफ नजर आ गया किन्तु ऐसा जाननेके पश्चात् ऐसा ही बनाओ कि रागद्वेष भी उत्पन्न न हों तो भैया मोक्षमें पहुंच सकते हो। अन्यथा केवल गपाड़ बातोंसे तो काम नहीं बनता। भोजनकी आप चर्चा ही चर्चा करें तो क्या उससे आपका पेट भर जायगा? और भोजनके शास्त्र हों और उनको खूब लिख भी डालो मगर पेट तो खानेसे ही भरेगा। क्यों भैया, बात समझमें आई? बातें करनेसे पेट नहीं भरता। खानेसे पेट भरेगा। इसी प्रकार ज्ञानकी बातें करनेसे मोक्ष नहीं मिलेगा किन्तु ज्ञान को जैसे जाना है उस ही प्रकारका अपना उपयोग बनाओ जिसके प्रसादसे राग द्वेष मोहमें सब कुछ छूट जायेंगे। ऐसा कृत्य करो तो मोक्षका मार्ग प्राप्त होगा। सो मोक्षका मार्ग तो निश्चित कर लिया। अब तो मोक्षके पानेका कृत्य किया जा रहा है। सो अब मोक्षके मार्गका क्या कृत्य है इसका दिग्दर्शन इस द्वितीय स्कंधकी अन्तिम गाथामें किया जा रहा है।

यह प्रवचनसार ग्रन्थ है। इसमें मंगलाचरण करते हुए श्री कुन्दकुन्द देवने यह प्रतीक्षा की थी कि समता को प्राप्त होता हूँ। इस प्रतीक्षाका निर्वाह करते हुए मोक्षके मार्गका और स्वयं सिद्ध आत्माकी प्रवृत्तिका यहाँ वर्णन करते हैं।

तम्हा तध जाणित्ता अप्पाणं जणगं सहावेण ।
परिवज्जामि ममत्तं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥२००॥

मैं स्वभाव से ज्ञायक अपने आत्मा को जान कर ममताका त्याग करता हूँ और निर्ममत्वमें उपस्थित होता हूँ।

अन्य कर्त्तव्यके अभावकी श्रद्धाके कारण शुद्धात्मवृत्ति :—पूज्य अमृतचन्द्र आचार्य इस गाथाकी टीका करते हुए कहते हैं कि यह मैं मोक्षका अधिकारी सर्व आरम्भोंसे अर्थात् सब प्रकारकी शक्ति लगाकर इस शुद्ध आत्मामें प्रवर्तित होता हूँ। शुद्ध आत्माका अर्थ है कि समस्त पर पदार्थोंसे न्यारा केवल अपने स्वरूप मात्र ज्ञानानन्दमय निज आत्मतत्त्व। इस शुद्ध आत्मामें लगता हूँ अर्थात् यथार्थ स्वरूपवान निज आत्माके अवलोकनमें रहता हूँ क्योंकि मुझे करनेका कोई दूसरा काम रहा ही नहीं। जगतमें मेरा करनेका कोई दूसरा काम नहीं है। किसी को नहीं है। आपको भी नहीं है, क्योंकि आप तो हैं ज्ञायक स्वभावी आत्मा ज्ञान और आनन्द रूप निरन्तर बर्तने वाले जीव। और अपने आपको छोड़कर बाकी जितने जीव हैं और अन्य पुद्गलादि हैं वे सब पर तत्त्व हैं। मेरा किसी परमें कोई प्रवेश नहीं, अधिकार नहीं। पर पदार्थ अपनी सत्तासे परिणमते हैं। मैं अपने अस्तित्त्वमें वर्तमान हूँ। जिस समय ज्ञायक स्वभावी आत्मतत्त्वका परिज्ञान होता है तब ममताकी तो हानि हो जाती है और निर्ममताका विधान हो जाता है। जहाँ अत्यन्त पृथक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र मैं सबको देखूँ वहाँ ममता नहीं जग सकती। ममता वहाँ ही जगा करती है जहाँ किसी पर पदार्थ को अपनेसे जुदा न समझा जाय जहाँ यथार्थ परिज्ञान हुआ कि यह विचार रहता है कि मैं परमें क्या करूँ? क्या करना है? कुछ तो किया नहीं जा सकता। करनेका काम तो कुछ रहा नहीं।

ज्ञानी संतकी वृत्ति :—ज्ञानी संत अपने शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूपमें दृष्टि रखा करते हैं। इस ही बात को कुछ स्पष्ट करते हैं कि मैं तो स्वभावसे ज्ञायक हूँ। अपने शरीरकी दृष्टि तो छोड़ो जरा क्योंकि शरीर एक कलंक है। तुम्हारा वैभव नहीं है जिसके सम्बन्धके कारण हम अपनी प्रभुताका विनाश कर रहे हैं, जिस सम्बन्धके कारण भूख प्यास सर्दी, गर्मी मोह इत्यादि नाना प्रकारके दुर्विकल्प किया करते है, यह शरीर मेरा श्रृङ्गार है या कलंक। इस जीवने इस शरीर को अपना श्रृङ्गार समझा कि यह मैं हूँ, बहुत अच्छा हूँ, इस शरीर को आराम दूँ, शरीर को नाना प्रकारके रसीले भोजन दूँ। इस शरीर को देखो कि इसमें अनेक प्रकारकी दुर्वासन

इस शरीर को कलंक समझता है। मेरे साथ यह कलंक लगा है। हम इस शरीरकी दृष्टि न रखें, आप भी इस समय शरीरकी दृष्टिको छोड़ दें और जो विचार कर रहा है सोच रहा है, समझ रहा है ऐसा जो कुछ ज्ञानस्वरूप तत्त्व है उसके समीप अपना ज्ञान ले जाइए।

मेरा विश्वके साथ मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध :— मैं स्वभावसे ज्ञायक स्वरूप हूँ, केवल जानने वाला हूँ। केवल जानने वाले इस मुझ पदार्थका समस्त विश्वके साथ सहज ही ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। पर और कोई स्व स्वामी लक्षणादिक सम्बन्ध नहीं है। मेरा सारे विश्वके साथ इतना ही सम्बन्ध है कि वे पदार्थ जाननेमें आ जायें। मैं जानने लगूँ इतना ही मात्र पर पदार्थों के साथ मेरा सम्बन्ध है। इससे अधिक कुछ सम्बन्ध नहीं। जिसे आप अपना सर्वस्व समझते हो, पुत्र, स्त्री मित्रादिक को, जरा विवेक को उपयोगमें लाकर देखो तो सही, क्या मैं पर आत्माका स्वामी हूँ? किस गतिसे वह आत्मा आया? कुछ दिन रह कर किस गतिमें वह चला जायगा। जितने समय तक ये घरके प्राणी साथ हैं उतने समय तक भी मेरी इच्छाके कारण उनका परिणमन होता नहीं है। वे अपने कषायोंमें मस्त हैं। उनको अपना सुख चाहिए उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मैं उनका स्वामी नहीं। वे मेरे कुछ नहीं। मेरा उन सबसे सम्बन्ध है तो इतना है कि मैं जानने वाला हो गया, वे पदार्थ मेरे जाननेमें आ गये। जैसे रास्ता चलते हुए अनेक वृक्ष भी ज्ञानमें आ गये। उन वृक्षोंका जानने वाला हो गया। केवल इतना ही ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है मेरा इस विश्वके साथ। इससे अधिक मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस कारण मेरा किसी भी पदार्थमें ममत्व नहीं है। सर्वत्र मेरी ममताका अभाव है।

उत्कृष्ट अभ्युदयका हेतु निर्मोहपना :— ज्ञानका चमत्कार सर्व विश्वका ज्ञान अनन्तानन्दका अनुभवन आदि जितने भी प्रभुत्वके चमत्कार हैं वे सब चमत्कार मात्र इस मोहके दूर होनेसे प्रकट होते हैं। यदि लोकका सर्वोत्कृष्ट वैभव चाहो तो सर्व वैभवोंका मोह त्याग दो। मोहके अभावसे सर्वोत्कृष्ट वैभव प्राप्त होता है। मोह करके वैभव प्राप्त नहीं किया जा सकता है ऐसा यह मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ और मेरा समस्त विश्वके साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है।

ज्ञानमें विश्वका उत्कीर्णवत्त प्रतिभास :— अहो इस एक ज्ञायक भाव मात्र आत्माके प्रदेशोंमें यह सारा विश्व चूँकि ज्ञेयस्वभावी है इसलिए मुझमें उकेरा गयाकी तरह आ जाता है। जो कुछ चीजें जाननेमें आ रही हैं वे

चीजें अपनी जगह हैं और हम जानने वाले अपने आत्मामें है। जाननेके समयमें भी मेरा ज्ञान मेरे प्रदेशों को छोड़कर एक प्रदेश मात्र भी बाहर नहीं जाता। और ये सारे ज्ञेय पदार्थ जाननेके समय कोई भी अपने प्रदेश को छोड़कर एक प्रदेश मात्र भी मेरी ओर नहीं आते भींट-भींटकी जगह पर है, हम अपने प्रदेशोंमें हैं। हम भींटके पास नहीं जा रहे है। भींट मेरे पास नहीं आ रहा है फिर भी भींट मुझे ज्ञात हो रहा है। हम अपनी जगह स्थित रहते हुए इन सर्व पदार्थों को जान रहे हैं। तो इन पदार्थों के साथमें मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्वन्ध है। स्वस्वामी सम्वन्ध नहीं है। आपका घर जिसको आप अपनी कल्पनाओंसे अपना घर समझते हैं वह घर ईंट, गारा, पत्थर आदिसे वना हैं, पौद्‌गलिक स्कंध है, जड़ है। आप एक चैतन्य पदार्थ उस घरसे न्यारे शुद्धस्वरूप हैं। आपका घरके साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्वन्ध है।

ईमानदारी मात्र ज्ञाप्टत्व :—भैया आपने जान लिया कि यह घर है। घर आपकी समझनेमें आ गया वश इतनी ही मात्र तो आपकी ईमानदारी है, कर्तव्य है, काम है, पर आगे जो और कुछ कल्पनाएँ उठती हैं, यह मेरा है, यह अच्छा है, यह सव ऊधम है। ईमानदारीका काम तो केवल ज्ञान करना तक है। इसके आगे वढ़ कर यह मेरा है, इस प्रकारकी कल्पनाएँ उठना यह ऊधम है। धर्म नहीं हैं। ऊधम शव्दका अर्थ यद्यपि उत्कृष्ट धर्म है। उत् माने उत्कृष्ट और धर्मके माने हैं धर्म, अर्थात् ऊधमके माने उच्च धर्म। कोई आदमी किसीके विपरीत चल रहा हो तो उसको हम आप ऊँचा धर्म करते हो इस प्रकार मजाक रूपमें कह देते हैं। वह मजाक गाली वन गई। अधर्म शव्दका अर्थ व्रुरा नहीं है। वहुत ऊँचा है। इस लायक काम न था, ऊँची वात वोल दिया तो वह गालीका शव्द वन गया। आत्माका ईमानदारीका काम तो इतना है कि यह सव जाननेमें आ गया। मैं जानने वाला हो गया। अव इसके आगे यह मेरा है, इसका मैं करने वाला हूँ। मैं इसको यों कर दूँगा, यह केवल अपने आपमें अपने आपको सतानेका परिणाम है। इसमें तत्त्व कुछ नहीं निकलता हित कुछ नहीं निकलता।

मैं तो ज्ञायकस्वभाव मात्र आत्मा हूँ। इसमें यह सारा विश्व उकेरे गये की तरह प्रतिभात हो रहा है। यह भींट जो जाननेमें आ रहा है इसका ग्रहण आत्मामें विल्कुल इस ही प्रकार हो रहा है जैसा कि यह सामने भींट है यह भींट मेरे आत्म प्रदेशोंमें नहीं आई फिर भी ऐसा लगता है कि यह भींट मेरे ज्ञानमें समाई हुई हो। किसी चीज को जानों तो वह ऐसा मालूम होता है कि यह मेरे ज्ञानमें समाया हुआ है। तो यह विश्व मुझ आत्मामें

उकेरे गयेकी तरह मालूम हो रहा है। फिर भी इसके साथ मेरा सम्बन्ध रंच भी नहीं है।

विश्वका ज्ञानमें लिखितवत् प्रतिभास :—भैया यह सब हम और आप सब आत्माओंकी एक विशिष्ट कला है कि सर्व ज्ञेय मेरे आत्माके अन्दर समा जाते हैं और इतना ही नहीं वह लिखितकी तरह मेरी आत्मामें आया हुआ है। लिखित किसे बोलते है ? यह कागज पर जो लिखते हैं उसका नाम लिखना नहीं है, उसका नाम लीपना है। यह लिखा नहीं गया। यह लीपा गया है। अर्थात् स्याहीसे कागज को लीप दिया है। उस ढंगके अक्षर बन गये हैं। जैसे जमीन को वोतनीसे लीप दिया और चौकेमें जो तिकोना चौकोना बनाया तो वह उस ढंगका बना लिया। तो हम आप स्याहीसे कागज पर लिखते नहीं है, एक कलात्मक ढंगसे लीपते है। लिखे जाते हैं खेत। खेतोंमें जो हल चलता है और उससे जो लकीर बनती है उसका नाम लिखना है। लिखना गड़ कर होता ह। जैसे ताड़पत्रके शास्त्र हैं उनमें लोहे की कलमसे लिखा जाता है और उनमें गढ़ा रहते है। तो लिखकर जिसमें गड्ढे हो जाते हैं उसको लिखना कहते हैं। और ऊपर-ऊपर स्याहीसे लिखते हैं उसे लीपना कहते हैं। तो ये सब ग्रन्थ लिपिक है, लिखित नहीं है। ये सभी ग्रथ लिपिक या लिपित कहलाते है। लिखी विलेखने एक धातु है, जैसे हलसे जमीनमें लिखते हैं इसी प्रकार लोहेकी कलमसे ताड़पत्रमें लिखते हैं। ऐसे विलेखनका नाम लिखना है। जो लिखनेमें गहराईका असर होता है। लिपेमें गहराईका असर नहीं होता है। जैसे लिपे कागजोंमें खूब तेज पानीसे धो दिया तो मिट जाते हैं पर लिखे हुए बने रहते हैं। यह सारा विश्व मेरे ज्ञानमें लिखित सा हो गया कुछ भीतरमें गड़सा गया है। ऐसा मालूम होता है जितने इस विश्वके पदार्थ है वे हम आपमें गड़से गये हैं। तब तो जानन कहलाते हैं। यह सब इस मुझ ज्ञानस्वभावी आत्माकी विशेषता है।

विश्व ज्ञानमें निखातवत् प्रतिभास :—और लिखित ही हो यह विश्व इतना ही नहीं किन्तु निखात है, जड़ा गया है जैसे दो लोहोंके बीचमें कोई पत्ती या लोहेकी कीली फसा दी जाती है इसी प्रकारसे यह सारा विश्व मेरे आत्मामें फंस गया है याने ज्ञात हो रहता है। देखो जो चीजें दिखनेमें आ रही हैं ऐसा लगता है कि वे चीजें मुझमें जड़ी जा चुकी हैं। यह सारा विश्व लिखित की तरह मुझमें प्रवेश कर गया है। और इतना ही नहीं किन्तु इतनी गहराईकी है कि यह सारा विश्व मुझमें निखात सा हो गया है। जब पदार्थों का ज्ञान होता है तो इस आत्मामें वे पदार्थ निखातकी तरह जड़ जाते हैं।

विश्वका ज्ञानमें कीलितवत् प्रतिभास :—इतना ही नहीं किन्तु यह विश्व ज्ञानके समयमें कीलितवत् जमकर ठस गया है। भैया, देखो ज्ञानकी विचित्रता कि पदार्थ, पदार्थकी जगह पर हैं वे मेरी आत्मामें रंच भी नहीं आते फिर भी ऐसा गढ़ा हुआ यह ज्ञेयाकार है कि जैसे भींटमें कील गाढ़ दी जाय, काठमें कील गाढ़ दी जाय। इसी तरह जाननके समयमे ये पदार्थ मेरी आत्मा में ठाढ़े हुए रहते हैं। ऐसा इस मुझ ज्ञान मात्र आत्माका प्रताप है। यहाँ अमृतचन्द्रसूरि ज्ञानकी पद्धति को बतला रहे हैं कि पदार्थ जब जाननेमें आते हैं तो किस किस रूपसे आत्मामें विश्वाकारका अभ्युदय होता है ?

विश्वका ज्ञानमें मज्जितवत् प्रतिभास :—लिखित स्वरूप ही हों. यह सारा विश्व इतना ही नहीं है किन्तु मज्जित है. डूबा हुआ है। जैसे पानीमे कोई बालक डुबकी लगाये तो जैसे पानीके अन्दर वह बालक डूबा हुआ है इसी तरह मेरे इस ज्ञान समुद्रमें यह सारा विश्व डूबा हुआ है। जिस चीज को हम जानते हैं वह चीज ऐसी मालूम होती है कि मेरे ज्ञानमें डूबी हुई है। और डुबी हुई मैं एक विशेषता और नजर आती है। जैसे किसी समुद्रमें एक बालक डूब गया और दूसरा बालक डुबकी लगाये तो वह समुद्र मना नहीं करता। हमारे अन्दर ऐसे लाखों बालक डूबकी लगा लै, मेरेमें बड़ी गहराई है। समुद्रका यह संदेश है। इसी प्रकार मेरी आत्मामें जितने जो कुछ पदार्थ ज्ञानमें आ गये हैं, मेरेमें डूब गये हैं यदि इससे और अनगिने गुणा पदार्थ मेरे ज्ञानमें डूबना चाहते हों तो डूब जायें। मेरे ज्ञानमें जगह बहुत है। यह ज्ञान मना नहीं करता। ऐसी इस ज्ञानकी कला है। इस ज्ञानमें यह सारा विश्व डूबे हुएकी तरह रहता है।

विश्वका ज्ञानमें समावर्तितकी तरह प्रतिभास :—और इतना ही नहीं किन्तु यह सारा विश्व समावर्तित है। एक तो डूबना ऐसा होता है कि कोई पत्थर डाल दो तो वह डूब गया और एक डूबना ऐसा होता है किकिसी पानी भरे बर्तनमें रंग डाल दो तो वह रंग उस पानीमें एकमें फैलाकर डूब गया। रंग पानीमें डाल दिया वह भी डूबना है और कंकड़ पानीमें डाल दिया वह भी डूबना है। पर कंकड़के डूबनेका ढग और है और रंगके डूबनेका ढंग और है। रग-रगमें व्यापक होकर डूब गया। इसी तरह ये सारे विश्वके प्रत्येक पदार्थ मेरे ज्ञानमें मेरे प्रतिप्रदेशमें डूबे हुए हैं।

विश्वका ज्ञानमें प्रतिबिम्बवत् प्रतिभास :—यह विश्व मात्र समावर्तित हो इतना ही नहीं किन्तु यह विश्वमें ज्ञानस्वरूप प्रतिबिम्ब हो रहा है। जैसे दर्पणमें दर्पणके सामनेके सब पदार्थ प्रतिबिम्बति हो जाते हैं इस ही प्रकार

मेरे आत्मामें ये सारे विश्वके ज्ञेय पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते है। जैसा पदार्थ है तैसा यह ज्ञेयाकार बन जाता है। यह कितनी बड़ी विशेषता है मेरा कैसा विलक्षण स्वरूप है, पर खेदकी बात है कि मोहका रंग इतना गहरा लगा लिया है हमने व इस संसारके लोगोंने कि बाह्य पदार्थ ही इसे सर्वस्व दीख रहे है। ये जगतके जीव अपने आत्मास्वरूपके दर्शन ही नही करते है। यह मोहकी कितनी बड़ी विचित्रता है। ये सारे पदार्थ मुझमें प्रतिबिम्बकी तरह रहते हैं। मैं इनको एक क्षणमें ही प्रतिबिम्बित कर रहा हूँ।

विश्वका प्रमाण :—यह समस्त विश्व कितना है? अनत जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यातकाल द्रव्य इनको वर्तमानमें जितनी पर्यायें है उतने नहीं किन्तु क्रमसे होने वाले अनन्ते भविष्यके पर्याय और वर्तमानमें हो रही पर्याय ऐसी विचित्र नाना पर्यायों को करके सहित पर्यायोंके भार को लादे हुये ये समस्त पदार्थ हैं। इनका स्वभाव अगाध है। इनका मर्म अचिन्त्य है। ऐसे द्रव्योंके समूह को एक क्षणमें यह शुद्ध ज्ञायक प्रत्यक्षीभूत कर रहा है ऐसी आत्मा को मैं निश्चत होकर प्राप्त करता हूँ। यहाँ बाह्य पदार्थों को जान रहे हैं तो उसमें तत्त्व क्या निकलेगा एक अपने इस अचिन्त्य चमत्कार युक्त आत्मा तत्त्व को जानो तो सर्व कुछ सिद्धि प्राप्त होगी। यह सिद्धि बाह्य पदार्थोंसे अपने को पृथक समझनेमें ही प्राप्त होगी।

आत्मा और विश्वमें ज्ञेयज्ञायक सम्बन्धकी अनिवार्यता :—आत्माका इन बाह्य पदार्थों के साथ केवल ज्ञान सम्बन्ध है। और यह सम्बन्ध अनिवार्य है। जैसे दर्पण किसीका प्रतिबिम्ब लिए बिना नहीं रह सकता आप ट्रंकके भीतर दर्पण रख दें तो ट्रंकके भीतरके पल्ले को प्रतिभासित कर लेगा। कपड़ेके अन्दर दर्पण को रख दें तो दर्पण कपड़े को प्रतिभासित करेगा। प्रतिबिम्बित करेगा। ऐसा नहीं है कि दर्पण पदार्थो को प्रतिबिम्बित न करे। दर्पणमें पर पदार्थो का प्रतिबिम्ब आना अनिवार्य है। इसी प्रकार इस आत्मामें विश्वके पदार्थों का ज्ञान होना अनिवार्य है। आप ज्ञानके बिना नहीं रह सकते। कुछ न कुछ आपके ज्ञान आना ही चाहिए। अन्यथा आपका अस्तित्व मिट जायगा। ज्ञेय ज्ञानस्वरूप सम्बन्ध मुझ आत्मामें कैसा अनिवार्य है कि इस आत्मामें यह सब ज्ञेयाकार बन गया है और उनमें यह विभाग नहीं किया जा सकता कि यह मैं आत्मा हूँ और अन्तरके ये ज्ञेयाकार सब पृथक। हैं इस कारण हय आत्मा सर्व विश्वरूप बन गया है। विराटरूप

बन गया है।

विश्वरूप आत्माके एकरूपता :—यह आत्मा सहज अनन्त शक्ति ज्ञायक स्वभावी है इस कारण अपनी एकरूपता नहीं छोड़ रहा है। देखो दर्पणमें अनेकों रंग देखनेमें आते हैं। दर्पणके नानारूप देखनेमें आते है परन्तु दर्पणके नानारूप हैं या उसका अपना एक स्वच्छ रूप है ? दर्पणका तो एक स्वच्छ ही रूप है, उसके नानारूप नहीं है। इसी प्रकार आत्मा को सर्व विश्व ज्ञात गया है तो भी यह मैं आत्मा नानारूप नही हूँ किन्तु एक रूप हूँ। ज्ञायक स्वरूपमात्र हूँ। ऐसा यह मैं आत्मा अन्य पदार्थों को प्रतिबिम्बित कर रहा हूँ फिर भी मैं अनन्त कालसे केवल एक स्वरूप हूँ। मैंने अपनी भूलके ही कारण अपने को नाना विचित्र रूपोंमें माना फिर भी मैं अपने ज्ञानस्वरूप ही रहा, ऐसी आदिकालसे अपनी एकरूपता को न छोड़ता हुआ यह मैं आत्मा बराबर एकरूप चला आ रहा हूँ।

अन्यरूपताके अवगमका कारण मोह :—किन्तु मोहके कारण अन्य प्रकारसे इसने अपने बारेमें निर्णय किया। अन्य-अन्य प्रकारकी बातों को माना फिर भी मैं अन्य प्रकार नहीं बन गया। केवल एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही रहा। जिस मोहके कारण मैंने अपने इस एक ज्ञायकस्वरूप को भूल कर नानारूप माना है। मैं इस मोह को उखाड़ दूँ। मोह एक ऐसी जड़ है कि जिसके कारण यह राग द्वेष, इष्ट, अनिष्टकी बुद्धि फैल रही है। उस जड़ को यदि उखाड़ दिया जाय, उखाड़नेका मतलब उसको लेशमात्र भी न रहने दिया जाय तो मैं अपने इस शुद्ध आत्मा को अब भी प्राप्त करता हूँ। मोह को काटना नहीं है किन्तु उखाड़ना है। काटनेसे क्या लाभ ? काट दिया। कुछ समय को मोह अलग हो गया, पर जड़ तो बनी हुई है। वह जड़ फिर पक जायगी, फिर राग द्वेष उत्पन्न हो जायेंगे इसलिए मोह को काटना नहीं है किन्तु मोह को उखाड़ कर फेंक देना है। यह मैं आत्मा इस मोह भाव को उखाड़कर फेंक देना है। यह मैं आत्मा इस मोह भाव को उखाड़ कर जैसा कि यह सहजस्वरूपमें अनन्त ज्ञानसे अवस्थित हूँ ऐसा ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अमूर्त अपने प्रदेशोंके अन्दरमें ही रहने वाले इस आत्मतत्त्व को अत्यन्त निश्चल होकर प्राप्त करता हूँ।

आत्मोपलब्धिका उपाय :—भैया, इस आत्माका पाना चेष्टा द्वारा नहीं होता इस आत्माकी प्राप्ति इन्द्रिय और मनकी क्रिया कलापोंसे नहीं होती किन्तु चेष्टावों को त्यागनेसे होती है। मन, वचन, कायकी चेष्टावों को दूर करो। बचनोंसे दूसरोंके साथ स्नेहका सम्बन्ध न रखो। शरीर को

यहाँ वहाँ डुलावो, मनसे अनाप सनाप विचार न करो। मन, वचन, काम की चेष्टाएँ करनेसे और अपने आन्तरिक ज्ञान बलके द्वारा इस आत्मस्वरूप का जाननरूप पुरुषार्थ करनेसे इस आत्माकी प्राप्ति होती है।

यह मैं आत्मा अत्यन्त निश्चल होकर जैसा यह आनन्दस्वरूप शुद्ध स्वरूप है ऐसे आत्माकी दृष्टि करूँ बाहरमें बहुत डोलनेसे कोई लाभ नहीं है। जिन-जिन पदार्थोंमें आप अपने उपयोगको फसावोगे उन-उन पदार्थों से आपको धोखा ही मिलेगा। भला बतलावो घर परिवार पुत्र, स्त्री आदिके द्वारा आपको गहरी-गहरी ठोकरें मिली होगी। चिन्ता, यत्न विकल्प कितने हुए होंगे ? उनसे कभी शान्ति मिली। उन सब विकल्पों को त्याग कर अपने आपमें निश्चेष्ट होकर मन, वचन, कायकी चेष्टावों को त्याग कर केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ध्यान कर जो स्वरूप है उस स्वरूप को ही जाननमें ले जायें तो हम जानन स्वरूपकी जानन वृत्ति के कारण अपने शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार मैं निश्चेष्ट निश्चल होता हुआ अपने शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता हूँ।

ज्ञानका प्रताप :—मैं आत्मा तो ज्ञायक हूँ और यह समस्त विश्व ज्ञेय है। मैं तो जानने वाला हूँ और समस्त संसार मेरे जाननेमें आये ऐसा ज्ञेय है। मेरा इस जगतके साथ केवल ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, स्वस्वामी सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् मेरा एक भी परमाणु स्व नहीं है, मेरा नहीं है। मैं मैं-हूँ और ये समस्त पदार्थ स्वयं ये ही हैं। लेकिन ज्ञानका ऐसा प्रताप है कि जगतमें जो कुछ सत् है वह सब इस ज्ञानमें आ जाता है झलक जाता है। ऐसे होते हुए भी मेरा जगतमें कुछ नहीं है। मोहसे ही मैं इस प्रकारका निश्चय कर रहा हूँ। सो अब उस मोह को उखाड़ करके अर्थात् अपने बारेमें जो नाना प्रकारके रूपोंकी कल्पनाकी है मैं मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ। अमुक पोजीशन वाला हूँ, बाल बच्चों वाला हूँ, मैं इतना धनपती हूँ, इन-इन रूपोंसे अपने आत्माकी नाना रूपोंसे कल्पनाएँ की है उन कल्पनाओंके कारण मोह उत्पन्न होता है। सर्वप्रथम तो शरीरमें मोह होता है इससे धन वैभवमें आत्मीयताकी कल्पना होती है। जो शरीर को हम अपना न माने तो बाह्य पदार्थ मान्यतामें भी मेरे कैसे हो सकते हैं। सो इस मोह को उखाड़ करके मैं अपने आपको स्वयं ज्ञानमात्र आनन्दघन देखूँ।

शुद्धात्मदेवको नमस्कार :—ऐसी इस शुद्ध आत्मतत्त्वका, जिसके दर्शनके बिना इस जगतके जीव आनन्द पानेके लिए यहाँ वहाँ भटक रहे हैं, ऐसे शुद्ध ज्ञानस्वरूप निज आत्मस्वरूपका श्रद्धान किए बिना अपने आपमें रीते होते हुए

जगतसे आशा कर रहे हैं। उस शुद्ध आत्मा को मेरा भाव नमस्कार हो। अर्थात् इस शुद्ध आत्माकी महिमा को जान कर इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपके अनुभवके आनन्द को भोगूँ, मैं एक इस स्वरूपमें ही लवलीन होऊँ यही सच्चा नमस्कार है। शरीरका नमस्कार करना यह द्रव्य नमस्कार है। यह छलसे भी हो सकता है, दूसरों को देखनेके लिए भी हो सकता है, और कोई लौकिक कार्यकी सिद्धिके लिए भी हो सकता है किन्तु शुद्ध परमात्मतत्त्वमें सत्य ज्ञान और आनन्दस्वरूपके आश्रयसे होने वाले गद्‌गदतापूर्ण आनन्द भाव को नमस्कार है और यह निश्चल हुआ करता है। ऐसे इस शुद्ध स्वभाव को नमस्कार हो जो अपने आपमें अनादिये अनन्तकाल तक नित्य अंतः प्रकाशमान है और इस निज शुद्ध आत्मतत्त्व को जिन्होंने प्रकट कर लिया है ऐसे अरहंत और सिद्ध परमात्मदेव को मेरा नमस्कार हो और परमात्मा बननेका जो मार्ग है, मोक्ष मार्ग है उस मोक्ष मार्गमें मेरा भाव नमस्कार हो।

भावनमस्कार :—भावनमस्कार कहलाता है एक लीनता। स्वयमेव भवतु यह भावनमस्कार स्वयंमेव हो। नमस्कार स्वयमेव होता है, करनेसे नहीं होता। इसकी खूबियाँ देखो, स्वरूपकी महिमा जानो, उसकी ओरका झुकाव हो, फिर उसमें लीन हो जाना, उसके अनुभवमें ही आनन्द भोगना ये बातें स्वयमेव हुआ करती हैं, यही वास्तविक भाव नमस्कार है। यह किनको किया जा रहा है। पंचपरमेष्ठियों को परमेष्ठित्वके आधारभूत शुद्ध स्वभाव को। परमेष्ठित्व बनते कैसे हैं ? सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्त होनेसे बनते है ? उन्नति, आत्मविकाश, शान्तिकी प्राप्ति ये सब सुगम चीजें हैं। परिश्रम साध्य नहीं है। परिश्रमसे तो क्लेश होता है पर आत्माकी शान्ति आत्मीय आनन्द ये तो सुगमतासे हुआ करते हैं।

सम्यक ज्ञान :—यह सम्यग्ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होगा तो यह सम्यग्दर्शन पूर्वक होगा। वस्तुवोंका यथार्थ ज्ञान हो कि अणु-अणु अपने-अपने अस्तित्त्वसे है। एक यह चौकी है, इस चौकीमें अनन्ते परमाणु है। वे अपने-अपने अस्तित्वसे हैं। इस खूँटकी सत्ता इसमें हैं, दूसरे खूँटकी सत्ता दूसरेमें है। यह खूंट जल जाय तो इस दूसरे खूँटमें कुछ नहीं होता। प्रत्येक अणु अपना अपना स्वरूपस्तित्व लिए हुए हैं। ये दिखने वाले जो सर्व पदार्थ है ये सब मायामयी चीजें है। ये जीव निकाय न केवल जीवकी उपज है और न केवल कर्मों की उपज है। किन्तु जीव और कर्म दोनोंका संयोग होनेसे शरीरकी वर्गणाओंका ग्रहण होनेसे ये मायामय रूप बन गये हैं और इसी कारण समय पर ये सब बिखर जाते हैं। जीव अपने परिणमनसे परिणम जाया करते हैं, सर्व परमाणु अपने परिणमनसे खिर जाया करते है। ये सब मायामयी चीजें हैं

यथार्थ की अदृश्यता :— वास्तविक जो पदार्थ है वे सब अदृश्य हैं। दिखने में जो आती हैं वे सब मायामयी चीजें है। वास्तविक पदार्थ नहीं दीखा करते, जीव द्रव्य, पुद्गल अणु, धर्म, अधर्म, आकाश, कालयें नहीं दिखा करते। न वे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं। ऐसे पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान रखने वाले साधूजन हुआ करते हैं, अव्यावाध ज्ञानमें रत होते हैं। शान्ति और आनन्द पानेका थोड़ासा पद्धतिका ही अन्तर है। जिसने उपयोगसे बाहर कुछ न देख कर अंतरणमें अपना स्वाद लिया उसको शान्त होगी। अपने उपयोग को छोड़कर बाह्य पदार्थों में लगनेसे अशान्ति है। यह बिल्कुल निश्चित है कि बाह्य पदार्थों में लगे तो अशांति ही होती है। इसका कारण है बाह्य पदार्थों में अपना चित्त लगता है, और वे बाह्य पदार्थ अपने अधिकारकी चीज नहीं है सो आप जैसा पर पदार्थों में सोचते हैं वैसा नहीं होता है। इस कारण आकुलताएँ उत्पन्न होती हैं। सोचते हैं पर पदार्थोंके सम्बन्धमें कुछ और होता है कुछ। जैसा चाहें वैसा बाहरी पदार्थों में न हुआ इस कारणसे क्लेश मानते हैं। जहाँ बाह्य पदार्थों में लगा वहाँ इसको क्लेश होते हैं।

सुखपुञ्ज :—साधु परमेष्ठी अपने अव्यावाध सुखमें रत रहते हैं और अरहंत परमात्मदेव साक्षात् अनन्त सुखरूप है। ऐसे परमात्मा व साधुजनों को मेरा भावनमस्कार हो। अर्थात् उनके गुणोंके विकासमें स्वभावमें एकमेव उपयोग वाला हो जाऊँ। इस प्रकार यह जैन ज्ञान अर्थात् जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रणीत वस्तु स्वरूपका सम्यग्ज्ञान समस्त तत्त्व को बताने वाले शब्द ब्रह्मका अवगाहन करके शुद्ध आत्म द्रव्यमें रह कर यों ही ठहर जाय। भैया, यह उपयोग कहीं न कहीं तो रह ही रहा है, अभी सब अपने-अपने दिल को टटोलें, उपयोग को देखें ? सभी अपने उपयोगमें किसी न किसी चीज को रखे हो ना ? परिवार को, व्यापार को अपने उपयोगमें रखे होना ? यदि अपनेमें बाह्य पदार्थ विराजमान हैं तो नियमसे अशान्ति है। यदि मेरा शुद्ध आत्म-तत्त्व अपनेमें विराजमान है तो शांति है।

आत्मतत्त्वकी अनुभवन, अमृतपान :—आत्म तत्त्व समस्त पदार्थों से न्यारा मात्र ज्ञायकस्वरूप है। शरीरकी परिणति अलग है, जीवोंका स्वभाव अलग है। हम अपने को शरीर वाला न माने, हम अपने को रागी द्वेषी न देखें। ये रागद्वेष होते हैं कर्म उपाधिके सम्बन्धसे किन्तु अपने आपमें रागद्वेष स्वयं नहीं हुआ करते। यह मैं तो शुद्ध जानने वाला एक चैतन्य पदार्थ हूँ। इस प्रकार अपने को अनुभव करो और जितनी विषकी पोटलियाँ जितनी पर्याय बुद्धिपना भरी हुई है उनको छोड़कर ऐसा अनुभव करके बैठ जावो कि मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। शरीर को भी भूल कर, यह भी मेरा नहीं है।

मैं केवल ज्ञान प्रकाश हूँ। मैं ज्ञान प्रकाश मात्र ही अपने आपको देखूँ तो स्वयमेव ही एक सहज आनन्द जगता है। उस आनन्दमें सामर्थ्य है कि कर्म क्लेश दूर हो सकते हैं।

कर्मक्षयका साधन सत्य आनन्द :—भैया, संकटोसे कर्म नहीं कटते। कर्म कटते हैं शुद्ध आनन्दके अनुभवसे। न कष्टोंसे कर्म कटते है, न विषयोंसे मौज माननेसे कर्म कटते है और न परिग्रहके संचयसे कर्म कटते हैं। कर्म तो शुद्ध आनन्दके अनुभवसे कटते हैं। शुद्ध आनन्दका अनुभव होता है शुद्ध ज्ञानके ज्ञान करनेसे। यदि अपने को नानारूप अनुभव किया तो सहज आनन्द जग नहीं सकता। व्रत, तप, उपवास आदि भी विधेय होते हैं लेकिन जो यह उपभोग प्रारम्भसे विषयोंमें लग रहा है, खोटे व्यसनोंमें जुट रहा है इसके लिए उसको दंड है एकासन, तपस्या काम क्लेश आदि प्रायश्चित है। दूसरी बात है कि आरामसे जो ज्ञान प्राप्त किया है किसीने और जीव कर्मोके उदयमें कदाचित् क्लेश हो जायें तो वह ज्ञान खतम हो जाया करता है। अतः तप विधेय है। तपमें विकारभाव निर्जीर्ण होता है इससे कष्टोंका अभ्यास करना बताया है। किन्तु मात्र कष्टसे कर्म नहीं कटते हैं। कर्म तो शुद्ध अनुभवसे कटते हैं।

प्रकृत मर्मकी तीन बातें :—देखो भैया अन्त मर्मके परिज्ञानके लिये तीन चीजें बड़े मर्मकी समझना चाहिए। पहिला तो यह सारा संसार दूसरा यह समस्त संसार जो इस ज्ञानमें झलका ऐसा जो ज्ञेयाकार परिणमन, जानन रूप है वह और तीसरा सब कुछ जाननरूप परिणमन हो रहा है फिर भी इसके मूलमें आधार रूप उसका शुद्ध ज्ञान है। एक यह अन्तमर्मकी बात बतलाई जा रही है, कुछ कठिन तो पड़ेगी मगर बिल्कुल उपयोग को निश्चल करके सुनो। बाहरकी यहाँ वहाँकी सब बातों को भुलावो। ५ मिनट तकके लिए अपना उपयोग दो, चीजें कहीं नहीं भगती। एक दृष्टान्त लो। दर्पण है और उस दर्पणके सामने कुछ चीजें रख दिया, पिछी रख दिया तो यहाँ तीन चीजोंका मर्म समझो। एक तो पिछी बाह्य पदार्थ है। ध्यान देकर सुनो। एक तो यह पिछी बाह्य पदार्थ है। दूसरे पिछी को निमित्त पाकर जो दर्पणमें छाया हुई एक वह छाया दो चीजें हुई। छाया होते हुए दर्पणका निजस्वरूप क्या है। क्या छाया है ? नहीं। स्वच्छता। तीन चीजें समझमें आयीं भैया ? एक चीज, एक छाया और एक दर्पणकी निज स्वच्छता। तीन चीजें स्पष्ट समझमें हैं ना ? इसी प्रकार यहाँ भी तीन चीजें समझो। एक यह विश्व, दूसरा सारे विश्वका जाननरूप परिणमन, जिसे कहते हैं ज्ञेयाकार। जैसा यहाँ विश्व है वैसा आकार झलकता है। तो यह झलकनका आकार

जो यह सारा विश्व ज्ञेयाकार-रूपसे झलकता है। तीसरी वात यद्यपि यह ज्ञेयाकार है फिर भी इसके अन्दर ज्ञानकी स्वच्छता है। तीन चीजें फिरसे ध्यानमें लावो। यह सारा विश्व और इस सारे विश्वका जाननरूप आत्मा का (ज्ञानका) परिणमन और इसके अन्तरमें इसका आधारभूत ज्ञानकी स्वच्छता, ये तीन चीजें हैं।

समाधिक स्थान प्रथम पद :—जिनको समाधि लेना है, समता परिणाम करना है, सहज आनन्दका अनुभव करना है उनकी क्या परिणति बनती है? कि यह सारा विश्व तो ज्ञेय कर लिया जाता है, अर्थात् हे प्रभो, हे आत्मन्, हे निजनाथ, हम किसी बाह्य पदार्थके नहीं जानते, हम केवल आपकी झलक को जानते हैं। जैसे द्रव्य सामने रख लिया और पीछे चार लड़के खड़े हैं? तो लड़के हाथ, पैर, नाक, मुँह, जीभ, आदि डुलाते हैं, आप केवल दर्पण को देख कर यह बतला देते हैं कि अमुकने जीभ डुलाया, अमुकने हाथ डुलाया अमुकने पैर डुलाया। सब दर्पणमें देख रहे हैं तो केवल दर्पण को ही देख कर चार लड़कों की हरकतका वर्णन कर जाते हैं। इसी प्रकार हम अपने आत्मभूमिमें होने वाली झलक को जानते हैं तो उस झलक को जानते हुए सर्व पदार्थोंका वर्णन कर जाते हैं। यह भींट है, यह किवाड़ है, यह चौकी है पर डाइरेक्ट उस चीज को हम नहीं जानते हैं। पर सीधा जो अवस पड़ा, ज्ञेयाकार हुआ उसको ही आप जानते हो, यह वास्तविक बात है। जब यह ज्ञानी जीव इस सारे विश्व को ज्ञेय रूप कर लेता है। उपयोग जो बाहर घूम रहा था और यह अहंकार किया था कि मैं इसको जानता हूँ, उसको जानता हूँ, यह अहंकार खतम कर दिया जाता है। मैं किसी को भी नहीं जानता हूँ किन्तु यह सारे विश्वका जो ज्ञेय परिणमन होता है केवल उसको जानता हूँ बाहरमें किसी भी पदार्थ को मैं नहीं जानता हूँ। इस तरह से समस्त विश्वका मोह हटावो, राग हटावो, केवल एक अपने ज्ञेयाकार तकमें उपयोग रहे।

समधिके स्थानका द्वितीय पद :—उसके बाद दूसरा कदम बढ़ाना है कि जैसे दर्पणमें छाया रूप परिणमन होकर भी दर्पणके भीतर स्वच्छताका निरन्तर परिणामन चलता ही रहता है। छायारूप दर्पणमें प्रतिविम्ब है फिर भी स्वच्छताके रूपमें स्वच्छता ही चल रही है दर्पणकी स्वच्छरूप परिणमन न रहे तो छाया मिट जायगी। जैसे कि आपके मुखका प्रतिविम्ब इस भींटमें नहीं पड़ रहा है क्योंकि भींटमें इस प्रकारकी स्वच्छता नहीं है। जैसे कि दर्पणमें है। अच्छा और कदाचित दर्पण को आप देख रहे हैं और सर्व दर्पण मुख रूप प्रतिविम्ब हो गया है ऐसी हालतमें यदि वह दर्पण अपने

भीतर रहने वाली स्वच्छता को छोड़ दे तो वह आपका प्रतिबिम्ब गायब हो जायगा। जैसे भीट पर आपका प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता है इसी प्रकार यह हमारा परिणमन आत्मामें ज्ञेयरूप हो रहा है फिर भी हमारे अन्दर ज्ञान रूप यह आत्मा निरन्तर परिणम रहा है। जब ज्ञानी जैसे कि पहिले विश्व को छोड़ कर अपनी झलकमें आया था, अब वह ज्ञानी अपनी झलक को छोड़ कर शुद्ध ज्ञानमें आ जाता है। इसी प्रकार इस ज्ञानीने विश्व को ज्ञेय रूप किया फिर ज्ञेयका ज्ञान रूप किया।

समाधिके स्थानका तृतीय पद :— यह ज्ञान आत्मासे अलग चीज तो है नहीं इसलिए ज्ञान को आत्मारूप बना लो। भैया, अपने आप ज्ञानात्मक आत्मा में ज्ञानात्मक परमात्व तत्त्वका निरन्तर अवलोकन करना है। शांतिके लिए करना क्या है जितना यहाँसे हटकर विचल गये उतना ही अब बाहरसे लौट कर अपने आपमें आना है। शांतिका एक यही उपाय है। जो इस उपयोगकी किरणें भूल कर बाहरमें घूम गई हैं, पसर गई है उन सब ज्ञान किरणों को समेट कर संकुचित कर एक अपने आत्म केन्द्रमें लगाना है जैसे आघसीका कांच सुना है जिससे आग लग जाती है। सूर्य की किरणें उस कांच पर गिरनेसे नीचे रूई रखी हो तो रूईमें आग लग जाती है। एक ऐसा गोल काँच होता है। तो वहाँ हुआ क्या, कि सूर्यकी किरणें जो बिखरी हुई है उनको सकुचित किया, केन्द्र रूपमें किया। केन्द्र रूपमें होनेके कारण जो वह एक चने बराबर प्रकाश नीचे रह जाता है, उसमें इतनी शक्ति हो जाती है कि रूई को जला देता है, भष्म कर देता है। इसी तरह इस ज्ञानकी किरणें (वृत्तियाँ) जो चारों ओर फैली हुई है, ज्ञान बलसे उन किरणों को संकोच कर एक आत्मामें ही केन्द्रित किया जाय तो केवल उस शुद्ध आत्म ज्ञानके प्रकाशमें ऐसा बल है कि वह भव-भवके संचित कर्मोंका क्षय कर देने में समर्थ है।

दुर्लभ जन्ममें अलब्धलाभ लेनेकी प्रेरणा :— यह दुर्लभ जन्म पाया इसमें हमारा मूख्य काम है कि कर्मोंका क्षय करें इसका उपाय है भावकर्मका क्षय। भव-भवके संचित कर्म न जाने कब किस रूपसे उदय होता है उस समय दुःखका अनुभव करना पड़ता है। कितने भवोंके कर्म हम आपके पास बँधे है ? क्या हजार वर्षों के ? क्या लाख वर्षोंके ? क्या करोड़ वर्षों के। अरे अनगिनते वर्षों पहिलेके बाँधे हुए कर्म हमारे आपके साथ बँधे हुए है,। उन कर्मोंका क्षय करना अपना काम है। यहाँकी मामूली बातें धन कमाना, उसका संचय करना ये सब तुच्छ चीजें हैं। यह करनेका काम नहीं है। करनेका तो काम है कर्मोंका क्षय करना। हम भगवानके दर्शन करने क्यों

आते हैं। असंसार भावके दर्शनके लिये। इस सुदर्शनसे सर्व समृद्धि मिलती है और सर्व सकट टलते है यों कि जो ज्ञानकी किरण सर्वत्र फैली है उनको केवल अपनी आत्मभूमिमें संकुचित कर दें। यदि ऐसा बस होता है तो सर्व विश्व जाननेमें आता है। जहाँ हम उन पदार्थोंके जाननेमें लगते हैं वहाँ हमारी जानकारी और खतम होती चली जाती है। जहाँ हम बाह्य पदार्थों के विकल्पका त्याग करते हैं, वस हम शुद्ध आनन्द स्वभावके जाननेमें लग जाते हैं। इस शुद्ध आनन्द स्वभावके जाननेसे हमारा स्वभाव विकास इतना बढ़ता है कि सर्व लोक और तीन कालके समस्त पर्याय एक साथ ज्ञात हो जाया करते हैं। जिसको ज्ञान हो जाता है उसे कहते हैं परमात्मा अरहंत देव, सिद्ध।

यथार्थ ज्ञानकी स्थिरताके चरित्रपना :—भैया, जैसा पदार्थका स्वरूप है वैसा ज्ञान करना और यों ही ज्ञान ठहराये रहना यही हुआ चरित्र। ज्ञानके अनुसार चरित्र होता है, चरित्रके अनुसार ज्ञान होता है, द्रव्य ज्ञानके अनुसार ज्ञान होता है, द्रव्य ज्ञानके अनुसार चारित्र होता है और चारित्रके अनुसार द्रव्य ज्ञान होता है। ये दोनों आपेक्षित चीजें हैं। देखो ये भिन्न है, अमुक भिन्न है। ये घरमें उत्पन्न हुए जीव अत्यन्त निराले हैं। कितना निराले हैं? जितना अन्य देशोंमें पैदा हुए लोग है उतना ही भिन्न ये लोग है। वे स्वयं अत्यन्त जुदे है ऐसा जिस समयमें ज्ञान हो रहा उस समय मोह नहीं है। मोह न करना यही चारित्र है। तो ज्ञानके अनुसार देखो यह चारित्र बन गया। कोई किसीका ज्ञान तो कर रहा है पर भीतरमें राग और मोहकी श्रद्धा बनाए हुए है तो वह ज्ञान नहीं है। चारण और ज्ञान इन दोनों का अविनाभाव होता है। सो हे मुमुक्षु जनों चाहे ज्ञानका आश्रय लेकर चाहे चारित्रका आश्रय लेकर कैसे भी चलो एक समताकी गली को छोड़ कर इस मोक्ष मार्ग को प्राप्त करो।

ज्ञान और आनन्द स्वयंका सहजस्वरूप :—ज्ञान और आनन्द हमारा और आपका स्वरूप है। हमें यह आनन्द कहीं बाहरसे नहीं मिलता है किन्तु अपने आपका आश्रय करनेसे आनन्द प्रकट होता है। जैसे पत्थरकी मूर्ति किसी बाहरी चीजसे नहीं बनाई जाती है किन्तु वह पत्थरमें ही मौजूद है। केवल मूर्ति को ढकने वाले जो पत्थर हैं उनको छैनीसे काटनेकी आवश्यकता रहती है। जहाँ वे ऊपरी खण्ड बाहर हट गये कि मूर्ति प्रकट होती है। इसी प्रकार ज्ञान और आनन्दका निधान ये हम आप प्रभु परमात्म देव अनादिसे अन्तः अपने आपमें विराजमान है किन्तु ऊपरसे रागद्वेष मोहके पत्थर जड़े हुए हैं उनको ज्ञानकी छेनीसे काट कर बाहर कर दिया जाय तो यह परमा-

त्वदेव अपने आप प्रकट हो जायगा। यह कहीं बाहरसे नहीं बनाया जाता है ऐसा यह परमात्मतत्त्व इसके दर्शनके बिना संसारके सभी प्राणी दुःखी हैं। केवल एक दिखने भरकी आवश्यकता है।

ज्ञान पद्धति पर शान्ति व अशान्तिकी निर्भरता :— जैसे जलमें डूबे हुए कमल के पत्तों को देख कर हम दो ढंगसे जान सकते हैं। (१) इस प्रकारसे कि यह पत्ता जलसे मिला हुआ है एक इस ढंगसे। (२) इस ढंगसे हम जान सकते हैं कि कमलका जो पत्ता है वह एक उसका निज स्वरूप है। उस पत्ते में जलकी बूँद भी नहीं है। पत्तेमें केवल पत्ता पड़ा हुआ है। पत्ता है जलके बीच पर पत्तेमें एक भी जलकी बूँद नही है। वह पत्ता तो अपनी वनस्पति कायसे निर्मित है। पत्तेमें जल नहीं है। इस प्रकारसे भी देख सकते हैं ना ? जैसे एक दो पुरुष हमको दबोचे हुए हैं, हम अपने आपको उस समय यह भी निरख सकते हैं कि हमको तो इन दोनोंने दबोच दिया है। और अपने को इस तरह भी देख सकते हैं केवल अपने आपके अस्तित्व को देख कर कि यह मैं केवल अपने आपमें हूँ। उस दबोचेकी दृष्टि को छोड़ दूँ। रजाईके भीतर यदि जाड़ेमें पड़े हुए हैं तो ऐसा भी अनुभव कर सकते हैं कि मैं रजाईके बीच पड़ा हुआ हूँ और यह भी निरख सकते हैं कि यह रजाई गद्दा अन्य चीज है। मैं अन्य चीज हूँ, रजाई गद्दा नहीं हूँ मैं मुझमें ही हूँ। इसी प्रकार हाथ, पैर शरीर जो हैं वह मैं नहीं हूँ। यह जीव नाना प्रकारके बाह्य पदार्थों के बीचमें पड़ा हुआ है। फिर भी इसे सर्व पदार्थोंके बीच पड़ा हुआ भी आप निरख सकते हैं और सबसे न्यारा केवल अपने आपके स्वरूपमें रत भी निरख सकते हैं।

कर्मक्षयकी हेतुभूत दृष्टि :— कर्मों का क्षय होता है कैसा निरखनेसे ? मैं शरीरमें फँसा हूँ ऐसा देखनेसे कर्मों का क्षय नहीं हो सकता है। किन्तु मैं सबसे निराला केवल अपने आपके स्वरूपमें वसा हुआ हूँ, केवल ज्ञान स्वरूप हूँ, आनन्द स्वरूप हूँ। ऐसा निरखनेसे कर्मों का क्षय होता है। कला आपमें दोनों हैं। जिस कलाका उपयोग करना हो कर सकते हो। व्यवहार कलामें अगर उपयोग है तो व्यवहारमें घूमते रहना वदा है और निश्चय कलाका उपयोग करो केवल अपने स्वरूपमात्र अपने आपको निरखनेकी कला करो तो कर्मों का क्षय कर सकते हो।

दृष्टिके अनुसार लाभ :— देखो केवल दृष्टिसे ही दोनों चीजें मिलती हैं। संसार और मोक्ष। जैसे किसी पुरुषके आगे एक ओर खलीका ढेर लगा दें और दूसरी ओर एक मणि रख दें और उससे कहें कि देखो तेरे माँगनेसे सब मिल जायगा। यदि तुम चाहते हो खली तो वह मिल जायगी यदि

चाहते हो मणि तो वह भी और यदि वह एक खलीका टुकड़ा माँगें तो उसे विवेकी नहीं कहा जा सकता है। अरे मणि माँगनेसे मणि भी मिल सकती थी मगर मणि को छोड़ केवल खलीका एक टुकड़ा माँगो तो क्या मिला। इसी तरह यह ससारमें रुलना, चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना यह केवल दृष्टिसे मिल रहा है। और शांति, आत्माका आनन्द, कर्मोंका कटना, मोक्षका मिलना, सदाके लिए संकटोंसे मुक्ति होना यह वैभव दृष्टिसे ही मिलती हैं। यह आत्मा अपने अन्दरमें पड़ा हुआ केवल दृष्टि करके अपनी सर्व शृष्टि को बना रहा है। जब इसकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंमें लगी तब संसार मिल गया और जब इसकी शृष्टि अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें लगी तब मोक्ष मार्ग मिल गया। तो आचार्य जन कहते हैं कि हे भव्य जीव तेरी ही दृष्टिसे तो संसार मिलता है और तेरी ही दृष्टिसे मोक्ष मार्ग मिलता है। एक ओर पड़ा हुआ है यह संसारका पूरा जमघट और एक ओर विराजमान है शुद्ध ज्ञान और आनन्दका निधान परमात्मदेव। चाहे दृष्टिसे धन वैभव आदि जमघट पालो, चाहे दृष्टिमात्रसे मोक्ष स्वरूप को पालो। फिर भी यह जीव अपनेमें शिव स्वरूपकी माँग न करके परिवार, धन, दौलत, बच्चों इत्यादिकी माँग करता है। भैया उस दृष्टान्तके अनुसार विचारो कि क्या आप उसे विवेक कहेंगे।

सर्वोत्कृष्ट वैभव आत्मसाधना :—आत्माकी साधना बहुत बड़ी साधना है यहाँ जिस चीज को आप निरखते हैं वह रंच भी बड़ी नहीं है। आप जितना अपने ज्ञानस्वरूप को भूल कर आगे बढ़ गये हैं उतना ही लौट कर उसी जगह आना होगा। इसका उपाय है ज्ञानार्जन। ज्ञानार्जनका फल है अपना सही उपयोग होना। सो अपने ज्ञानस्वरूपका उपयोग करके सहज आनन्दके अनुभव द्वारा संकटोंसे मुक्त होओ। यहाँ ज्ञेयाधिकार पूर्ण हो रहा है। ज्ञेय तत्त्व को यथार्थ जाननेका फल रत्नत्रयकी अर्थात् आत्माकी साधना है। समस्त विश्व को ज्ञेय करके ज्ञेयाकारको ज्ञानरूप करके और मात्र उस ज्ञान स्वभाव को आत्म रूप करते हुए नित्य निराकुल होओ यही पुरुषार्थ सत्य पुरुषार्थ है।

	रु०न०पै०
,, ,, ,, एकादश भाग	१-२५
देवपूजा प्रवचन	२-५०
श्रावक षट् कर्मप्रवचन	१-२५
समयसार प्रवचन प्रथम पुस्तक	२-५०
,, ,, द्वितीय पुस्तक	२-००
,, ,, तृतीय पुस्तक	१-७५
,, ,, चतुर्थ पुस्तक	१-७५
,, ,, पञ्चम पुस्तक	१-७५
,, ,, षष्ठ पुस्तक	१-७५
परमात्म प्रकाश प्रवचन प्रथम भाग	१-५०
,, ,, ,, द्वितीय भाग	१-५०
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-५०
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	१-५०
सहजानन्द गीता प्रवचन प्रथम भाग	२-००
,, ,, ,, द्वितीय भाग	२-००
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-७५
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	१-५०
तत्वार्थ प्रथम सूत्र प्रवचन	०-७५
भक्तामरस्त्रोत प्रवचन	०-४४

विज्ञान सेट :—

धर्म बोध पूर्वार्द्ध	०-२५
धर्मबोध उत्तरार्द्ध	०-५०
जीव स्थान चर्चा	१-७५
लघु जीवस्थान चर्चा	०-८८
गुणस्थान दर्पण	०-८८
राजस्थान सूत्र प्रथम स्कन्ध	२-००
।।न सूत्र द्वितीय स्कन्ध	१-५०

	रु०न०पै०
समस्थान सूत्र तृतीय स्कन्ध	१-७५
,, ,, चतुर्थ स्कन्ध	१-७५
,, ,, पञ्चम स्कन्ध	१-५०
,, ,, षष्ठ स्कन्ध	१-७५
,, ,, सप्तम स्कन्ध	१-७५
द्रव्यदृष्टिप्रकाश	०-२५
सिद्धान्त शब्दार्थसूची	०-३१
जीव संदर्शन	०-१९

ट्रैक्ट सेट :—

आत्म कीर्तन	०-०६
वास्तविकता	०-०६
अपनी बात	०-०६
सामायिक पाठ	०-०६
अध्यात्म सूत्र सार्थ	०-१९
एकीभाव स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि	०-२५
कल्याण मंदिर स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि	०-२५
विषपहार स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि	०-२५
स्वानुभव	०-१२
धर्म	०-१२
मेरा धर्म	०-०३
ब्रह्म विद्या	०-१९
आत्म उपासना	०-२५
समयसार महिमा	०-२५
सूत्र गीता पाठ	०-२५
अध्यात्म रत्नात्रयी गुटका	०-२५

पुस्तकें मँगाने का पता—

मंत्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ०प्र०)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

की

प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य